मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९३ प्रथम संस्करण ३२५०
मूल्य ||=) दश आना

पता-
गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

विषय-सूची

चित्र-सूची

वक्तव्य

श्रीरामचरितमानस भक्तिशास्त्रका एक बड़ा ग्रन्थ है; मनोहर पद्यमयी रचना होनेसे वह अतीव श्रुतिमधुर और चित्ताकर्षक हो गया है। साबरमन्त्रजालके रचयिता भगवान् भूतभावनकी अनुकम्पासे उसकी एक-एक चौपाईमें मन्त्रकी शक्ति भर गयी है। इसका लोकोत्तर प्रचार ही उसके लोकोत्तर गुणोंका परिचायक है।

श्रोताके हृदयङ्गम करानेके लिये निरूपणीय विषयको विस्तार और संक्षेप, दोनों भाँतिसे निरूपण करनेकी परिपाटी है, यथा—

कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा। ब्यास समास स्वमति अनुरूपा॥

जिस चरित्रको विस्तारके साथ सात काण्डोंमें वर्णन किया, वही चरित्र संक्षेपमें भुशुण्डिजीके मुखसे पाँच दोहोंमें कहला दिया गया, जिस भक्तिशास्त्रके साङ्गोपाङ्ग निरूपणमें ४५०२ चौपाइयाँ लिखनी पड़ीं, उसी भक्तिशास्त्रका भुशुण्डिजीके मुखसे १०५ चौपाइयोंमें निरूपण कराया गया, यथा—

सतपंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरैं।
दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्रीरघुबर हरैं॥

इस 'शतपञ्च चौपाई' ग्रन्थमें स्पष्ट करनेके लिये श्रीपूज्यपाद गोस्वामीजीने भक्तिका ज्ञानके साथ तुलनात्मक विचार किया है, या

यों कहिये कि रामचरितमानसमें वर्णित समस्त विषयोंका सारतम अंश अन्तकी १०५ चौपाइयोंमें कह दिया है। श्रीरामचरितमानसमें चौपाइयाँ ही पुरइन हैं, और छन्द, सोरठा और दोहा तो उन पुरइनोंके कमल हैं; यथा—

पुरइन सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सोहाई॥
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सो बहु भाँति कमल कुल सोहा॥

अतः कहना नहीं होगा कि पुरइनके साथ कमलोंका भी ग्रहण हो जायगा, चौपाइयोंके साथ तत्सम्बन्धी छन्द, सोरठा और दोहोंको ग्रहण करना न्यायसंगत है।

सनातन प्रथा है कि अध्यायके अन्तका आधा श्लोक भी पूरा ही मानकर परिगणित होता है, इसी भाँति चौपाइयोंकी गणनामें भी जहाँ आधी ही चौपाई पड़ गयी है, वहाँ उसे पूरी ही गिननी चाहिये। जिस दोहेमें सात अर्धालियाँ हैं, उन्हें चार चौपाइयाँ गिनना समुचित है। इस प्रकार गणना करनेसे पता चलता है कि श्रीरामचरितमानस उत्तरकाण्डके ११४ दोहासे 'शतपञ्च चौपाई' ग्रन्थका प्रारम्भ हुआ है, और सोलह दोहोंमें पूर्ण हुआ है। यही रामचरितमानसयज्ञकी पूर्णाहुति है। इसकी फलश्रुति पूर्ण ग्रन्थकी फलश्रुतिके साथ ही कही गयी है। यथा—

रघुबंस भूषन चरित जे नर नारि सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥
सतपंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरैं।
दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्रीरघुबर हरैं॥

कुछ महात्माओंका मत है कि 'शतपञ्च चौपाई' का अर्थ 'अच्छे पञ्च' हैं। सो सभी चौपाइयाँ पञ्च हैं, उनमें शास्त्रार्थका निर्णय है। निःसन्देह चौपाइयाँ पञ्च कही जा सकती हैं, पर सभी चौपाइयाँ पञ्चरूपसे परिगृहीत नहीं हो सकतीं। कोई-कोई 'अङ्कानां वामतो गतिः' इस न्यायसे शतपञ्चका ५१०० अर्थ करते हैं, और किसी-न-किसी तरह-

से गिनती भी मिला देते हैं। कोई ७×५=३५ अर्थ करते हैं और प्रत्येक अर्धालीको चौपाई मानकर उत्तरकाण्डके ६३वें दोहेसे ६८वें दोहेतक शतपञ्च चौपाई ग्रन्थ मानते हैं। किसीनें ध्याननिरूपक चौपाइयोंको खींच-खाँचकर १०५की संख्या पूरी की। किसीका यह मत है कि ध्यान या तो पाँच चौपाईमें कहा गया है या सातमें या बारहमें, अतः पाँच सात चौपाई अर्थ करना ठीक है। पर शतपञ्च चौपाइयाँ दूसरे स्थानमें और फलश्रुति दूसरे स्थानमें होना अनुचित है।

सम्पूर्ण ग्रन्थमें शत शब्द सदा सौके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यथा—

नहिं निस्तार कल्प सत कोरी। साग खाइ सत बर्ष गँवाए।

और दो संख्याएँ सदा योगके अर्थमें ही प्रयुक्त हुई हैं, यथा—

बीते कल्प सात अरु बीसा। बरष चारि दस बास बन।

भुवन चारि दस भूधर भारी। बीते मनहु कल्प सत एका।

सो यहाँ १०५का अर्थ करना ही युक्तिसंगत है, उन्हें ढूँढ़नेके लिये दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है, फलश्रुतिने उन्हें अपने साथ बाँध रक्खा है।

शतपञ्च चौपाई ग्रन्थमें पाँच प्रकरण हैं—(१) रामरहस्य, (२) ज्ञानदीपक, (३) भक्तिचिन्तामणि, (४) सप्त प्रश्न और (५) परिशिष्ट। इनमेंसे ज्ञानदीपककी टीका लिखे कई वर्ष हुए, वह 'कल्याण'के रामायणाङ्कसे लेकर दो-तीन अङ्कोंमें प्रकाशित हुई। वह टीका लोगोंको पसंद आयी, और पीयूषकारने भी उसे स्थान देकर सम्मानित किया। इससे उत्साहित होकर मेरा विचार 'भक्तिमणि' प्रसंगपर भी उसी ढंगकी टीका लिखनेका हुआ, पर उसका समय नहीं आया था, इसलिये चाहनेपर भी न लिख सका, और इस सालके माघमें रुग्ण होनेपर भी अन्तर्यामीकी प्रेरणासे लिख पाया।

पीछेसे यह विचार मनमें आया कि शेष तीन प्रसङ्ग लिखकर शतपञ्च चौपाई ग्रन्थ ही क्यों न पूरा कर दिया जाय, और मेरे मित्र

श्रीमान् हनुमानप्रसाद पोद्दारजीने अपनी सहज उदारतासे प्रेरित होकर उसके प्रकाशनका भार अपने ऊपर लिया, सो इस नवरात्रमें शेष तीन प्रकरण भी पूरे हुए।

श्रीग्रन्थकारने लिखा है कि अर्थ पराग है, भाव मकरन्द है, और भाषा उनके काव्यकमलका गन्ध है, यथा—

अरथ अनूप सुभाव सुभाषा। सोइ पराग मकरंद सुबासा॥

सो तीनोंके ग्राहक अलग-अलग मिलते हैं, अतः सर्वोपरि गोस्वामीजीकी भाषा ही रक्खी गयी है, उसके नीचे शब्दार्थ और उसके बाद भाव कथित है। भावोंको देखकर एक मित्रने कहा कि क्या ग्रन्थ-निर्माणके समय ग्रन्थकारने इन भावोंको सोचा होगा? मैंने निवेदन किया कि शब्दविन्यासके ढंगसे तो ऐसा ही मालूम होता है, और यदि न भी सोचा हो, तो जब उससे भाव निकल रहे हैं, तो हम क्यों न लाभ उठावें? मालीके आशातीत मकरन्द यदि पुष्पसे प्रकट हों तो मधुकर उससे लाभ उठानेमें आगा-पीछा क्यों करें?

कुछ लोग अद्वैतमतके भावोंको देखकर घबराते हैं, परन्तु इसमें घबरानेकी कोई बात नहीं है। सभी पण्डितोंपर विदित है कि वेदमें अद्वैतवादिनी श्रुतियाँ भी हैं, द्वैतवादिनी श्रुतियाँ भी हैं, निर्गुण-निरूपक श्रुतियाँ भी हैं, सगुणनिरूपक श्रुतियाँ भी हैं। अद्वैतवादी द्वैतवादिनी श्रुतियोंको अद्वैतमें लगाते हैं, और द्वैतवादी अद्वैतवादिनी श्रुतियोंको द्वैतमें लगाते हैं, और जहाँ वे लगानेमें असमर्थ होते हैं उनका पक्ष गिर जाता है, पर यह बात सभी जानते हैं कि अमुक-अमुक श्रुतियाँ अद्वैतवादिनी हैं, और अमुक-अमुक द्वैतवादिनी हैं। पण्डितके हार जानेसे न तो अद्वैतवाद अप्रमाण होगा, न द्वैतवाद अप्रमाण होगा। मातृवत् हितैषिणी श्रुतिभगवतीने अधिकारभेदसे दोनोंको कहा है, जिसे जो पसंद हो उसका वह अधिकारी है। श्रीरामायण ब्रह्मयश वेदका

अवतार है, इसमें भी दोनों मतोंका प्रतिपादन करनेवाली चौपाइयाँ हैं और जिस अधिकारीके लिये जो चाहिये उसे स्पष्ट करके दिखलाया है।

एक ही बातको सब किसीका एक दृष्टिसे देखना असम्भव ही नहीं, अनुचित भी है। भगवान् याज्ञवल्क्यने कहा कि—

सिवसम को रघुपति ब्रतधारी। बिनु अघ तजी सती अस नारी॥

और पार्वतीजीने कहा कि—

मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पति बचन मृषा करि जाना॥
सो फल मोहि बिधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा सो कीन्हा॥

याज्ञवल्क्यजी सतीको निष्पाप मानते हैं, और सतीजी स्वयं अपनेको अपराधिनी मानती हैं। यही न्याय है, यही उचित है कि सती अपनेको अपराधिनी मानें, और याज्ञवल्क्यजी उन्हें निष्पाप मानें। अतः साम्प्रदायिक झगड़ेको बीचमें खड़ा करके किसी अंशको पूर्व और किसीको उत्तरपक्ष माननेसे जो रसभङ्ग होता है, उससे ग्रन्थकी रक्षा करनी उचित है। ऐसा अर्थ होना चाहिये जिसमें ग्रन्थका स्वारस्य बना रहे।

पं० रघुवीर त्रिपाठिसूनुः
विजयानन्दत्रिपाठी
भदैनी—काशी

प्रसङ्ग-परिचय

मेरुशिखरपर वटकी छायामें महर्षि लोमश बैठे हुए हैं। एक विरक्त ब्राह्मण कहींसे आकर उनके शरण हुआ। महर्षिने देखा कि यह ब्राह्मण परम अधिकारी है, अतः इसे परम शिक्षा देनी चाहिये। अतः वह उसे ब्रह्मज्ञानका उपदेश देने लगे। ब्रह्मज्ञानमें महावाक्यका उपदेश देना पड़ता है। उसका अनुवाद गोस्वामीजीने 'सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा' कहकर किया है। 'सो' का अर्थ ईश्वर और 'तैं' का अर्थ जीव है और 'तोहि ताहि नहिं भेदा' का अर्थ अभेद है। इस प्रकारका अभेद उपदेश करनेमें ईश्वर और जीवके विरुद्धांशका परित्याग करना पड़ता है। ईश्वर-मेंसे सर्वज्ञत्वादि गुण, और जीवमेंसे अल्पज्ञत्वादि गुण पृथक् कर दिया जाता है। इसीको सो (तत्पद) और तैं (त्वंपद) का शोधन* कहा जाता है। ऐसे शोधनमें गुणोंका बाध हो जानेसे 'निर्गुण ब्रह्म और कूटस्थ†',

---

* तत्पदका वाच्यार्थ है 'वह' अर्थात् ईश्वर और त्वंपदका वाच्यार्थ है 'तुम' अर्थात् जीव। ईश्वर सर्वज्ञादि गुणोंसे युक्त है, और जीव अल्पज्ञादि गुण-वाला है। दोनोंको एक करनेके लिये दोनोंमेंसे सर्वज्ञ, अल्पज्ञादि गुणोंको निकाल देते हैं, इसी निकाल देनेको तत्पद और त्वंपदका शोधन कहते हैं। ऐसा करनेसे ईश्वरसे निर्गुण ब्रह्म हो जाता है, और जीव कूटस्थ हो जाता है सो तत्पदका लक्ष्यार्थ हुआ निर्गुण ब्रह्म और त्वंपदका लक्ष्यार्थ हुआ कूटस्थ।

† इस शरीरके साक्षी चेतनको कूटस्थ कहते हैं। प्रकरण समझनेके लिये इनमें दोका जानना अनिवार्य है।

लोमश ऋषि और काकभुशुण्डि

अर्थात् दोनों ओर शुद्ध चेतन शेष रह जाता है, जो कि एक ही है। यही ब्रह्मज्ञानके उपदेशका क्रम है। महर्षिजी भी यही उपदेश दे रहे थे।

ब्राह्मणको निर्गुणका उपदेश न रुचा। उसने बार-बार सगुणोपासनाके उपदेशके लिये प्रार्थना की। पर अन्तर्यामीकी प्रेरणा कुछ और थी। महर्षिजी निर्गुणनिरूपणमें ही जोर लगाते गये, और ब्राह्मण सगुण-पर ही डटा रह गया। धीरे-धीरे बात बढ़ गयी। महर्षिजीने शाप दे दिया। ब्राह्मण सद्यः काग हो गया। पर ब्राह्मणको न भय हुआ, न दीनता आयी। सादर मुनिजीको प्रणाम करके उड़ चला। यही कागजी हमारे रामचरितसरके उत्तरघाटके वक्ता भुशुण्डि हैं। पीछेसे महर्षिने इन्हें बुलाकर सगुणोपासना बतलायी और अनेक वर दिये।

गरुड़जीको मेघनादके हाथसे श्रीरामचन्द्रको बँधा देखकर शङ्का हुई कि ब्रह्म रामको स्वल्प राक्षसने कैसे बाँधा? इसीके समाधानके लिये गरुड़जी भुशुण्डिजीके पास आये और भुशुण्डिजीने इन्हें रामकथा सुनायी। पूछनेपर उन्होंने अपनी रामकहानी भी कही। उसीका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

दो०—भगतिपच्छ हठ करि रहेउँ, दीन्ह महारिषि साप।
मुनि दुरलभ बर पायेउँ, देखहु भजन प्रताप॥

अर्थ—मैं भक्तिपक्षपर हठ किये रहा (और) महर्षिने शाप दे दिया (सो) मुनिदुर्लभ वर पाया, भजनका प्रताप देखो।

भगतिपच्छ—भाव यह कि ज्ञानमें निर्गुण मतका प्राधान्य है, और भक्तिपक्षमें सगुणका प्राधान्य है। तत्पदका शोधन और निर्गुणनिरूपण दो बात नहीं है, और सगुणनिरूपण तथा भक्तिपक्ष एक ही बात है, क्योंकि सगुणके साथ जीवकी एकता* हो नहीं सकती, यथा—'मायाबस परिच्छिन्न जड जीव कि ईस समान।'

* अल्पज्ञ और सर्वज्ञमें एकता नहीं हो सकती।

हठ करि रहेउँ—भाव यह कि ज्ञानोपदेश परम शिक्षा है, इससे बढ़कर* कुछ है नहीं, सो उसीका उपदेश मुझसे महर्षिजी करते थे, और मैं उनकी उक्तिके विरुद्ध बैठा-बैठा सोचा करता था, मैंने मन लगाकर उनका उपदेश न सुना, प्रत्युत उनसे वाद-विवाद बढ़ाया, उचित उत्तर पानेपर भी हठ किया, यथा—

तब मैं निर्गुन मत करि दूरी । सगुन निरूपौं करि हठ भूरी ॥

दीन्ह महारिषि साप—भाव यह कि हठ करनेका जो फल होता है सो हुआ, आये थे कल्याणके लिये मिल गया शाप । सो भी महर्षिका शाप । सद्यः कार्यमें परिणत हो गया, यथा—

किये अन्यथा होइ नहि बिप्र साप अति घोर ॥

मुनि दुरलभ वर पायेउँ—परन्तु उस शापसे मेरा बड़ा काम हुआ । मुनिजीने यदि शाप न दिया होता तो उन्हें अनुताप न होता, और न वे ऐसा वर देते जो मुनिलोगोंको भी दुर्लभ है ।

भाव यह कि (१) अविरल भक्ति (२) कामरूप (३) इच्छामरण (४) जहाँ बसें वहाँ एक योजनपर्यन्त अविद्याका न व्यापना, ये सब वरदान मुनिवृन्दोंको भी सुलभ नहीं हैं ।

देखहु भजन प्रताप—भाव यह कि इसमें न तो ऋषिजीकी करनी है, न मेरी महिमा है, न शापका गुण है । यह भजनका प्रताप है कि महर्षिजी शाप देने चले और वर दे डाला । प्रत्यक्ष प्रमाण सब प्रमाणोंसे ज्येष्ठ है । यहाँ भुशुण्डिजी प्रत्यक्ष प्रमाण दे रहे हैं कि देख लो, भजनका प्रताप है कि नहीं ? मुनिकी मतिको भगवान्‌ने फेर दिया, और उनसे वर दिलवाया । स्वयं आकाशवाणीद्वारा उसका अनुमोदन किया । यथा—

एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी । यह मम भगत करम मन बानी ॥

---

* 'नहि कछु दुर्लभ ज्ञान समाना ।' 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' गीतासु । ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।

त्रिभुवनमोहन राम

श्रीगणेशाय नमः । श्रीजानकीवल्लभो विजयते

प्रथम प्रसंग

रामरहस्य

जे असि भगति जानि परिहरहीं ।
केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं ॥

अर्थ—जो लोग ऐसी (प्रभावशालिनी) भक्तिको जान-बूझकर छोड़ देते हैं, केवल ज्ञानके लिये श्रम करते हैं ।

असि भगति—शापको भी मुनिदुर्लभ वरमें परिणत करनेवाली, सब सुखोंकी खानि, ज्ञान-वैराग्यकी जननी भक्ति है । जबतक भगवद्भक्ति

न हो, रामके चरणोंमें प्रेम न हो, तबतक कोई कल्याण नहीं हो सकता, और प्रेम हो जानेपर कोई कल्याण रुक भी नहीं सकता, बिना प्रार्थनाके सब कल्याण अपने-आप उपस्थित होते हैं और अकल्याण भी कल्याणरूपमें परिणत होते हैं।

जानि परिहरहीं–सर्व कल्याणका त्याग और भक्तिका त्याग एक वस्तु है। कोई भी प्रज्ञावान् जान-बूझकर कल्याणका परित्याग नहीं कर सकता। जान-बूझकर जिसने कल्याणका परित्याग किया, उसका दोष बिना जाने परित्याग करनेवालेसे कहीं बढ़कर है। बिना जाने कल्याणका त्याग करनेवाला, जानते ही उसका ग्रहण कर लेगा, और जान-बूझकर त्याग करनेवालेके पुनः ग्रहणकी सम्भावना भी नहीं है, अतः जान-बूझकर भक्तिके परित्याग करनेवालेका कभी भी कल्याण नहीं हो सकता।

केवल ज्ञान–शुष्क ज्ञान, निरुपास्तिज्ञान। भाव यह कि बिना उपासना (भक्ति) के ऋतम्भरा प्रज्ञा ही नहीं होती। सत्य अर्थका प्रकाश करती है इसीलिये इस बुद्धिका नाम ऋतम्भरा है, पहिले उपासनासे ईश्वरमें चित्त एकाग्र होता है, तब उस समय केवल ईश्वर-शब्द, ईश्वर-अर्थ और ईश्वरज्ञानमात्र चित्तमें रह जाता है। फिर धीरे-धीरे ध्यान करनेवाला और ध्यान भी बेपता हो जाता है, केवल ईश्वर-अर्थमात्र शेष रहता है तब सच्चा ज्ञान ईश्वरका होता है। इस अवस्था-वाली बुद्धिको ऋतम्भरा कहते हैं सो बिना प्रेमके ईश्वरमें चित्त एकाग्र* ही नहीं हो सकेगा, और बिना एकाग्र हुए ऋतम्भरा प्रज्ञा न होगी और

---

* चित्तका एकाग्र होना ही समाधि है। उसके दो भेद हैं—(१) सवितर्क और (२) निर्वितर्क। यदि गौमें समाधि की जाय, तो पहिले गौमें चित्त स्थिर होकर केवल गौ-शब्द, गौ-अर्थ और गौ-ज्ञानमात्रका भान रह जायगा। यह सवितर्क समाधि है। फिर धीरे-धीरे ध्याता और ध्यानका भी भान जाता रहेगा, केवल गौ-अर्थमात्र रह जायगा। यही निर्वितर्क समाधि है।

विना ऋतम्भरा प्रज्ञाके ईश्वरका सच्चा ज्ञान हो नहीं सकता, इसीलिये कहते हैं कि केवल ज्ञान श्रम है।

सगुण ब्रह्ममें चारों प्रकारकी समाधि होती है—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार। भगवान्का स्थूल रूप विराट् है, अतः उसमें सवितर्क और निर्वितर्क समाधि होती है, और हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर सूक्ष्मरूप है, क्योंकि सूक्ष्मताका पर्यवसान अलिङ्ग (प्रकृति) तक है, अतः हिरण्यगर्भ और ईश्वरमें सविचार और निर्विचार समाधि होती है। निर्विचारमें निर्वितर्ककी भाँति अर्थमात्रका निर्भास रह जाता है। सवितर्कका स्थूल विषय है, और सविचारका सूक्ष्म। यही दोनोंमें भेद है। निर्विचार समाधिके निर्मल प्रवाहसे ही अध्यात्मप्रसाद होता है, वहाँ ऋतम्भरा प्रज्ञा होती है, उसीसे ईश्वरका साक्षात्कार हो सकता है। भक्तिसे ये सब बातें अपने-आप होती हैं। प्रेममें ही यह सामर्थ्य है कि वह प्रेमीको प्रेमास्पदके सन्निकट विना जाने भी लिये चला जाता है।

हेतु श्रम करहीं–विना भक्तिके ज्ञान चाहनेवाले परिश्रममात्र करते हैं, सिद्धि उनके भाग्यमें नहीं। वे कितना बड़ा परिश्रम करते हैं, सो ज्ञानदीपप्रकरणमें देखियेगा, और तिसपर भी विघ्नबाहुल्यसे उनका परिश्रम व्यर्थ जाता है। इसीलिये फल-प्राप्ति न कहकर 'श्रम करहीं' लिखा है।

ते जड कामधेनु गृह त्यागी।
खोजत आकु फिरहिं पय लागी ॥१॥

अर्थ–वे जड (मूर्ख) घरमें कामधेनुको छोड़कर दूधके लिये मदार खोजते फिरते हैं।

ते जड–वे कलिमलग्रसित विमूढ़ हैं, उन्हें समझ नहीं है, यथा—'किमि समुझौं मैं जीव जड कलिमलग्रसित विमूढ़।' संसारसे न तो ममता हटी और न भगवान्में प्रेम हुआ, तब केवल

ब्रह्मविचारसे ज्ञान कैसे होगा ? यथा—'बादि विरति बिनु ब्रह्म बिचारू।' उन्हें तो ब्रह्मविचारका अधिकार ही नहीं। उनका ब्रह्मविचार अनधिकार चेष्टा है, कभी फलसिद्धि नहीं हो सकती। अतः ऐसी चेष्टा करनेवालेको जड़ कहा।

कामधेनु गृह त्यागी–पहिले भक्तिके लिये 'जानि परिहरहीं' कह आये हैं। अतएव जो भक्तिको जानता है, उसके भक्ति घरमें है। उसे चाहिये कि उसीकी सेवा करे, और लाभ उठावे। उसे कहीं कुछ ढूँढ़ना नहीं है। इतनेपर भी जिसने भक्तिकी उपेक्षा की, उसने मानो घरमें स्थित कामधेनुका त्याग किया। कामधेनु यथेप्सित अमृतमय दूध जभी चाहे तभी देती है, और उसके अतिरिक्त भी जितनी कामनाएँ हों उन्हें पूर्ण करती है, इसी भाँति भक्ति भी कामधेनु है। मनचाहा परम कल्याणकर ज्ञान तो देती ही है, और जो कुछ मनोवाञ्छित है, उसे पूर्ण करती है। उस भक्तिद्वारा वास्तव ज्ञान न चाहकर, निरुपास्ति ज्ञानकी ओर जो दौड़ता है, उसीके लिये कहा जाता है कि इसने घरमें बसी हुई कामधेनुका परित्याग किया।

पयं लागी–यहाँ पयकी उपमा वास्तव ज्ञानसे है। जिस भाँति अमृतमय दूध कामधेनुसे मिलता है, उसी भाँति वास्तव ज्ञान भक्तिसे ही मिलता है। यहाँ वास्तव ज्ञानसे अभिप्राय श्रीराम (ब्रह्म) के ज्ञानसे है। वैसे तो विषयका ज्ञान, देवताओंका ज्ञान, सब ज्ञान ही है, पर ऐसे ज्ञानको वास्तव नहीं कह सकते।

खोजत आकु फिरहिं–भाव यह कि कामधेनु घरमें है, उसे तो छोड़ दिया, और दूधके लिये मदार (अर्क) ढूँढ़ता फिरता है। मदारके पत्तोंके तोड़नेसे दो-चार बूँद श्वेत रस टपकता है, जिसे मदारका दूध कहते हैं। उसका रंग दूध-सा ही होता है, पर स्वाद और गुणमें दूधसे एकदम विपरीत होता है। उससे नेत्रको बड़ी हानि पहुँचती है। इसी भाँति निरुपास्तिज्ञान भी रूपरंगमें सोपास्तिज्ञान-सा ही होता है,

परन्तु किसी प्रकारकी समापत्ति* न होनेसे ऋतम्भरा प्रज्ञा ही नहीं होती। अतः उसमें सोपास्तिज्ञानका कोई गुण नहीं होता, प्रत्युत उसमें बड़ा भारी दोष आ जाता है। तत्पदवाच्य परमेश्वरकी ओर मन न जानेसे, वह तत्पदके शोधनमें भी सर्वथा असमर्थ है और संसारमें ममता रहनेसे त्वंपदवाच्य जीवका भी शोधन नहीं कर पाता। अतः लक्ष्यार्थकी उसे प्राप्ति ही नहीं हुई, ऐक्य वह किसका करेगा? वाच्यार्थ† का ऐक्य हो नहीं सकता, अतः मुखसे 'ब्रह्मास्मि' उच्चारण करते रहनेपर भी, और सारी शोधनप्रक्रिया कण्ठस्थ की हुई होनेपर भी उसे कल्पशतमें भी ज्ञान न होगा। उसकी दृष्टि ही नष्ट हो गयी। अतः निरुपास्तिज्ञान मदारकी दूधकी भाँति हानिकर है। निरुपास्ति ज्ञानवालेके लिये अन्तर्मुख होना बड़ा कठिन है, अतः उसके प्रयत्नको 'घरसे बाहर खोजते फिरना' कहा।

सुनु खगेस हरि भगति बिहाई।
जे सुख चाहहिं आन उपाई॥

अर्थ—हे खगेश! सुनो, जो लोग हरिभक्ति छोड़कर दूसरे उपायसे सुख चाहते हैं।

सुनु खगेस—भाव यह कि आपकी अपने आश्रित पक्षियोंपर इतनी प्रीति है कि टिट्टिभ‡ के अण्डेके लिये समुद्रपर धावा कर दिया। आप

---

* समाधि।

† 'तत्' पदका वाच्यार्थ सगुण ब्रह्म और लक्ष्यार्थ निर्गुण ब्रह्म है। इसी भाँति 'त्वं' पदका वाच्यार्थ जीव और लक्ष्यार्थ कूटस्थ है। जिस भाँति महाकाश और घटाकाशमें भेद नहीं है, उसी भाँति निर्गुण ब्रह्म और कूटस्थमें भी भेद नहीं है।

‡ महाभारतमें कथा है कि समुद्रने टिट्टिभका अण्डा बहा दिया। उसपर क्रुद्ध होकर समुद्र सुखानेके लिये वह समुद्रका जल उलीचने लगा। देखा-देखी

समझ सकते हैं कि स्वामी अपने आश्रितोंकी कौन-सी सहायता नहीं करता ?

हरिभगति बिहाई–ज्ञान चाहनेवालोंके लिये भी (पहिले कह आये हैं कि) भक्ति ही उपाय है, यथा—

रघुपति भगति बारि छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै ।
तुलसिदास यह चिद बिलास जग बूझत-बूझत बूझै ॥

अब कहते हैं कि सुखप्राप्तिका भी यही एकमात्र उपाय है, इसके परित्यागसे फिर सुख नहीं, यथा—

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो ।
हरिपदबिमुख लह्यो न काहु सुख सठ यह समुझ सबेरो ॥
बिछुरे ससि रबि मन नयननितेँ पावत दुख बहुतेरो ।
भ्रमत श्रमित निसिदिवस गगन महँ तहँ रिपु राहु बड़ेरो ॥
....
छुटै न बिपति भजे बिनु रघुपति श्रुति संदेह निबेरो ।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि होहु रामकर चेरो ॥
(विनयपत्रिका)

जे सुख चाहहिं–सुख तो सभी चाहते हैं, पर सबको सुख चाहनेवाला नहीं कह सकते । जो जान-बूझकर भी दुखदायक वस्तुको गलेमें बाँधे फिरता है, उससे छूटनेका प्रयत्न नहीं करता, उसे सुख चाहनेवाला कैसे कहें ? यथा—

जदपि बिषय सँग सहे दुसह दुख बिपतिजाल अरुझान्यौ ।
तदपि न तजत मूढ़ ममतावस जानतहू नहिं जान्यौ ॥
(विनयपत्रिका)

जो सचमुच विपत्तिजालसे छूटकर सुख चाहता है वही वस्तुतः सुख चाहनेवाला है ।

बहुत-से पक्षी इस काममें लग गये । समाचार पाकर गरुड़ आये, और सभीत होकर समुद्रने अण्डा लौटा दिया ।

आन उपाई–सुखके उपायमें ही दिनरात जीवमात्र लगे हैं, पर सुख मिलता तो नहीं। हाथ आकर भी उँगलियोंके बीचसे निकल जाता है। क्योंकि भजन छोड़कर किसी साधनमें सुख नहीं, यथा—

नाहिंन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधन तरु है श्रम-फलनि फरो सो॥
तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो।
पायेहि पै जानिबो करम-फल भरि-भरि वेद परोसो॥
आगम-विधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन रोग वियोग भरो सो॥
काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो।
बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो॥
बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो।
राम नाम-बोहित भवसागर, चाहै तरन तरो सो॥

(विनयपत्रिका)

ते सठ महासिंधु बिनु तरनी।
पैरि पार चाहहिं जड करनी॥ २॥

अर्थ–वे शठ हैं, बिना नावके अपनी जड करणीसे तैरकर बड़े भारी समुद्रको पार किया चाहते हैं।

ते सठ–भक्तिका परित्याग करके सुखके लिये अन्य साधनोंका भरोसा करना अपनी आत्माको धोखा देना है। अतः ऐसा करनेवालोंको शठ कहा; यथा—

कपट सार सूची सहस, बाँधि बचन परवास।
करि दुराव चह चातुरी सो सठ तुलसीदास॥

महासिंधु-सब प्रकारके शोकोंका देनेवाला, देहाभिमानका महासमुद्र है, न इसका थाह है न वारापार है। रागादि जल-जन्तुओंसे भरा हुआ है, संकल्पकी बड़ी-बड़ी लहरें दिनरात इसमें उठा करती हैं, यथा—

कुनपक्ष*-अभिमान सागर भयंकर घोर विपुल अवगाह दुस्तर अपारम्।
नक्र रागादिसंकुल मनोरथ सकल संग संकल्प वीचीं विकारम्॥

(विनयपत्रिका)

बिना इस समुद्रके पार किये सुख मिल नहीं सकता, अतः सुखार्थीको इसे पार करना ही होगा।

बिनु तरनी-नदीके पार जानेके लिये नौकाकी आवश्यकता पड़ती है, फिर समुद्रके पार जाना तो बिना नौकाके हो ही नहीं सकता, इसी भाँति बिना भक्तिके देहाभिमानसागरके पार कोई जा नहीं सकता। अतः भक्ति दुःखसागरके पार जानेका एकमात्र साधन है।

जड करनी-भाव यह कि विचारविहीन करणीको जडकरणी कहते हैं, यथा—

गगन समीर अनल जल धरनी। इनकै नाथ सहज जड करनी॥

अतएव जडकरणीसे पार जानेकी प्रक्रिया ही नहीं हो सकती। समुद्रमें अति बुद्धिमान् भी दिङ्मूढ हो जाते हैं; यह पता ही नहीं चलता कि हम कहाँपर हैं, और किस ओर जा रहे हैं। खगोल और भूगोलके परिज्ञाता ही अनेक साधनसम्पन्न होकर महासागरमें अपना पथ निश्चित करते हुए जहाज़ चलाते रहते हैं, जडकरणी होनेसे किसी भाँति बेड़ा पार नहीं होता। अथवा यदि जडकरणी शब्द महासिन्धुका विशेषण मान लिया जावे तो यह अर्थ करना पड़ेगा कि यदि समुद्र चेतनकरणी होता तो अनुनय-विनयसे भी किसी प्रकार प्राण-रक्षाकी आशा की

* देहाभिमान

जा सकती थी, पर समुद्र तो जडकरणी है, उससे किसी प्रकारकी सहायताकी आशा नहीं की जा सकती।

पैरि पार चाहत–भुजबलसे तिरा चाहता है। पहिले तो इतनी सामर्थ्य मनुष्य-शरीरको हो ही नहीं सकती कि भुजबलसे महा समुद्र तिर सके, दूसरे पर्वतोपम तरंगोंके थपेड़ोंसे विकल होकर उसका आगे बढ़ना असम्भव हो जायगा। यदि कुछ साहसविशेष किया तो जलजन्तुओंका शिकार हो जायगा। अतः तैरकर महासमुद्र पार करना नितान्त असम्भव है। इसी भाँति देहाहंकार (दुःख) सागरके पार जानेमें केवल बाहुबल अकिञ्चित्कर है। भगवान्‌के आश्रय होना ही नौकारोहण है, अपने बलपर भरोसा करके प्रयत्न करना तैरकर पार जाना है। कैसा भी तैराक हो, पुरुषार्थी हो, संकल्पतरंगोंके थपेड़ोंसे विकल हो जावेगा, इनसे भी यदि बचा तो रागद्वेषादिका शिकार बन जायगा। तैरकर पार जानेकी इच्छा ही उसकी मूर्खताकी द्योतक है। अतः भक्तिका आश्रय करना ही एकमात्र उपाय है।

सुनि भुसुंडिके बचन भवानी।
बोले गरुड हरषि मृदुबानी॥

अर्थ–हे भवानी! भुशुण्डिके वचन सुनकर गरुड़ हर्षित होकर मृदुबानी बोले।

भवानी—शङ्कर भगवान् सविधि गरुड़ और भुशुण्डिजीका संवाद कह रहे हैं, क्योंकि भवानीका प्रश्न ही यही था कि 'कहहु कवन विधि भा संबादा।' सो यहाँपर दोनों भक्तोंमें ज्ञान-भक्ति-विषयक प्रश्न उठ रहा है, तथा रामरहस्यका भी वर्णन प्रारम्भ होनेवाला है, भवानीके दो प्रश्नोंका उत्तर इसी प्रसंगमें होगा, यथा—

(१) भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। पुनि सब बरनउ सहित बिभागा॥
(२) औरौ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥

अतः श्रोताको सावधान करनेके लिये सम्बोधन करते हैं।

सुनि भुसुंडिके वचन—यह कहकर गरुड़जीके चतुर्थ प्रश्नके उत्तरकी समाप्ति दिखलायी—प्रश्न यह था कि—

नाथ तवाश्रम आयउँ, मोर मोह भ्रम भाग।
कारन कवन सो नाथ सब, कहहु सहित अनुराग॥

उत्तर हुआ कि भजनके प्रतापसे लोमश महर्षिके शापका वरदान-रूपमें परिवर्तन ही इस बातका कारण हुआ कि भुशुण्डिके आश्रमके सन्निकट आनेपर गरुड़जीका शोक-मोह जाता रहा।

बोले गरुड़—यदि पुनः शङ्का न करते तो संवाद यहीं समाप्त हो जाता। पर उक्त प्रश्नका उत्तर पूरा होते न होते ही दूसरी शङ्का उठ खड़ी हुई, अतः गरुड़जी बोले। उत्तरके अन्तमें भजन-प्रतापपर भुशुण्डिजीने बहुत जोर दिया। सो यह शङ्का और भी पुष्ट हो गयी।

हरखि मृदुबानी—भाव यह कि भुशुण्डिजी और गरुड़जी दोनों वक्ता और श्रोता भगवद्भक्त हैं। भक्तिके उत्कर्षकी कथा कहने और सुननेमें दोनोंको हर्ष है। वक्ताको हर्ष, यथा—

गरुड वचन सुनि हरषेउ कागा। बोलेउ वचन सहित अनुरागा॥

श्रोताको हर्ष, यथा—

सुनि भुसुंडिके वचन भवानी। बोले गरुड हरखि मृदुबानी॥

गरुड़जी संत हैं, अतः मृदु बोलनेका उनका स्वभाव है। संतका लक्षण है कि 'कहैं सत्य प्रिय वचन बिचारी'। पहले भी कह आये हैं कि 'कह मृदु वचन खगेस'।

तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं।
संसय सोक मोह भ्रम नाहीं॥ २॥

अर्थ-हे प्रभो ! तुम्हारी कृपासे मेरे हृदयमें संशय, शोक, मोह और भ्रम नहीं है।

प्रभु-गरुड़जीने भुशुण्डिजीको गुरु माना है, यथा-

गुरु बिनु भवनिधि तरै कि कोई। जौं बिरंचि-शंकर सम होई ॥

इसीलिये प्रभु करके सम्बोधन करते हैं, अथवा शोक-मोह-विनाशनमें समर्थ देखकर प्रभु सम्बोधन करते हैं।

तव प्रसाद्-भाव यह कि आपका प्रसाद (प्रसन्नता) अमोघ है। संशय, शोक, मोह, भ्रमका नाश बड़े-बड़े साधनोंसे भी होना कठिन है, सो वह आपके प्रसादमात्रसे हो गया।

मम उर माहीं-मेरे हृदयमें शोक-मोहादिने ऐसा डेरा जमा लिया था कि नारद, ब्रह्मा और शङ्करके साक्षात्कारसे नहीं गया, और आपके आश्रमके निकट आनेसे ही चला गया। इसीलिये कहा है कि—

बिधि हरिहर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी ॥

संसय शोक मोह भ्रम-उभयकोटि-अवलम्बी ज्ञानको संशय कहते हैं, यथा—

सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रताप कछु नाहीं ॥

इष्टके नाशसे जो दुःख होता है, उसे शोक कहते हैं, यथा—

बंधन काटि गयउ उरगादा। उपजा हृदय प्रचंड बिषादा ॥

अज्ञानको मोह कहते हैं, यथा—

भयउ मोहबस तुम्हरहि नाईं।

विपरीत ज्ञानको भ्रम कहते हैं, यथा—

प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा ॥

नाहीं-भाव यह कि अविद्या मेरे हृदयसे हट ही नहीं गयी,

बल्कि मेरे लिये नष्ट हो गयी। अब आपके आश्रमसे योजनभर दूर निकल जानेपर भी पुनः उसके प्रत्यागमनका भय नहीं है।

सुनेउ पुनीत रामगुनग्रामा।
तुम्हरी कृपा लहेउ बिश्रामा॥

अर्थ–रामके पुनीत गुण-ग्रामोंको तुम्हारी कृपासे सुना और विश्राम पाया।

सुनेउ–भाव यह कि तुम्हारी कृपासे सुना। जिस भाँति गरुडजीने उत्कण्ठावश रामकथा सुनानेके लिये बारंबार प्रार्थना की थी, यथा—

अब प्रभु कथा सुनावहु मोही। बार-बार बिनवौं प्रभु तोही॥

उसी भाँति बार-बार कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं, यथा—

सुनेउ सकल रघुपति चरित।
सुनेउ पुनीत रामगुन ग्रामा।

श्रीरामचरित देखनेसे मोह और सुननेसे शान्ति होती है। उमा और गरुडको चरित्र देखकर ही मोह हुआ था, और कथा सुनकर ही उस मोहकी निवृत्ति हुई। श्रीरघुनाथ-चरित्र कहकर श्रोताका संकोच मिटानेके लिये भुशुण्डिजीने अपने मोहका भी वर्णन किया। तत्पश्चात् उमाकी भाँति गरुडजीने भी भुशुण्डिजीके विषयमें प्रश्न किये। भुशुण्डि-जीने स्वयं अपना चरित वर्णन किया। भक्तोंके चरित्रमें भगवान्के गुण-ग्रामका ही वर्णन रहता है, सो 'सुनेउ' कहकर उन शङ्काओंका समाधान होना दिखलाया। अथवा उत्तर आरम्भ करते समय भुशुण्डिजीने कहा था कि 'तात सुनहु सादर मन लाई' अतः उत्तरसमाप्तिपर भुशुण्डिजी कहते हैं कि 'सुनेउ' अर्थात् मन लगाकर सुना।

पुनीत रामगुनग्रामा–यहाँ 'गुणग्रामा' कहकर बहुवचनका प्रयोग किया। गुणग्राम गुणोंके समूहको कहते हैं। स्तुतिमें गुणसमूह-

का कीर्तन होता है। रामचरितमें उल्लेखयोग्य गुणग्रामोंका संकीर्तन छब्बीस स्थानोंमें है, और छब्बीस विशेषण* छब्बीसों गुणग्रामोंमें क्रमशः भलीभाँति लागू होते हैं, यथा ब्रह्मस्तुतिके साथ 'जगमङ्गल गुनग्राम रामके' कहना भलीभाँति बैठ जाता है। जगमंगलके लिये ही ब्रह्मस्तुति हुई थी और उसका परिणाम भी जगन्मङ्गलमय ही हुआ, इसी भाँति भगवान्‌के श्रीमुखसे उपदेश पाकर पुरवासी कृतार्थ हुए। तब उन लोगोंने स्तुति की। यह पचीसवीं स्तुति है। इसका सम्बन्ध पचीसवें विशेषण 'पावन गंगतरंग मालसे' है। पावन होना ही कृतार्थ होना है। विस्तार-भयसे सब नहीं लिखा। पावनमें ही सब विशेषणोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

तुम्हरी कृपा–यहाँ देहलीदीपकन्यायसे प्रयुक्त हुआ है।

सुनेउँ पुनीत रामगुनग्रामा। तुम्हरी कृपा लहेउँ बिश्रामा॥

भाव यह कि तीनों बात तुम्हारी कृपासे ही हुई—(१) संशय-शोकादिका जाना (२) रामगुणग्रामश्रवण और (३) विश्रामप्राप्ति।

लहेउँ बिश्रामा–भाव यह कि संशयवालेको विश्राम नहीं मिलता, उसकी दशा सर्प-दंशित मनुष्यकी भाँति हो जाती है। जिस भाँति साँप काटे हुएको लहर आती है, उसी भाँति संशयीको दुःखद कुतर्ककी लहरें उठती हैं, संशयीको न इस लोकमें सुख है न परलोकमें। यथा—

संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहर कुतर्क बहु ब्राता॥
तव सरूप गारुडि रघुनायक। मोहि जियाएउ जनसुखदायक॥

पहले तो 'उपजा हृदय प्रचंड बिषादा' और अब हर्षित होकर मृदु वाणी बोलते हैं। अतः कहते हैं कि 'लहेउ बिश्रामा।'

---

* बालकाण्डके ३७ वें दोहेमें रामगुणग्रामके छब्बीसों विशेषण वर्णित हैं 'जगमंगल गुनग्राम रामके' इत्यादि।

एक बात प्रभु पूछौं तोही।
कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही॥ ४॥

अर्थ—हे प्रभो! एक बात तुमसे पूछता हूँ, सो हे कृपानिधे! मुझे समझाकर कहो।

एक बात—भाव यह कि पहले चार बातें पूछी थी—(१) कारन कवन देह यह पाई (२) रामचरित सर सुन्दर स्वामी पायेहु कहाँ (३) महाप्रलयहु नास तव नाहीं तुमहि न व्यापत काल अति कराल कारन कवन और (४) तव आश्रम आयेउँ मोर मोह भ्रम भाग, सो कारन कवन। इन चारोंका उत्तर हो गया। अन्तमें फिर एक शङ्का उठी, वही पूछते हैं।

प्रभु पूछौं तोही—भाव यह कि आप गुरु हैं। आपसे बात छिपानेसे निर्मल विवेक नहीं हो सकेगा, यथा—

संत कहहिं अस नीति प्रभु, श्रुति पुरान मुनि गाव।
होइ न बिमल बिराग उर, गुरुसन किये दुराव॥

कृपानिधि—सम्बोधनका भाव यह कि गुरु कृपानिधि होते हैं। समुद्रमें नयी-नयी तरङ्गें उठा करती हैं, अतः बार-बार समाधान करनेपर भी शिष्यके हृदयमें सन्देह उठनेसे गुरु कृपा करके समाधान करनेमें उद्विग्न नहीं होते, यथा—

बिगरी सुधारै कृपानिधिकी कृपा नई।

मोहि बुझाइ कहौ—मुझे जो शङ्का उठनेवाली थी, उसका भी समाधान आपने संक्षेपरूपमें 'जे हरिभगति जानि परिहरहीं' इत्यादि दो चौपाइयोंमें किया, परन्तु मेरी अभ्रान्तिके लिये समझाकर कहिये। अन्य पक्षी लोग बहुत दिनसे कथा सुनते हैं, अतः उन्हें सब

विषय अभ्रान्त हैं, वे संक्षेपमें समझ सकते हैं। मैं ही नया सुननेवाला हूँ, अतः मुझे समझाकर कहनेकी आवश्यकता है।

कहहिं संत मुनि बेद पुराना।
नहिं कछु दुरलभ ज्ञान समाना॥

अर्थ—संत, मुनि, वेद और पुराण कहते हैं कि ज्ञानके समान कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है।

संत मुनि कहहिं—वेद-पुराणमेंसे उपयुक्त सार ग्रहण करके सर्व-हितके लिये प्रचार करनेवाले ही साधु-संत हैं। यथा—

वेद पुरान उदधि घन साधू।

और रागद्वेषरहित, तपस्वी, मनुष्यसमाजसे पृथक् वनमें रहनेवाले मुनि हैं, यथा—

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥

अतः संत और मुनिके आप्त होनेमें सन्देह नहीं है, और आप्तोंका वाक्य प्रमाणरूपसे गृहीत होता है, सो वे लोग कहते हैं।

वेद पुरान—भाव यह है कि वेद स्वतः प्रमाण हैं, और पुराण भी वेदार्थके उपबृंहण (पुष्ट) करनेसे पञ्चम वेद कहलाते हैं, ये भी परतः-प्रमाण हैं। इन दोनोंके वाक्य आप्तवाक्य हैं। पुराण और वेदोंमें ही अज्ञातार्थ ज्ञापकत्व* है। सो ये भी ऐसा ही कहते हैं, अर्थात् इस बातमें सबकी एकवाक्यता है कि 'नहिं कछु दुरलभ ज्ञान समाना।' यहाँ

* नहीं जानी हुई बातका जनाना शास्त्रका काम है। जिन बातोंको मनुष्य अपनी बुद्धिसे जानता है या जान सकता है उन बातोंके कहनेमें शास्त्रकी उपयोगिता नहीं है। शास्त्रका कार्यकारित्व तो इसीमें है कि मानव-बुद्धिके अगोचर विषयका वर्णन करे।

वेदकी चार संख्या और पुराणकी अठारह संख्या होनेसे, 'पुराणा' बहुवचनका प्रयोग किया।

ज्ञान समान नहिं–पुरुषार्थचतुष्टयमेंसे अक्षय मोक्षके साधन होनेके कारण ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट है, ज्ञान-सा पवित्र कुछ भी नहीं है। ज्ञान नित्य है। ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, अतः अज्ञानके अपसरणको ही ज्ञान होना कहते हैं। ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती, यथा–

ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना।

इसलिये कहा कि ज्ञानके समान कुछ भी नहीं।

कछु दुरलभ–भाव यह कि इस जगत्‌में दुर्लभ वस्तुका ही मूल्य है। जो वस्तु जितनी अधिक दुर्लभ है उतना ही अधिक उसका मूल्य है, और मूल्यवान् पदार्थका ही जगत्‌में आदर है, उपयोगितापरही आदर निर्भर नहीं है। अल्पोपयोगी मणि-माणिकका अत्यन्तोपयोगी अन्न-जलसे कहीं अधिक आदर है। यथा—

मनिमानिक महँगे किये सहँगे तृन जल नाज।
तुलसी एतो जानिये राम गरीबनेवाज॥

(दोहावली)

अतः सबसे अधिक मूल्य मोक्षका है, क्योंकि वह अति दुर्लभ है, यथा—

अति दुर्लभ कैवल्य परमपद।

ज्ञानसे कैवल्यपद होता है, दुर्लभका साधन सुलभ नहीं हो सकता अतः कहा कि ज्ञान-सा कुछ दुर्लभ नहीं।

सोइ मुनि तुमसन कहेउ गोसाईं।
नहिं आदरेउ भगतिकी नाईं॥ ५॥

अर्थ–हे गोसाईं! वही मुनिने तुमसे कहा, सो (तुमने उसका) भक्ति-सा आदर नहीं किया।

गोसाईं—शब्द प्रभुके अर्थमें व्यवहृत दिखायी पड़ता है, यथा—

सो गोसाइँ जेहि विधिगति छेकी। सकै को टारि टेक जो टेकी॥
स्वामि,गोसाइहि सरिस गोसाईं॥ राखा मोर दुलार गोसाईं॥
—इत्यादि

सोइ मुनि तुमसन कहेउ—भाव यह कि ज्ञानप्रदानमें तीन बातें आवश्यक हैं-(१) ज्ञान (२) गुरु और (३) अधिकारी। जहाँ तीनों उत्तम एकत्रित हो जायँ वहाँ अनादरके लिये कोई कारण नहीं है। 'सोइ' से यहाँ वही अनुपम दुर्लभ ज्ञान अभिप्रेत है, मुनिसे यहाँ उपदेष्टा गुरु महर्षि लोमशसे तात्पर्य है, 'तुमसन' से परम अधिकारी स्वयं भुशुण्डिजी कहे गये हैं। यहाँ तीनों बातें उत्तम-से-उत्तम बन गयीं, ब्रह्मज्ञानसे बढ़कर कोई शिक्षा नहीं, यथा—'मूढ़ परम सिख देउँ न मानसि।' रामचरितमानसमें महर्षिपद लोमशको ही दिया गया है, यथा—'दीन्ह महाऋषि शाप' सो इनसे बढ़कर गुरु कौन होगा? मनुष्योंमें मोक्षका अधिकारी ब्राह्मण है, इसीलिये उसके शरीरको चरम (अन्तिम) कहा गया है, यथा—'चरम देह द्विजकर मैं पाई।' तिसपर भी भुशुण्डिजीका हृदय सब वासनाओंसे रहित था, यथा—'मनते सकल बासना भागी।' इसीलिये मुनिजीने इन्हें परम अधिकारी माना, यथा—'मोहिं परम अधिकारी जानी।' यहाँपर अनादरके लिये स्थान नहीं था, तीनोंमेंसे यदि किसीमें त्रुटि होती तो अनादरका प्रवेश हो सकता था।

नहिं आदरेउ—भाव यह कि उपदेशके समय दूसरी बात मनमें सोचना ही उपदेशका अनादर है, और हठ करके उपदेष्टाकी बात काटकर दूसरा पक्ष खड़ा करनेसे बढ़कर और क्या अनादर होगा सो ये सब बातें भुशुण्डिजीसे हुईं, यथा—

यहि विधि विविधि जुगुति मन गुनेऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनेऊँ॥
....
तब मैं निरगुन मत करि दूरी। सगुन निरूपौं करि हठ भूरी॥

इसीलिये गरुड़जी कहते हैं कि आपने आदर नहीं किया।

भगतिकी नाईं—भाव यह कि जब राममन्त्र दिया, और बालकरूप रामका ध्यान बतलाया तब खूब मन लगाकर सुना, यथा—'सुंदर सुखद मोहि अति भावा।' इससे भक्तिका आदर करना सूचित हुआ।

ज्ञानहि भगतिहिं अंतरु केता।
सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता॥

अर्थ—हे प्रभु कृपानिकेत! ज्ञान और भक्तिमें कितना अन्तर है सो सब कहिये।

ज्ञानहि भगतिहि—भाव यह कि जाननेको ज्ञान और परम प्रेमको भक्ति कहते हैं। यहाँ जो ज्ञेय है वही परम प्रेमास्पद है। उसी आनन्द-सिन्धु सुखराशि रामको जाननेको ही ज्ञान कहते हैं; आनन्दानुभूति और प्रेम कोई दो पृथक् वस्तु नहीं मालूम पड़तीं। जहाँ आनन्द है वहीं प्रेम है, जहाँ प्रेम है वहीं आनन्द है। यदि कोई प्रेम करता है तो उसे आनन्द अवश्य मिलता है, न मिला होता तो वह प्रेम न करता, और जिसे आनन्दानुभव हुआ वह प्रेम न करे ऐसा हो नहीं सकता, यदि कोई प्रेम नहीं करता तो यही समझमें आता है कि उसे आनन्दानुभव हुआ ही नहीं, सो देखनेमें तो ज्ञान और भक्तिमें पूरा-पूरा सामानाधिकरण्य मालूम होता है।

अंतरु केता—अन्तरके तारतम्यसे ही आदरका तारतम्य होता है। मेरी तो यह समझमें नहीं आता कि किसका अधिक आदर करें और किसका कम, क्योंकि अन्तर कुछ मालूम नहीं पड़ता।

सकल कहहु—आपके बर्तावसे साधन और सिद्धि दोनोंमें अन्तर मालूम पड़ता है। साधनमें अन्तर है इसलिये आपने मुनिके उपदेशको आदरपूर्वक श्रवण नहीं किया। सिद्धिमें भी अन्तर है, तभी आपने निर्गुण मतको दूर करके सगुणका निरूपण किया। अतः साधन या सिद्धि जहाँ-जहाँ अन्तर हो सो सब कहिये।

प्रभु कृपानिकेता–भुशुण्डिजीको समर्थ समझते हैं कि वह सब शङ्काओंका समाधान कर सकते हैं। क्योंकि भुशुण्डिजीकी स्तुति स्वयं शङ्करजीने गरुडजीसे की थी, यथा—'जाकी अस्तुति सादर निज मुख कीन्ह महेस।' इसलिये प्रभु सम्बोधन दिया। विनिमयमें कुछ न चाह-कर अमूल्य उपदेश देनेका कष्ट सिवा कृपानिकेतके और कोई स्वीकार नहीं कर सकता, इसीलिये कृपाका घर (कृपानिकेत) कहा।

सुनि उरगारि बचन सुख माना।
सादर बोलेउ काग सुजाना॥ ६॥

अर्थ–उरगारि (गरुड़) का वचन सुनकर सुख माना (तब) आदरके सहित सुजान कागजी बोले।

उरगारि वचन–गरुड़जी साँपोंके शत्रु हैं, खूब खोज-खोजकर प्रश्न पूछते हैं, अथवा अब मोह-भ्रमादि सर्पोंके पीछे पड़े हैं, निःशेष करके ही छोड़ेंगे।

सुनि सुख माना–भाव यह कि मर्मके समझनेवाले श्रोताको पाकर वक्ता सुखी होता है। गरुडजीके वचन सुननेसे यह मालूम हुआ कि वह उनके उपदेशको यथावत् धारण कर रहे हैं। जहाँ कहीं तनिक-सी भी बात बैठनेमें रुकती है, तुरन्त प्रश्न कर बैठते हैं। हमारे अविनयपर प्रश्न हो रहा है, यह समझकर रुष्ट न हुए, प्रत्युत परहितैकव्रत भुशुण्डिजीने संशयोच्छेदनका पुनः अवसर पाकर सुख माना। इससे भुशुण्डिजीकी कृपानिकेतता कही।

सादर बोलेउ–भाव यह कि उत्तम वक्ता पाकर श्रोतागण ही नहीं कृतार्थ होते, गुणी श्रोता पाकर वक्ता भी कृतार्थ होते हैं, उपयुक्त प्रश्न सुनकर आदर करते हैं। यहाँ गरुड़जीकी तीव्र जिज्ञासा देखकर, तथा अपने प्रति पूर्ण आस्था देखकर आदरसहित बोले। अथवा गरुड़जीके मनको रामप्रेमसे सरस देखा, कि ये भक्तिका सविस्तर वर्णन सुननेके

लिये ज्ञान-भक्तिको आमने-सामने रखकर प्रश्न कर रहे हैं, अतः सादर बोले, यथा—

राम सुप्रेम सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू॥

यहाँ गरुड़जीका आदर पक्षिराट् होनेके नाते नहीं हो रहा है; बल्कि रघुनायकका प्रियदास होनेके नाते हो रहा है, यथा—'रघुनायकके तुम प्रिय दासा'।

काग सुजाना—भाव यह कि काग महामन्दमति होते हैं, कठोर-वादी होते हैं, यथा—'महामन्दमति कारन कागा' सो भुशुण्डिजी सुजान काग हैं, मधुर भाषी हैं, यथा—'मधुर बचन बोलेउ तब कागा'। सुजान साधु होते हैं, सुशील होते हैं, कृपालु होते हैं, सबकी सुनते हैं, सबका सम्मान करते हैं, क्योंकि सुवाणी, भक्तिमति और गतिकी उन्हें पहचान रहती है, यथा—

साधु सुजान सुसील नृपाला। ....॥
सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी। भनिति भगति मति गति पहिचानी॥

अतः गरुड़जीकी वाणी भणिति, भक्ति, मति और गति पहिचान-कर उनका आदर किया। इससे कागजीकी प्रभुता कही।

भगतिहिं ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

अर्थ—भक्ति और ज्ञानमें कुछ भी भेद नहीं है, दोनों संसारसे पैदा हुए दुःखोंको हरण करते हैं।

भगतिहिं ज्ञानहिं—भाव यह कि यथार्थ ज्ञान और संवादी भ्रमको ही क्रमशः ज्ञान और भक्ति कहा जाता है। मणिमें मणि-बुद्धि होना यथार्थ ज्ञान है और मणिकी प्रभामें मणि-ज्ञानसे प्रवृत्त होना संवादी भ्रम है; इसी भाँति ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होना तत्त्वज्ञान है, और उसकी उपासना संवादी भ्रम है।

नहिं कछु भेदा—भाव यह है कि तत्त्वज्ञान और संवादी भ्रममें कोई भेद नहीं है। मणि-प्रभामें मणि-बुद्धि होना यद्यपि भ्रम है तथापि उसकी प्राप्तिके लिये दौड़ते हुए पुरुषको मणि-प्राप्ति होती है। अतः मणि-प्राप्तिरूपी फलके समान होनेसे अभेद कहा। प्रश्न यह था कि 'ज्ञानहिं भगतिहिं अन्तरु केता'। अत्र प्रश्नकर्ताने जिस बातको मनमें रखकर प्रश्न किया था उसीकी पुष्टि करते हुए कहते हैं कि 'भगतिहिं ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा'।

भव संभव खेदा—संसाररूपी वनमें दुःख-ही-दुःख भरा है। इसीसे 'खेदा' कहकर बहुवचनका प्रयोग किया। ग्रन्थकारने विनय-पत्रिकामें संसारको वन मानकर उसके दुःखोंका बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है, यथा—

संसारकांतार, अतिघोर, गंभीर, घन, गहन तरु कर्म-संकुल, मुरारी।
वासना वल्लि खर-कंटकाकुल विपुल, निविड विटपाटवी कठिन भारी॥
विविध चितवृत्ति-खगनिकर श्येनोलूक,काक बक गृध्र आमिष अहारी।
अखिल खल,निपुन छल छिद्र निरखत सदा जीवजन पथिक मनखेदकारी॥
क्रोध करि मत्त, मृगराज कंदर्प, मद-दर्प वृक-भालु अति उग्रकर्मा।
महिष मत्सर क्रूर, लोभ सूकररूप, फेरु छल, दंभ मार्जारधर्मा॥
कपट मर्कट विकट, व्याघ्र पाखण्ड मुख, दुखद मृगव्रात, उतपातकर्ता।
हृदय अवलोकि यह सोक सरनागतं, पाहि मां पाहि, भो विश्वभर्ता॥
प्रबल अहँकार दुर्घट महीधर, महामोह गिरिगुहा निविडान्धकारम्।
चित्त वेताल मनुजाद मन, प्रेतगन रोग, भोगौघ वृश्चिक-विकारम्॥
विषय-सुख-लालसा दंस-मसकादि,खल झिल्लिरूपादि सब सर्प,स्वामी।
तत्र आक्षिप्त तव विषम माया नाथ अंध मैं मंद व्यालादगामी॥
घोर, अवगाह भव आपगा पापजलपूर दुष्प्रेक्ष्य दुस्तर अपारा।
मकर षडवर्ग गोनक्र चक्राकुला कूल सुभ असुभ दुख तीव्र धारा॥
सकल संघट पोच सोचवस सर्वदा दास तुलसी विषम गहनग्रस्तम्।
त्राहि रघुवंशभूषण कृपाकर कठिन काल विकराल-कलित्रास-त्रस्तम्॥

उभय हरहिं—भाव यह कि भक्ति और ज्ञान दोनोंहीसे उपर्युक्त

दुःखोंकी निवृत्ति होती है। दोनोंका एक फल है कि जीव संसारके दुःखोंसे छूट जाता है। अब शङ्का यह होती है कि फिर आपने विशेष आदर क्यों किया ? अतः कहते हैं—

नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर।
सावधान सोउ सुनु बिहंगबर ॥७॥

अर्थ—हे नाथ! मुनीश लोग कुछ भेद (अन्तर) बतलाते हैं, उसे भी हे विहंगवर! सुनो।

नाथ—भाव यह कि पक्षिराट् होनेसे गरुडजीको 'नाथ' कहकर सम्बोधन किया, अथवा आदरसे नाथ कहा।

मुनीस कहहिं—भाव यह कि भुशुण्डिजी बड़े सुशील हैं, यथा—'तहँ रह कागभुशुण्डि सुशीला' ऐसे गहन विषयमें अपने मतको प्रमाण नहीं मानते, अतः मुनीशोंका मत कहते हैं। मनन करनेवालोंको मुनि कहते हैं, अति विचारशीलको मुनीश कहते हैं। मुनीश आप्त हैं, इनका वचन प्रमाण है।

कछु अंतर—भाव यह कि मननशीलोंको कुछ अन्तर दिखलायी पड़ा है। वह अन्तर सूक्ष्म है, अतः सबको नहीं मालूम पड़ता। उसी अन्तरको भुशुण्डिजीने भी प्रमाण मानकर, भक्तिके प्रति अधिक आदर दिखलाया।

बिहंगवर—भाव यह कि आप विहंगमार्गी ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ हैं, इसके समझनेके अधिकारी हैं अथवा श्रोताओंमें प्रमुख हैं, यथा—'आवैं सुनैं अनेक विहंगा' यहाँ पक्षीभावमें कथा होती रही, इसलिये श्रोताओंमें सिवा पक्षियोंके और कोई नहीं था, यथा—

कछु एहिते पुनि मैं नहि राखा। समुझै खग खगहीकर भाखा॥

सावधान सोउ सुनु—भाव यह कि उस अन्तरको भी सावधान होकर सुननेके लिये आदेश देते हैं। साम्य तो सुन चुके अब अन्तर भी

सुनो। तनिक भी अनवधानता होनेसे समझमें नहीं आवेगा। भक्ति और ज्ञानका विषय ही ऐसा गूढ है कि श्रोताको सावधान करना ही पड़ता है। भगवान् श्रीरामचन्द्रने स्वयं इसी भाँति लक्ष्मणजीको सावधान किया। यथा—'सुनहु तात मतिमन चितलाई।'

ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना।
ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥

ज्ञान—भाव यह कि ज्ञान दो प्रकारका होता है—(१) परोक्षज्ञान और (२) अपरोक्षज्ञान। ब्रह्मको सबमें समान देखना ही परोक्षज्ञान है, यथा—

ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देखहिं ब्रह्म समान सब माहीं॥

बिराग—वैराग्य भी दो प्रकारका होता है—(१) वशीकार और (२) परवैराग्य। देखे हुए विषय और स्वर्गादिके सुने हुए भोगोंसे तृष्णारहित होनेको वशीकारवैराग्य कहते हैं, यथा—

एहि तनकर फल बिषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई॥

पुरुषके साक्षात्कारसे गुणोंमें तृष्णारहित होना परवैराग्य है, यथा—

कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

जोग—चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहते हैं, यथा—

मन थिर करि तब शंभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना॥

यह बिना अभ्यास-वैराग्यके नहीं होता और न बिना योगकी सहायतासे ज्ञान हो सकता है। यथा—'धर्म ते बिरति योग ते ज्ञाना।'

बिज्ञाना—जहाँ ज्ञानके साथ विज्ञानका पाठ है, वहाँ ज्ञानसे परोक्षज्ञान और विज्ञानसे अपरोक्षज्ञान लिया जायगा, यथा—'दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी' और जहाँ केवल ज्ञान ही पठित है वहाँ प्रसङ्गानुकूल दोनों अर्थ लिया जायगा।

सुनहु हरिजाना—भाव यह कि हरिके यान होनेसे आप बड़े पुरुषार्थी हैं। जिसमें कोई पुरुषार्थ ही नहीं वह पुरुष कैसा ? पुरुषार्थ चार माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमेंसे धर्म और अर्थ साधनरूप हैं, अतः फलरूप काम और मोक्ष दो ही पुरुषार्थ हैं। इन दोनोंमें भी नित्य होनेसे मोक्ष परम पुरुषार्थ है। पुरुषार्थके लिये स्वात्मावलम्बन परम आवश्यक है, यह आप अच्छी तरहसे जानते हैं।

ए सब पुरुष—भाव यह कि चेतन पुरुष और जड़ प्रकृतिके योगसे ही यह सृष्टि (जगत्) है, अर्थात् चेतन और जड़की ग्रन्थि अथवा अभिमान ही जगत्का मूल है। इस ग्रन्थिके बिना छूटे जगत्से निस्तार नहीं, अतः ज्ञान विराग योग विज्ञान ये सब इस ग्रन्थिको तोड़कर मोक्ष देनेवाले हैं। अतः बड़े स्वात्मावलम्बी पुरुषार्थी हैं, पुरुषपदवाच्यके योग्य हैं। यथा—

धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

ये मायाके प्रतिद्वन्द्वी हैं। अतः इनकी चेतनमें ही गिनती है।

पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती।
अबला* अबल सहज जड जाती॥ ८॥

अर्थ—पुरुषका प्रताप सब भाँति प्रबल होता है, और जड जाति अबला (स्त्री) है, स्वभावसे ही निर्बल है।

पुरुष प्रताप—भाव यह कि प्रताप पुरुषके हिस्सेकी वस्तु है। स्वावलम्बी पुरुषार्थीका ही प्रताप होता है, और प्रतापसे दुष्कर कार्य सुकर हो जाता है, यथा—'श्रीरघुबीरप्रतापते सिन्धु तरे पाषान' सो

---

* ज्ञानविज्ञानमें श्मश्रु (दाढ़ी-मूछ) आदि कोई पुरुषके चिह्न नहीं हैं, और न माया-भक्तिमें कुच-केशादि कोई स्त्रीके चिह्न हैं, अतः चेतन जाति और जडजातिके विभागसे पुरुष-स्त्रीका विभाग माना।

ज्ञान विराग योग विज्ञानका भी प्रताप है। उन्हें कुछ करना नहीं पड़ता। उनके रहनेसे ही मोह भाग जाता है। यथा—

सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग्य हृदय नहिं जाके॥

प्रबल सब भाँती—भाव यह कि चित् जडकी ग्रन्थितक छोड़नेमें समर्थ है, यथा—

गाँठि बिनु गुनकी कठिन जड चेतनकी,
छोरयो अनायास साधु सोधक अपानकी॥

(गीतावली)

जडजाति अबला—जिस भाँति चेतनको पुरुष कहते हैं उसी भाँति जड जातिको अबला (स्त्री) कहते हैं। जड़ प्रकृति या माया है। जिस भाँति ज्ञान वैराग्य आदि ग्रन्थिके छोड़नेवाले हैं, उसी भाँति मोहादि ग्रन्थिको दृढ़ करनेवाले हैं। अतः इनकी भी गिनती जड जातिमें है, यथा—

काम क्रोध मद लोभ सब प्रबल मोहकी धारि।
तिन महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥

सहज निर्बलता द्योतन करनेके लिये ही बहुत-से पर्यायोंके रहते हुए भी 'अबला' पद दिया।

सहज अबल—भाव यह कि प्रकृति या मायाको बल नहीं है, यथा—

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निजबल ताके॥
जासु सत्यता ते जड माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

अतः इसमें स्वावलम्बन नहीं। यह वृत्तिरूपी ज्ञानसे नष्ट हो जाती है। इसीलिये इसे सहज निर्बल कहा।

दो०—पुरुष त्याग सक नारिहिं जो बिरक्त मतिधीर ।
नतु कामी बिषयाबस बिमुख जो पद रघुबीर ॥

अर्थ—जो विरक्त मतिधीर पुरुष हैं, वे स्त्रीको त्याग सकते हैं । कामी, विषयोंके वशीभूत और रघुवीरके चरणोंके विमुख ऐसा नहीं कर सकते ।

जो पुरुष बिरक्त मतिधीर—यहाँ 'मतिधीर' शब्दका स्थितप्रज्ञसे अभिप्राय है । अर्थात् ज्ञान-योग-विज्ञानसे युक्त विरक्त पुरुष । भाव यह कि पुरुष और नारीमें भोक्तृ-भोग्य-सम्बन्ध है । अतः परस्परमें आकर्षण है, एक दूसरेको छोड़ नहीं सकते, पर ज्ञान-विराग-योग-विज्ञानमें चित्-जडग्रन्थि छोड़नेकी सामर्थ्य है, अतः एतद्गुणविशिष्ट पुरुष चित्-जडको पृथक्-पृथक् देखता है, अहंकारकी ग्रन्थि उसके लिये खुली हुई-सी है, अस्मिता तनु-अवस्थाको प्राप्त हो गयी है अतः उसे भोक्तृ-भोग्य-दृष्टि ही नहीं रहती ।

त्याग सक नारिहिं—भाव यह कि जिसमें भोक्तृभोग्यभावना नहीं है, जिसकी अस्मिता तनु* भावको प्राप्त हुई है, जो स्थितप्रज्ञ है, वही स्त्रीका परित्याग कर सकता है, भोग्यके आकर्षणसे बचनेकी सामर्थ्य रखता है । स्त्रीके समान कोई भी विषय बन्धनकारक नहीं है, स्त्रीके त्यागसे और सब विषय त्यक्तके ही समान हैं, उनके त्यागमें कोई आयास नहीं है, इसीलिये कहते हैं कि वह नारीको त्याग कर सकता है, दूसरे विषयोंकी गणना ही क्या है ?

नतु कामी विषयावस—जो कामी विषयोंके वशमें है, उसमें जडता है, दुर्बलता है, वह स्त्रीमय है, वह भोग्यके आकर्षणसे नहीं बच सकता, उससे स्त्री नहीं छूट सकती । यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि

* दग्ध हुए बीजका न उगना तनुत्व कहलाता है । विरोधी भावोंसे उपमर्दित हुए क्लेश तनुत्वको प्राप्त होते हैं ।

वस्तुतः स्त्री और पुरुष, जड और चेतन हैं। ज्ञान विराग योग विज्ञान (चेतन) के धर्म हैं, इसीसे इन्हें पुरुष कहा, और काम-क्रोध-मोहादि जडके धर्म हैं, इसीसे इन्हें स्त्री कहा। पुरुषधर्म स्वावलम्बी है, बलवान् है, वह भोक्तृभोग्यभावका नाशक है, और स्त्रीधर्म निर्बल है, परमुखापेक्षी है, वह भोक्तृभोग्यभावका सदा शिकार बना रहेगा।

विमुख जो पद रघुवीर–भाव यह कि ज्ञान विराग योग विज्ञानसे युक्त होनेपर भी जो उपासना (भक्ति) का विरोधी है वह भी स्त्रीका त्याग नहीं कर सकता। क्योंकि बिना भक्तिके अभ्यन्तरका मल जा नहीं सकता, और अभ्यन्तरके मलके रह जानेसे समयपर भोक्तृभोग्यभावके उदय होनेकी पूरी सम्भावना रहती है। भक्ति बनी रहनेसे बराबर आभ्यन्तरिक मल धुलता ही रहता है, और दृक्शक्ति निर्मल बनी रहती है, यथा—

रघुपति भगति वारिछालित चित बिनु प्रयास हीं सूझै।

अतः चेतन-जडके पृथक् दर्शन होते रहनेसे भोक्तृभावका उदय नहीं होता।

सो०—सोउ मुनि ज्ञाननिधान
मृगनयनी बिधुमुख निरखि।
बिबस होहिं हरिजान
नारि बिस्वमाया प्रगट॥

अर्थ–वे ज्ञान-निधान मुनि भी मृगनयनी चन्द्रवदनीको देखकर हे गरुड़जी! विवश हो जाते हैं। स्त्री प्रगट विश्वमाया है।

सोउ मुनि ज्ञाननिधान–भाव यह कि विरक्त मतिधीर ही स्थितप्रज्ञ है, मुनि है; उसे ज्ञाननिधान इसलिये कहा कि उसमें ज्ञान विराग

योग विज्ञान सब कुछ है, उसके क्लेशोंका तनूकरण हो चुका है, अब उसे भोक्तृभोग्यभाव नहीं है, संक्षेपतः वह अपने मनको मार चुका है।

मृगनयनी विधुमुख निरखि—भाव यह कि सुन्दरतामें ऐसी अपूर्व अमृत-सञ्जीवनीशक्ति है कि वह मरे हुए मनको भी जगा देती है, अर्थात् तनूकृत क्लेश भी उदारावस्थाको प्राप्त हो जाता है, यथा—

जागेउ मनोभव मुयेउ मन बन सुभगता न परै कही।
सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही॥
विकसे सरनि बहु कंज मंजुल पुंज गुंजत मधुकरा।
कलहंस सुक पिक सरस रव करि गान नाचहिं अपसरा॥

विवस होहिं—भाव यह कि विशेष करके वश्य हो जाते हैं, जो ही नाच वह नचाती है, वही नाच नाचते हैं। यथा—

नारि विवस नर सकल गोसाईं। नाचैं नट मरकटकी नाईं॥

हरिजान—भाव यह कि हरिजान सम्बोधन करके जिस बातको उठाया था, उसीको हरिजान सम्बोधन करके ही समाप्त करते हैं, यथा—

ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना। और 'विवस होहिं हरिजान।'

विस्वमाया—भाव यह कि संसारमें जितनी माया है उनका यदि विभाग किया जावे तो उत्पत्ति, प्रलय और नाशमें सबका अन्तर्भाव हो जाता है। माया उसीको कहते हैं, जो झूठ होकर सत्य-सी भासे।

नारि प्रगट—सो सब माया स्त्रीमें प्रकट है, और जगत्में गुप्तरूपसे है। जगत्की सृष्टि किसीने देखी नहीं, नाश कोई देख नहीं सकता, जो शक्ति पालन कर रही है, उसका दर्शन दुर्लभ है, बहुत बड़े-बड़े विचारशीलोंको उसका कुछ आभासमात्र मिलता है। स्त्रीमें ये सब बातें प्रकट हैं, यहींसे सब मायाका दर्शन होता है। जिस भाँति स्त्रीसे जीवोंकी उत्पत्ति, पालन और नाश होता है, उसी भाँति मायासे संसारकी उत्पत्ति, पालन और नाश होता है। भेद इतना ही है कि स्त्रीका

सम्बन्ध व्यष्टिसे है और मायाका समष्टिसे । अविचारसे ही स्त्री रमणीया है, विचारसे घृणित वस्तु, रक्त, मांस, मज्जा, स्नायु, अस्थि, चर्मादिका पिण्ड है और दिखायी इतनी सुन्दर पड़ती है, इसी भाँति माया भी दुःखरूपा है, और देखनेमें ऐसी आकर्षक है कि संसार इसीमें फँसकर मर रहा है ।

इहाँ न पच्छपात कछु राखौं ।
बेद पुरान संत मत भाखौं ॥

अर्थ–यहाँपर मैं कुछ पक्षपात नहीं करता, वेद, पुराण और सन्तका मत कह रहा हूँ ।

इहाँ न राखौं–भाव यह कि वहाँ रक्खा था । सन्निकृष्ट अर्थमें 'इहाँ' का प्रयोग है, अर्थात् इस प्रसंगमें । महर्षि लोमशके प्रसंगमें मैंने पूरा पक्षपात किया था, यथा–'पुनि-पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा ।' 'भक्तिपच्छ हठि कर रहेउँ ।' इससे यह न समझ लेना कि ये भक्तिके पक्षपाती हैं, जैसे वहाँ पक्षपात किया था वैसे ही यहाँ भी पक्षपात करते होंगे । वहाँ तो ऋषिजीसे उत्तर-प्रत्युत्तर छिड़ गया था, उत्तर-प्रत्युत्तरमें पक्षपात न करनेसे पक्ष गिर जाता है, अतः पक्षपात करना पड़ता है, यहाँ तो वह बात नहीं है, प्रसन्नतापूर्वक सच्ची जिज्ञासासे प्रश्न हो रहा है, और आदरपूर्वक उत्तर दिया जा रहा है, अतः पक्षपात अनुचित है ।

पच्छपात कछु–भाव यह कि महर्षि लोमशके सामने बहुत कुछ पक्षपात किया था, यहाँ कुछ भी नहीं । पक्षपातके समय दूसरेकी बातको सादर नहीं सुना जाता, सुननेके समय ही उस कथनके विरुद्ध युक्ति सोची जाती है, यथा—

एहि बिधि अमित जुगुति मन गुनेउँ । मुनि उपदेस न सादर सुनेउँ ॥

बेद पुरान संत मत–भाव यह कि वेद स्वतः प्रमाण हैं, पुराण और संतमत परतःप्रमाण हैं अतः पुराण तथा संतके वचन यदि वेदा-विरुद्ध हों तभी ग्राह्य हैं, और वेद-पुराणके वचन भी यदि शिष्टगृहीत

नहीं हैं तो वे भी अग्राह्य हैं, जिस भाँति मेघसे न ग्रहण किया हुआ समुद्रजल अग्राह्य हो जाता है। अतः वे ही वचन अभ्रान्तरूपसे ग्राह्य हो सकते हैं, जो वेद, पुराण और संतसम्मत हों।

भाखौं—भाव यह कि मैं अपने मनकी कोई बात ही यहाँ नहीं कह रहा हूँ। जो बातें वेदपुराणसंतसम्मत निश्चित हैं, उन्हें ही कहता हूँ, अतः उनके प्रमाण होनेमें सन्देह नहीं।

मोह न नारि नारिके रूपा।
पन्नगारि यह नीति अनूपा ॥ ९ ॥

अर्थ—स्त्रीके रूपपर स्त्री मोहित नहीं होती, हे पन्नगारि! यह अनुपम नीति है।

नारि नारिके रूपा—भाव यह कि स्त्री-पुरुषमें ही परस्पर भोक्तृ-भोग्य-भाव है, अतः पुंशक्ति और स्त्रीशक्तिमें आकर्षण है, सुन्दरतासे वह आकर्षणशक्ति बहुत बढ़ जाती है, अतः स्त्रीके रूपपर पुरुष मोहित होते हैं, यथा—

देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥

और पुरुषके रूपपर स्त्री मोहित होती है, यथा—

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखहिं नारी॥

स्त्रीको स्त्रीके रूपपर मोहित होनेका कोई कारण नहीं है, न उनमें भोक्तृभोग्यभाव है और न आकर्षण है।

मोह न—भाव यह कि कारण बिना कार्य नहीं होता। मोहित होनेके लिये रूपवान्‌के प्रति भोग्यबुद्धि भी होनी चाहिये। अतः उस बुद्धिके न होनेसे नहीं मोहती।

पन्नगारि—से भाव यह कि आप भुक्तभोग हैं, आपकी माता

विनता*को कद्रूने कितना दुःख दिया। विनताका रूप कद्रूके द्वेषका कारण हुआ, रागका नहीं। यथा—

'कद्रू विनतहि दीन्ह दुख, तुमहि कौसिला देव।'

और तभीसे आपकी सर्पोंसे शत्रुता हुई।

यह नीति अनूपा—भाव यह कि हमारे यहाँ नीतिका बड़ा आदर है। नीति जाननेके लिये ही धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्रका अध्ययन होता है। अवस्थाविशेषमें जहाँ धर्मार्थ, काममें विरोध पड़ता है, वहाँ उनका तारतम्य समझकर नीति निर्धारण करना ही विद्याका फल है, अतः अवस्थापरिवर्तनसे नीति-नीतिसे परिवर्तन हुआ करता है। ऐसी कोई नीति नहीं है जो सब अवस्थाओंमें लागू हो। केवल 'मोह न नारि नारिके रूपा' यही नीति ऐसी है कि माया-भक्तिसे लेकर लौकिक नारि नारितक समानरूपेण उपयोगी है। इतना ही नहीं, आकर्षण और विप्रकर्षणका सिद्धान्त इस नीतिपर कायम है। इस नीतिमें बाघ नहीं है। इसीलिये अनूप कहा। अब यह शंका उठती है कि—

रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥

'यह कैसे हुआ, सीता भी नारी हैं उन्हें देखनेसे नारियाँ कैसे मोहित हुईं।' उत्तरके लिये दूर नहीं जाना है। राम और सीता यदि नर-नारी रहें तो रामायण ही व्यर्थ है। रामायण तो राम-सीताके यथार्थ स्वरूपका बोध करानेके लिये है। कहना नहीं होगा कि भोक्तृभोग्य-भाव अविद्याकी सीमाके भीतरकी बात है, सो अविद्यासे ही सब नर-

---

* कद्रू सर्पोंकी माता, विनता गरुड़की माता दोनों भगवान् कश्यपकी स्त्रियाँ थीं, सापत्न्यभावसे प्रेरित होकर कद्रूने सर्पोंको सूर्यके घोड़ोंकी पूँछमें लिपटनेकी आज्ञा देकर विनताको काली पूँछ दिखला दी, और प्रतिज्ञानुसार विनता उनकी दासी बनी, समाचार पाकर गरुड़ने उन्हें दासित्वसे विनिर्मुक्त किया, और सर्पोंके शत्रु हुए।

नारी मोहित हैं, सब विषयसुखके पीछे पड़े हुए हैं, अविद्या जड होनेसे भोग्या है, और जीवमात्र (नर और नारी) भोक्तृवर्ग है, चेतन होनेसे उनमें भोक्तृत्व है, जब जीवमात्रके अविद्यासे मोहित होनेमें शंका नहीं तब सर्वश्रेयस्करी मोक्षदात्री महाविद्या सीताके रूपपर जिसके द्वारा ब्रह्म रामको क्षोभ होता है, मोहित होना कौन आश्चर्य है ? यथा—

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा । परम पुनीत मोर मन छोभा ॥

नीतिकी गति धर्मार्थ, कामतक है, श्रीराम-जानकीकी बात नीतिसे परे है, नीतिके पराधीन नहीं है ।

माया भगति सुनौ तुम दोऊ ।
नारि बर्ग जानै सब कोऊ ॥

अर्थ–तुम सुनो, माया और भक्ति नारिवर्ग हैं यह बात सब कोई जानता है ।

सुनौ तुम–यहाँपर कोई नाम न लेकर तुम कहते हैं—भाव यह कि जीवमात्र त्वम् (तुम) पदवाच्य है, गरुड़जी बहुत बड़े हैं, पर हैं जीव, अविद्याके भोक्ता हैं । जीवके लिये यह प्रसंग बड़ा उपयोगी है, अतः बार-बार सुननेके लिये सावधान करते हैं ।

माया भगति दोऊ–भाव यह कि माया और भक्ति दोनों ही भ्रमरूप हैं । अतस्मिन् तद्बुद्धि दोनोंमें है । भेद इतना ही है कि एक विसंवादी भ्रम है और दूसरी संवादी भ्रम है । उदाहरणसे दोनोंका वर्णन इस प्रकार हो सकता है कि रात्रिके समय घरके भीतर जलते हुए दीपका प्रकाश द्वारके किसी छोटे छिद्रद्वारा बाहर आ पड़ा उसे देखकर किसीको मणिका भ्रम हुआ, अतः उसके लिये प्रयत्न करनेवालेको मणिकी प्राप्ति नहीं हो सकती । ऐसे भ्रमको विसंवादी भ्रम कहते हैं । सम्पूर्ण जगत् इसी भ्रममें पड़ा हुआ है । दिनरात सुखके लिये मर रहा है, सुख कहीं मिलता नहीं, यही माया है, विसंवादी भ्रम है । और

मणिकी प्रभा देखकर उसे मणि मान प्रयत्न करनेवालेको मणिकी प्राप्ति होती है। प्रभाको मणि माननेवाला भी भ्रममें ही है, पर उसका भ्रम संवादी है। तत्पदका बिना शोधन किये मिश्र ब्रह्मकी उपासना करनेवाले-को परमानन्दकी प्राप्ति होगी।

नारि वर्ग–भाव यह कि भ्रमरूपा होनेसे दोनों जड हैं, दोनों अबला हैं, पराश्रित हैं। पुरुष (चेतन) प्रकाशमय है, यथा—

पुरुष प्रसिद्ध प्रकासमय, प्रगट परावर नाथ।

और जड अन्धकाररूप है, इसलिये अविद्याको रात्रि कहा, यथा—

प्रथम अविद्या निसा (नसानी)।

—इसमें भी स्त्री अँधियारी रात्रि है, यथा—

'नारि निबिड रजनी अँधियारी।'

इसी भाँति भक्तिको भी रात्रि ही कहा है, पर यह परम प्रकाशरूपा शारदीय पौर्णमासीकी रात्रि है। इसमें रात्रिके दुःख-दोष कुछ भी नहीं होते, प्रत्युत शीतल होनेसे दिनकी अपेक्षा भी कहीं अधिक सुखदायिनी है। इस रात्रिमें भगवन्नामका परम प्रकाश है, यथा—

राका रजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन सरिस, बसउ भगत उर ब्योम॥

जानै सब कोऊ–भाव यह कि सब लोग माया और भक्तिके लिये स्त्रीलिङ्गका ही प्रयोग करते हैं। संस्कृतमें यद्यपि वाच्य और वाचकके लिङ्गमें भेद होता है, पर वहाँ पुंशक्ति और स्त्रीशक्ति अथवा प्रसवशक्ति और संस्त्यानशक्तिको क्रमशः पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्गका कारण माना है। और ये शक्तियाँ सब वस्तुओंमें पायी जाती हैं, अतः जिस लिङ्गकी विवक्षासे व्यवहार प्रचलित है वही लिङ्ग उस वस्तुका माना गया है। अतएव संस्कृतमें भी माया और भक्तिका स्त्रीलिङ्गमें ही प्रयोग है, इसलिये कहा कि सब कोई जानता है।

पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी ।
माया खलु नर्तकी बिचारी ॥१०॥

अर्थ–तिसपर रघुवीरको भक्ति पियारी है और माया बेचारी तो नाचनेवाली है ।

पुनि–भाव यह कि ज्ञान विराग योग विज्ञान पुरुष हैं; यदि ये सुन्दर हुए तो माया इनपर मोहित हो जाती है, इनमें विकार उत्पन्न करनेकी चेष्टा करती है, और यदि सुन्दर न हुए तो परलोकसाधनमें समर्थ न होंगे । भक्तिके स्त्री होनेके कारण उसकी सुन्दरतापर माया मुग्ध नहीं होती, भक्तिमें विकार उत्पन्न करनेकी चेष्टा ही नहीं करती, अतः भक्तिमें मायाके पीछे पड़नेका कोई कारण नहीं है । अब दूसरा कारण देते हैं ।

रघुबीरहिं–रघुवीर* शब्दसे सगुण ब्रह्मका ग्रहण किया, क्योंकि निर्गुण ब्रह्ममें प्यार, कृपा, कोपादि बन नहीं सकते । वह न किसीपर अनुग्रह कर सकता है और न कोप ही कर सकता है । सगुण ब्रह्ममें ही निखिल कल्याणगुणोंकी पराकाष्ठा है ।

भगति पियारी–भाव यह कि राम ब्रह्मपर भक्ति सती स्त्रीकी भाँति अनुरक्ता है, अतः उन्हें प्यारी है । यथा—

ऐसी हरि करत दासपर प्रीति ।
निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत सदा यह रीति ॥
जिन बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करमकी डोरी ।
सोइ अबिछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यौ सकत न छोरी ॥

---

* श्रीरघुबीरकी यह बानि ।
नीचहू सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि ॥
परम अधम निषाद पामर कौन ताकी कानि ।
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों, प्रेमको पहिचानि ॥

जाकी माया बस बिरंचि सिव, नाचत पार न पायो ।
करतल ताल बजाइ ग्वाल-जुवतिन्ह सोइ नाच नचायो ॥
बिस्वंभर श्रीपति त्रिभुवनपति बेद बिदित यह लीख ।
बलि सों कछु न चली प्रभुता बरु है द्विज माँगी भीख ॥
जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुख भार ।
अंबरीप हित लागि कृपानिधि सोइ जनमे दस बार ॥
जोग बिराग ध्यान जप तप करि जेहि खोजत मुनि ग्यानी ।
बानर भालु चपल पसु पामर नाथ तहाँ रति मानी ॥
लोकपाल जम काल पवन रबि ससि सब आग्याकारी ।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेनके द्वार बेत कर धारी ॥

(विनयपत्रिका)

माया बिचारी–भाव यह कि रघुवीरकी प्यारी होनेसे भक्तिकी बड़ी भारी प्रभुता हो गयी, स्वयं प्रभु उसके वशमें हो गये हैं, सब साधनोंको छोड़ उसीपर रीझे हुए हैं, यथा—'रीझत राम सनेह निसोते ।' मायाका कोई चारा नहीं चलता, इसीलिये बिचारी कहा ।

खलु नर्तकी–भाव यह कि मायाकी कोई प्रतिष्ठा नहीं। जहाँ-जहाँ बन्धनके कारणरूपसे माया कही गयी है वहाँ मायाका अर्थ अविद्या है । यहाँ भी वही बात है इसीलिये कहते हैं कि माया तो नर्तकीमात्र है, वह अनेक भाव बतलाकर परपुरुषोंको ठगा करती है । उसकी स्थिति ही पर-पुरुषोंके ठगनेपर अवलम्बित है ।

भगतिहिं सानुकूल रघुराया ।
ताते तेहि डरपति अति माया ॥

अर्थ–रघुराज भक्तिके सानुकूल हैं, इससे उनसे माया बहुत डरती है ।

रघुराया–भाव यह कि प्रीतिकी रीति जाननेवाले हैं, यथा—

जानत प्रीतिरीति रघुराई ।

....

प्रेम कनौड़ो रामसो प्रभु त्रिभुवन तिहुँ काल न भाई ॥
तेरो रिनी हौं कह्यो कपिसों ऐसी मानिहै को सेवकाई ।
(विनयपत्रिका)

इतना बड़ा प्रभु होकर भी प्रेमका इतना कृतज्ञ होनेवाला रघुराईको छोड़कर और कौन है ?

भगतिहि सानुकूल–भक्ति श्रीरघुनाथजीकी प्यारी है, अतएव वे भक्तिपर सानुकूल हैं । रानियोंमेंसे जिसपर सम्राट्की सानुकूलता होती है, उसीकी दोहाई होती है, उसीसे सब डरते हैं । राजाकी प्रियाका अनहित कौन कर सकता है ? उसकी सुदृष्टि-कुदृष्टिसे रंक राव और राव रंक बनते हैं । यथा—

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा । केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा ॥
कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू । कहु केहि नृपहि निकारौं देसू ॥

फिर स्वयं रघुराया जिसके सानुकूल हैं । उसकी महिमा और प्रभुताका वर्णन तो कौन कर सकता है ?

ताते माया–भाव यह कि माया बेचारी नर्तकी ठहरी, उनके इशारेपर नाचनेवाली ! उसकी क्या सामर्थ्य जो उनकी प्रियाका अनिष्टाचरण कर सके ।

रघुबंसिन्हकर सहज सुभाऊ । मन कुपंथ पग धरहिं न काऊ ॥

अतः नर्तकीको कभी भी उनकी प्रिया होनेकी आशा भी नहीं, सदा चेरी बनकर रहना ठहरा, यथा—चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी ।

डरपति अति–भाव यह कि वह रघुराईसे अति सभीत रहती है, हाथ जोड़े दूर खड़ी रहती है, अतः उनकी पट्टाभिषिक्ता प्रिया राजमहिषीसे भी बहुत ही डरती है । उसे जितना डर रामसे नहीं उतना भय

भक्तिसे है; क्योंकि राम तो सभीके अधिष्ठान हैं, अतएव अविरोधी हैं। पर भक्तिका स्वभाव मायासे विरुद्ध है। माया जीवमात्रकी भोग्या तथा बन्धनकारिणी है, और भक्ति सबकी माता तथा बन्धन काटनेवाली है। यथा—

देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी॥
देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही॥

इसलिये भक्तिसे माया डरती हुई दूर खड़ी रहती है। जिसका चित्त परमेश्वरमें लगा हुआ है, उसे मायाकी ओर निरीक्षण करनेका अवकाश ही नहीं है। यथा—

मन तहँ जहँ रघुबर-बैदेही। बिनु मन तन दुख सुखसुधि केही॥

रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी॥ ११॥

अर्थ-निरुपाधि, निरुपम रामभक्ति जिसके हृदयमें सदा अबाधितरूपसे बसती है।

रामभगति—मनुष्योंके श्रेयके लिये चार योग कहे गये हैं—(१) कर्मयोग, (२) अष्टाङ्गयोग, (३) ज्ञानयोग और (४) भक्तियोग। इनमेंसे कर्मयोग और ज्ञानका निर्वाह भक्तिकी सहायतासे ही हो सकता है। नहीं तो मायाद्वारा विघ्नाचरणसे फलसिद्धि असम्भव हो जाती है।

निरुपम—भाव यह कि भक्तिकी उपमा इन तीनोंमेंसे किसीसे नहीं दी जा सकती, क्योंकि कर्मयोग और अष्टाङ्गयोगसे तो इसकी उपमा हो ही नहीं सकती, यथा—जोग न जप तप मख उपवासा। रह गया ज्ञान, सो उससे भी 'संसारसे उत्पन्न दुःखहरण' रूप फलमें ही समानता है, वस्तुसाम्य नहीं है। क्योंकि इसके (१) स्वरूप (२) साधन (३) फल (४) अधिकारीमें विलक्षणता है। (१) चित्तके

द्रवीभूत होनेपर मनका रामाकार होना, यही सविकल्पक वृत्ति भक्ति है, और कठोर चित्त जब अद्वितीय आत्मामात्रको विषय करता है, तब उस निर्विकल्पक वृत्तिको ज्ञान कहते हैं; (२) रामगुणग्रामसे भरी रामकथाका श्रवण भक्तिका साधन है, और 'सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा (तत्त्वमसि) आदि महावाक्य ज्ञानका साधन है; (३) राम-प्रेमका प्रकर्ष भक्तिका फल है और अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानका फल है; तथा (४) भक्तिमें प्राणीमात्रका अधिकार है और ज्ञानमें साधनचतुष्टय-सम्पन्न संन्यासीका ही अधिकार है। अतः भक्तिकी उपमा किसीसे नहीं दे सकते।

निरुपाधी–फलरूपा भक्तिमें कामना ही उपाधि है। किसी कामनाकी सिद्धिके लिये प्रेम करना वस्तुतः प्रेम नहीं। प्रेमका शुद्ध रूप वही है जिसमें कामना नहीं है। जिसे कोई कामना है, उसे भक्तिका रस नहीं मिला, उसके लिये भक्ति भावमात्र है। भरद्वाजजीका मत है कि भक्ति-भावको रसरूपमें परिणत करके भरतजीद्वारा पहले-पहल दिखलाया गया। यथा—

तुमकहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेस।
रामभगतिरस सिद्धिहित भा यह समय गनेस॥

गोस्वामीजीका भी यही मत है, यथा—

प्रेम अमिअ मन्दर बिरह भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रकटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥

जासु उर सदा बसै–भक्ति जिसके मनमें सदाके लिये बस जाय, निकालनेसे न निकले। भक्तिसे क्षणमात्रका वियोग सहन न कर सके, यथा—

रामभगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥

वैसे तो बहुत-से जीव हैं, जो जलचर कहलाते हैं; पर वे सदा

जलमें नहीं रहते, कभी बाहर आकर धूप भी खाने लगते हैं। सदा बसनेवाली मछली ही है; जलसे अलग होते ही वह प्राण देने लगती है। यथा—

मकर उरग दादुर कमठ जल जीवन जल गेह।
तुलसी एकै मीनकहँ है साँचिलो सनेह॥

अबाधी—भाव यह कि उसका बाध न हो। ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तर जगत्‌का बाध हो जाता है, पर भक्तिका बाध न हो। यथा—

अस बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायेउ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥

तेहि बिलोकि माया सकुचाई।
करि न सकै कछु निज प्रभुताई॥

अर्थ—उसे देखकर मायाको संकोच होता है, अपनी प्रभुता कुछ कर नहीं सकती।

तेहि बिलोकि—भाव यह कि जिस पुरुषके मनमें उपर्युक्त अनपायिनी भक्ति बसी हुई है, उसका स्वरूप देखकर मायाका साहस छूट जाता है, भक्तिके आते ही स्वरूपमें अन्तर पड़ जाता है, विषयरससे रूखापन और रामसे सरसता उसके चेहरेसे टपकने लगती है।

माया सकुचाई—भाव यह कि मायामें संकोचन और विकासन दोनों शक्तियाँ हैं। विकासवाद और संकोचवादकी इसीसे उत्पत्ति हुई है। स्त्रीके देखनेसे मायामें विकास होता है, क्योंकि वही तो इसका परम बल है। यथा—

तेहिकर एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई।························॥
························। पलुहै नारि सिसिर रितु पाई॥

और जिसके हृदयमें भक्ति हो उसके दर्शनमात्रसे मायाको सङ्कोच होता है, क्योंकि उसके बलका ह्रास हो जाता है, भक्तिके आगमनमात्रसे

मायाका तेजोवध होता है, क्योंकि उस घरमें उसकी पैठ अब नहीं हो सकती।

निज प्रभुताई—भाव यह कि जीवमात्रपर मायाकी प्रभुता है; उसीके इशारेपर जीवमात्र नाचा करते हैं। जीवोंको नचाना ही मायाकी प्रभुता है, यथा—

नाचत ही निसिदिवस मरयो।
तब ही ते न भयो हरि थिर जबतें जिव नाम धरयो॥
बहु बासना विविध कंचुकि भूषन लोभादि भरयो।
चर अरु अचर गगन जल थलमें कौन न स्वाँग करयो॥
देव-दनुज, मुनि, नाग, मनुज नहिं जाँचत कोउ उबरयो।
मेरो दुसह दरिद्र, दोष, दुख काहू तौ न हरयो॥
थके नयन, पद, पानि, सुमति बल, संग सकल बिछुरयो।
अब रघुनाथ सरन आयों तकि भव-भय विकल डरयो॥

(विनय०)

करि न सकै कछु—भाव यह कि सामर्थ्य रहते अपने हाथसे शिकार निकल गया, पर भक्तिके कारण वह कुछ कर नहीं सकती, यथा—

मैं तोहिं अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकहिं मोहि हरिके बल, प्रगट कपट-आगार॥
देखत ही कमनीय, कछू नाहिंन पुनि किये विचार।
ज्यों कदलीतरु-मध्य निहारत, कबहुँ न निकसत सार॥
तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार।
महामोह-मृगजल-सरितामहँ बोरयो हौं बारहिं बार॥
सुनु खल! छल-बल कोटि किये बस होहिं न भगत उदार।
सहित सहाय तहाँ बसि अब, जेहि हृदय न नंदकुमार॥
तासों करहु चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार।
सो परि डरै मरै रजु-अहितें, बूझै नहिं व्यवहार॥

निज हित सुनु सठ! हठ न करहि जो चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभुके दासनि तजि भजहि जहाँ मद मार॥

अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी।
जाचहिं भगति सकल सुखखानी ॥१२॥

अर्थ—ऐसा विचार करके जो विज्ञानी मुनि हैं, वे सब सुखखानि भक्ति माँगते हैं।

अस बिचारि—भाव यह कि एक तो स्वभावसे ही मायाका आकर्षण भक्तिकी ओर नहीं हो सकता; यदि हो भी तो उसकी प्रभुताई भक्तिके सामने चल नहीं सकती, भक्तिको देखकर उसे संकोच होता है, अतः मायासे बचे रहनेका एकमात्र उपाय भक्ति है; और मायामें यह सामर्थ्य है कि ज्ञानीके चित्तको बलात् खींचकर मोहके वशमें कर देती है और जहाँ मोहके वश पड़ा वहीं फिर दुःखसागरमें निमग्न हुआ, यथा—

जो ज्ञानिहु कर चित अपहरई। बरिआइँ बिमोहबस करई॥

जे मुनि बिज्ञानी—भाव यह कि सबसे ऊँचे ज्ञानी अर्थात् ब्रह्मलीन संन्यासी भी, यथा—'ब्रह्मग्यान रत मुनि बिग्यानी।' विज्ञानीका पाँचवाँ दर्जा है। धर्मशीलसे विरक्त बड़े, उनसे ज्ञानी बड़े, जीवन्मुक्त उनसे भी बड़े और ब्रह्मलीन विज्ञानी सबसे बड़े हैं।

सकल सुखखानी—भाव यह कि अणिमादि सिद्धि, ऋद्धि, ज्ञान, विवेक, वैराग्य, विज्ञान आदि मुनि दुर्लभ गुण सभी सुख हैं, यथा—'प्रभु कह देन सकल सुख सही'; पर सब सुखोंकी खानि भक्ति है; इसीसे ये सब उत्पन्न होते हैं।

जाचहिं भगति—भाव यह कि यह अनपायिनी भक्ति क्रियासे साध्य नहीं है, कृपासाध्य है। साधनभक्तिसे अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर भक्तलोग भगवान्‌से यही भक्ति माँगते हैं;

यथा—

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगवनिर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च ॥

विज्ञानी भी पतनके भयसे इसी भक्तिकी याचना करते हैं ।

दो०—यह रहस्य रघुनाथकर बेगि न जानै कोइ ।
जो जानै रघुपतिकृपा सपनेहु मोह न होइ ॥

अर्थ—रघुनाथके इस रहस्यको जल्दी कोई नहीं जान सकता, यदि रघुपतिकृपासे जान ले तो उसे सपनेमें भी मोह नहीं होता ।

यह रहस्य—भाव यह कि गिरिजाका प्रश्न हुआ था कि—

औरौ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ अति विमल विवेका॥

इसपर शङ्कर भगवान्‌ने काकभुशुण्डिकी कथा कहकर दो रहस्योंका वर्णन किया । रहस्य कहते हैं गुप्त बातको । सो पहले चरितविषयक परम रहस्य कहा—

यह सब गुप्त चरित मैं गावा । हरि माया जिमि मोहि नचावा ॥

रघुनाथकर—भाव यह कि यह रहस्य चरितका नहीं है, स्वयं रघुनाथविषयक है । केवल रघुनाथका प्यार भक्तिपर होनेसे ही भक्ति सर्वश्रेयस्करी है ।

बेगि न जानै कोइ—भाव यह कि 'ज्ञान मोच्छप्रद वेद बखाना' यह बात ठीक है, और सब कोई जानता है; पर जो इस रहस्यको जानता है, वह ज्ञानसे भी अधिक आदर भक्तिका करेगा, पर यह रहस्य जल्दी कोई जान नहीं सकता ।

जानै जो रघुपतिकृपा—भाव यह कि जल्दी समझमें न आनेका कारण यही है कि जिनपर रघुपतिकृपा होती है, उसीकी समझमें यह रहस्य आता है, नहीं तो बार-बार इसे पढ़ा कीजिये कभी समझमें न आवेगा। जितनी उनकी कृपा मुझपर थी उतना ही मैंने भी समझा है, और जो समझा है उसे लिख दिया है, कोई यह न समझ बैठे कि इसका तात्पर्य यही या इतना ही है।

सपनेहु मोह न होइ—भाव यह कि रघुपतिकृपासे इसे जान लेनेपर फिर सपनेमें भी मोह नहीं होता। मोह न होना ही रहस्यके जान लेनेका लक्षण है। यदि इसके समझनेपर मोह जाता रहे तो समझिये कि जान पाया और यदि मोह बना है तो यही समझना चाहिये कि रहस्य मैंने नहीं जान पाया।

दो०—औरौ ज्ञान भगतिकर भेद सुनहु सुप्रवीन।
जो सुनि होइ रामपद प्रीति सदा अविछीन॥११६॥

अर्थ—हे सुप्रवीन, भक्ति और ज्ञानका और भी भेद सुनो, जिसके सुननेसे रामजीके चरणोंमें सदा अविच्छिन्न प्रीति होती है।

औरौ ज्ञान भगतिकर भेद—भाव यह कि प्रथम भेद कथनमें बीजरूपसे 'राम भगति अनुपम निरुपाधी' कहकर जिस बातको इङ्गित किया था, आगे उसीका विस्तृतरूपसे वर्णन करेंगे। प्रथम भेदकथनमें भक्तिके आदरातिशयका रहस्य बतलाया गया, अब द्वितीय भेदकथनमें स्वरूप, साधन, फल और अधिकारीका भेद बतलाया जावेगा।

सुप्रवीन सुनहु—यहाँपर सुप्रवीण सम्बोधनसे तात्पर्य यह कि इस भेदके सुननेका वही अधिकारी है, जो सुप्रवीण हो; आप सुप्रवीण हैं, इसलिये सुनिये। प्रवीण कहते हैं—जानकारको, यथा—'कवि न होहुँ नहि

बचनप्रबीनू ।' दूसरा प्रसंग आरम्भ करते हैं, इसलिये श्रोताको सुनहु कहके फिर सावधान करते हैं ।

रामपद सदा अविछीन प्रीति–भाव यह कि रामपदमें प्रीति शास्त्रोंके तथा गुरुके उपदेशसे होती तो है, पर अविच्छिन्न तैलधारावत् नहीं होती, बीच-बीचमें बराबर अन्तर पड़ता जाता है और अन्तर पड़ना ही भारी अन्तराय है अतः सब महात्मा भगवान्से अविच्छिन्न प्रीतिके लिये ही प्रार्थना करते हैं ।

जो सुनि होइ–भाव यह कि पहले भेदकथनकी यह फलश्रुति है कि 'सपनेमें भी मोह न होय' अब दूसरे भेदकथनकी फलश्रुति कहते हैं कि अविच्छिन्न अर्थात् अनपायिनी भक्ति हो । तात्पर्य यह कि इनके हृदयमें धारण करनेसे हरिकृपा अवश्य होती है और अनपायिनी भक्ति हरिकृपासाध्य है ।

द्वितीय प्रसङ्ग

ज्ञानदीपक

सुनहु तात यह अकथ कहानी ।
समुझत बनै न जात बखानी ॥

अर्थ–हे तात, यह अकथ कहानी, जो कहते और समझते नहीं वनती, उसे सुनो ।

सुनहु–इससे शिष्य (गरुड़जी) का प्रश्न सूचित किया ।

ज्ञानहिं भगतिहिं अंतर केता । सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता ॥

तात–से भुशुण्डिजीने शिष्यपर प्रेम दिखलाया ।

यह अकथ–से भक्तिके साधनका सुकथ होना दरसाया ।

यथा—

भगतिके साधन कहौं बखानी । सुगम पंथ मोहि पावैं प्रानी ॥

कहानी–से 'अजातवाद' दिखलाया कि हम जो कुछ कहते हैं सो

कहानी है। कहानी सत्य नहीं होती, अतः यह भी पारमार्थिक* सत्य नहीं है। सत्य तो एकमात्र निर्विशेष ब्रह्मकी स्थिति है। जिस प्रकार शशके कभी शृङ्ग नहीं हुआ, आकाशमें कुसुम नहीं हुआ, वन्ध्याको पुत्र नहीं हुआ, उसी प्रकार यह सब कुछ भी कभी हुआ ही नहीं, फिर किसका बन्ध और किसका मोक्ष? जो दिखायी पड़ता है सो भ्रम है। उस ब्रह्ममें अंश-अंशी-भेद न है और न हो सकता है। माया और उसके प्रपञ्चका उसमें स्पर्श भी नहीं है। यथा—

(१) अनघ अद्वैत अनवद्य अव्यक्त अज
अमित अविकार आनंदसिंधो ॥
(विनयप०)

(२) राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोहनिसा लवलेसा॥
सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥
हरष विषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥

(३) यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया॥
(विनयप०)

(४) जग नभ वाटिका रही है फल फूलि रे,
धूआँ कैसो धौरहर देखि तू न भूलि रे॥
(विनयप०)

शिष्यको संसार और बन्धकी प्रतीति होती है। उसे इस प्रपञ्चके समझने और इससे मुक्ति-लाभ करनेके लिये जिज्ञासा है, अतएव गुरु उसकी दृष्टिके अनुसार, उसको समझानेके लिये निष्प्रपञ्चमें पहले प्रपञ्चका अध्यारोप करते हैं और फिर प्रपञ्चका अपवाद करके यथार्थ स्वरूपका उपदेश करते हैं, अतएव यह अध्यारोप-अपवादका उपदेश भी शिष्यके लिये ही है। जिज्ञासाके पूर्वके साधनचतुष्टय सब इसी प्रकारके ही हैं। अतएव

---

* सत्य दो प्रकारका होता है—(१) पारमार्थिक और (२) व्यावहारिक। पारमार्थिक मिथ्या ही व्यावहारिक सत्य है।

इस मिथ्या कथाको कहानी कहा। परन्तु इस कहानी सुननेवालेको सिद्धान्त-ज्ञान होता है, क्योंकि कहानीकी समाप्तिपर कहेंगे कि 'कहेउँ ज्ञान-सिद्धांत बुझाई।' अतः साधनचतुष्टयसे ममता-मलके नष्ट होनेपर ही इस कहानीके कहनेका भी विधान है, यह कहानी यदि 'ममता-रत' से कही जायगी, तो ऊसरमें बीज बोनेकी भाँति व्यर्थ होगी, यथा—

'ममतारत सन ज्ञान कहानी।'
'ऊसर बीज बए फल जथा॥'

समुझत बनै न—समझते नहीं बनता। भाव यह कि निर्गुण ब्रह्म और गुणमयी मायाके संयोग-वियोगका इसमें वर्णन है। निर्गुण ब्रह्म ज्ञेय नहीं है, जाना वही जा सकता है जो ज्ञेय हो, स्वयं द्रष्टा कैसे जाना जाय ? और द्रष्टा ही ब्रह्म है, अतएव वह नहीं जाना जा सकता, यथा—

जगपेखन तुम देखनहारे। बिधि-हरि-संभु नचावनहारे॥
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुमहि को जाननिहारा॥

माया भी नहीं जानी जा सकती, वह तो अघटनघटनापटीयसी है, जो हो न सके उसीको कर दिखाना मायाका काम है। यथा—

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥

और संयोग-वियोग ब्रह्ममें बनता नहीं, यथा—'सपनेहु जोग वियोग न जाके' अतएव यदि समझते बने तभी आश्चर्य है।

न जात बखानी—बखानते भी नहीं बनता। भाव यह कि उसको कहनेके लिये उपयुक्त शब्द ही नहीं मिलते, यथा—

केसव ! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र हरि समुझि मनहिं मन रहिये॥
सून्य भीतिपर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइय यहि तनु हेरे॥

....

कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै॥
(विनयप०)

परन्तु वेदान्तके वाक्योंको गुरु-मुखद्वारा सुनते-सुनते अनुभव हो सकता है, यथा—

'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान।'
'अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता।'

इस चौपाईसे 'नित्यानित्यवस्तुविवेक' रूपी प्रथम साधन बतलाया गया।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥१३॥

अर्थ—चेतन, अमल, सहज सुखराशि जीव ईश्वरका अंश है।

ईश्वर—ईश्वर और ब्रह्ममें अवस्थाभेदमात्र है, वस्तुभेद नहीं है। ब्रह्मकी कोई अवस्था न होनेके कारण, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिकी अपेक्षा उसे तुरीय (चौथा) कहते हैं, और उस अपेक्षाको भी छोड़कर उसे तुरीयातीत या केवल तुरीय कहते हैं। यथा—'तुरीयमेव केवलम्' वही ब्रह्म जब जगत्के प्रकाशकरूप अर्थात् मायापतिके रूपसे देखे जाते हैं, तब ईश्वर कहलाते हैं। यथा—

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञानगुनधामू॥

अंस—उस मायापति ईश्वरका अंश। कहनेका भाव यह कि ब्रह्म और मायाको लेकर ही सब प्रपञ्च है। पूर्ण ब्रह्मका खण्ड नहीं होता। यथा—'जद्यपि एक <u>अखंड</u> अनंता।' फिर भी मलिनसत्त्वा माया (अज्ञान) द्वारा उसके अंशकी कल्पना होती है, जिसे कूटस्थ या साक्षी कहते हैं।

साक्षी कूटस्थ भी ब्रह्म ही है, यथा—'प्रकृतिपार प्रभु सब उरबासी' परन्तु जैसे महाकाश और घटाकाशमें कल्पित भेद है, वैसे ही यहाँ भी कल्पित भेद है। यथा—'मुषा भेद जद्यपि कृतमाया।' अभिप्राय यह कि तूला-विद्याका आश्रय साक्षी कूटस्थ है और मूलाविद्याका आश्रय साक्षी ब्रह्म है। प्रत्येक व्यक्तिमें तूलाविद्या भिन्न-भिन्न है और समष्टिभूता मूलाविद्या एक ही है। तूलाविद्याके भेदसे उसके साक्षी-कूटस्थमें भेद माना जाता है। इसीलिये गोस्वामीजीने 'राम' से ब्रह्म, ईश्वर और कूटस्थ तीनोंका ग्रहण किया है, क्योंकि एक ही तीन भाँतिसे प्रकाशित होता है।

जीव—मलिनसत्त्वा मायामें जब ब्रह्मका प्रतिविम्ब पड़ता है, तो सत्त्वके मालिन्यसे अनन्त प्रतिविम्ब हो जाते हैं और उन प्रतिविम्बोंकी वह मलिनसत्त्वा माया ही देह हो जाती है। वही देह कारणशरीर कहलाती है और उसका अभिमानी जीव प्राज्ञ कहलाता है। मलिन-सत्त्वा-माया, तूलाविद्या, अज्ञान, अहंकार, कारणशरीर और नाम-रूपात्मिका ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। गोस्वामीजीने जीवकी मैले पानीसे उपमा दी है। यथा—

भूमि परत भा डाबर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी॥
परबस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥

अबिनासी—अर्थात् जिस भाँति ईश्वर सद्रूप, अविनाशी है, उसी भाँति जीव भी अविनाशी है, सद्रूप है। यथा—

'जीव नित्य (तैं केहि लगि रोवा)'

चेतन—अर्थात् जड़से सम्बन्ध होनेपर भी प्रज्ञानघन है, यथा—

निज सहज अनुभवरूप (तव खल भूलि धौं आयो कहाँ)।

अमल—यानी निर्मल, इससे यह दिखलाया कि अभीतक (सुषुप्ति-तक) जीव ममतारूपी मलसे रहित है। गोस्वामीजीने ममताको मल माना है, यथा—'ममतामल जरि जाय।'

सहज सुखरासी—अर्थात् कारणशरीराभिमानी होनेपर भी आनन्द-भोक्ता है। इसीसे कारणशरीरको आनन्दमय कोष कहते हैं। उसकी अवस्था सुषुप्ति है, यथा—'अब सुख सोवत सोच नहिं।'

सो मायाबस भयेउ गोसाईं।
बँध्यो कीर मरकटकी नाईं॥

अर्थ—वह प्रभु मायाके वश हो गया और शुक (सुग्गे) तथा वन्दरकी भाँति बँध गया।

सो गोसाईं—वह प्रभु। प्रभुके अर्थमें 'गोस्वामी' शब्द रामचरित-मानसमें व्यवहृत है, यथा—

स्वामि गोसाइँहिं सरिस गोसाईं। मोहि समान मैं स्वामि दोहाई॥

सो गोसाइँ जेहि बिधिगति छेकी। इत्यादि—

प्रभु (कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तु समर्थः) है, पर इस दशाको प्राप्त हो गया। यथा—

निष्काज राज बिहाय नृप इव सपन-कारागृह पर्यौ।

(विनय०)

ईश्वरने तो केवल जगत्को उत्पन्न किया, वह उसका भोक्ता नहीं है। भोक्ता तो जीव है, इसलिये जीवको प्रभु कहा। भोगकी कल्पना जीवकी है। उसीने जाग्रत्से लेकर मोक्षतक संसारकी कल्पना की है।

माया—सत्त्व, रज और तमकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं, ईश्वरकी यही शक्ति माया कहलाती है, यथा—'सो हरि माया सब गुन-खानी।' ब्रह्मसे पृथक् मायाकी सत्ता नहीं है, इसलिये उसे सत् नहीं कह सकते, परन्तु उससे पृथक् मायाका कार्य दृष्टिगोचर होता है, इसलिये उसे असत् भी नहीं कह सकते, अतएव माया अनिर्वचनीया है। ब्रह्मसे

यह सर्वथा विलक्षण है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है और माया मिथ्या, जड़ एवं दुःखरूपा है। मिथ्या, यथा—'समुझे मिथ्या सोपि जड़' यथा—'जासु सत्यताते जड़ माया।' दुःखरूपा, यथा—'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा।' जिस प्रकार व्यवहारमें सत्यसे मिथ्या विलक्षण होते हुए भी, सत्यके आधारपर स्थिर रहता है, सत्यके बलसे प्रकाशित रहता है और सत्यके ज्ञानसे बाधित होता है, वैसे ही पारमार्थिक मिथ्या (माया) भी पारमार्थिक सत्य (ब्रह्म) के आश्रित, ब्रह्मसे प्रकाशित तथा ब्रह्मसे विलक्षण है और ब्रह्मज्ञानसे ही उसका बाध होता है। यथा—

झूठहु सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥

तीनों गुणोंका यह स्वभाव है कि वे एक दूसरेको छोड़कर भी नहीं रह सकते, और एक दूसरेको दबाया भी करते हैं। अतः गुणोंके तारतम्यसे मायाके भी अनेक भेद हैं, जिनमें दो प्रधान हैं। (१) शुद्ध-सत्त्वा माया,—जिसमें रज और तमका लेशमात्र है, जो विद्या कहलाती है। और जो जगत्‌की रचना करनेमें समर्थ है, और (२) मलिन-सत्त्वा माया, जो अविद्या कहलाती है और जीवके बन्धनका कारण है। यथा—

तेहिकर भेद सुनौ तुम दोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जेहि बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥

बस भयेउ—मायाके वशमें हो गया। अघटन-घटना-पटीयसी मायाकी यह करामात है कि वह छायाद्वारा बिम्बको वशीभूत कर लेती है। यथा—

'करि माया नभके खग गहई।'
'गहै छाँह सक सो न उड़ाई॥'

अतः कूटस्थ, तूला-माया और प्रतिबिम्ब तीनों मिलकर जीव हुए,

अब माया जो-जो और जैसा-जैसा नाच नचाती है, जीव वह और वैसा ही नाच नाचता है। यथा—

'देखा जीव नचावै जाही।'
'नाचत ही निसि दिवस मर्यो।
तबहीते न भयो हरि थिर जबतें जिव नाम धर्यो'

बँध्यो—अर्थात् कूटस्थ प्रतिविम्बद्वारा मायासे बँध-सा गया, जैसे घटाकाश जलाकाशद्वारा जलसे बँध जाता है। जिस प्रकार प्रतिविम्ब जलके दोषोंसे दूषित होता है, चञ्चल होनेसे चञ्चल होता है, उछलनेसे उछलता है, गिरनेसे गिरता है, दौड़नेसे दौड़ता है, निदान जलसे बँध जाता है, उसी प्रकार जीव भी मायासे बँध-सा गया। परन्तु जड़का उदाहरण देनेसे किसीको जीवके प्रति जड़का सन्देह न हो तथा यह शंका न हो कि अज्ञान कोई रस्सी तो नहीं है जिससे कोई बाँधा जा सके, इसलिये कहा है कि—

बँध्यो कीर मरकटकी नाईं॥

कीरकी नाईं—सुग्गेकी भाँति बँध गया। भाव यह कि बहेलिया दो तिल्लियाँ गाड़कर उनके सिरपर एक तीसरी तिल्ली बाँध देता है और उस तीसरी तिल्लीमें बाँसकी नली पहिना देता है, नीचे दाने रख देता है। सुग्गोंका स्वभाव ऊँचेपर बैठनेका होता है। अतएव जब वह नलीपर बैठकर दाना लेनेके लिये झुकता है तब नली घूम जाती है, और सुग्गा उलटा लटकने लगता है। अज्ञानसे भयवश उसे छोड़ता नहीं, अन्तमें बहेलिया आकर उसे पकड़ लेता है। विचार करनेपर मालूम होगा कि यहाँ सुग्गोंको अज्ञानके सिवा कोई दूसरा बन्धन नहीं है।

किसी महात्माने सुग्गोंकी यह दुर्दशा देखकर एक सुग्गा पाला और वह उसे पढ़ाने लगे—'देखो! सुग्गा! दानोंका लोभ करके नलीपर न बैठना और यदि बैठना तो उसके घूमनेपर निडर होकर उसे छोड़ देना।' जब सुग्गा पढ़कर पण्डित हो गया तो उसे छोड़ दिया। उस

सुग्गेका वाक्य सुनकर दूसरे सुग्गे भी वैसे ही बोलने लगे। महात्मा बड़े प्रसन्न हुए कि सभी सुग्गोंका भय निवृत्त हो गया। परन्तु उनके आश्चर्यका कोई ठिकाना नहीं रहा, जब कि उन्होंने एक सुग्गेको उसी प्रकार उलटा लटके हुए यह पढ़ते पाया कि 'देखो सुग्गा! दानोंका लोभ न करना' इत्यादि। व्यवहारकालमें (वाचक ज्ञानी) पण्डितोंकी भी स्थिति मूर्खों-सी देखी जाती है। अतएव पण्डितोंका अज्ञान-बन्धन दिखलानेके लिये 'कीरकी नाईं' कहा।

मरकटकी नाईं—वानर भी ऐसे ही बँधता है, उसका हाथ जाने लायक छेदवाली कुल्हिया दानोंसे भरकर जमीनमें गाड़ दी जाती है। वानर उसमें हाथ डालकर मुट्ठीमें दाने पकड़ लेता है। जब मुट्ठी उसमेंसे नहीं निकलती तब वह बँध जाता है। लोभसे, अज्ञानसे वह मुट्ठी नहीं छोड़ता। अतः वह भी अज्ञानसे ही बँधा है। यह मूर्ख होनेसे 'सुग्गा पण्डित' की भाँति मोक्ष-शास्त्रका पाठ करते हुए बद्ध नहीं है। मूर्खका बन्धन दिखलानेके लिये 'मरकटकी नाईं' कहा।

इसी तरह जीव अज्ञान-बन्धनसे बँधा हुआ है, हज़ार प्रयत्न करनेपर भी नहीं छूटता।

जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥१४॥

अर्थ-जड़-चेतनमें गाँठ पड़ गयी, वह यद्यपि झूठी है, पर (उसका) छूटना कठिन है।

जड़ चेतनहिं—जड़-चेतन दोनों विरुद्ध स्वभाववाले पदार्थ हैं। एक अन्धकार है, तो दूसरा प्रकाश है। एक विषय है, तो दूसरा विषयी है। एक मिथ्या है तो दूसरा सत्य है। इन दोनोंमेंसे एकका दूसरेमें अध्यास (भ्रम) होना अथवा एकके धर्मका दूसरेमें अध्यास होना मिथ्या है। यथा—

छिति जल पावक गगन समीरा । पंचरचित यह अधम सरीरा ॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा । जीव नित्य तैं केहि लगि रोवा ॥

ग्रंथि परि गई—गाँठ पड़ गयी अर्थात् तादात्म्य हो गया । जड़में चेतनका अध्यास होने लगा और चेतनमें जड़का । इस गाँठको किसीने बाँधा नहीं है । अनादिकालसे पड़ी हुई है । शिष्यको समझानेके सुभीतेके लिये 'पड़ गयी' कहा । कारणशरीरमें जो चेतनका अध्यास हुआ वही प्रतिबिम्ब है, वही गाँठ है । यथा—

रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानुकर बारि ।
जदपि मृषा तिहुँ कालमहँ, भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई ॥

जदपि मृषा—यद्यपि गाँठ झूठी है, भ्रममात्र है । मायाके साथ असंग कूटस्थका सम्बन्ध कैसा ? घटाकाशका जलसे सम्बन्ध केवल भ्रमसे सिद्ध है । यथा—

जदपि असत्य देत दुख अहई ।

छूटत कठिनई—छूटना कठिन है । किसीका हटाया यह अध्यास नहीं हटता । क्या लोकका, क्या वेदका, सब व्यवहार इसी अध्यासपर टिका है । यथा—

कर्म कि होइ सरूपहिं चीन्हे ।

तबते जीव भयउ संसारी ।
ग्रंथि न छूट न होइ सुखारी ॥

अर्थ—जबसे जीव संसारी हो गया, तबसे न तो गाँठ छूटती है और न यह सुखी ही होता है ।

तबते—अर्थात् कालका कोई नियम नहीं है, अनादि अन्धपरम्परासे । अनादिकालसे संसार ऐसा ही चला आता है । इसीको

अविद्या-निद्रा कहते हैं। इसीमें स्वरूपाज्ञान अर्थात् सुषुप्ति होती है। इस अवस्थाके विभु ईश्वर हैं। अपरिच्छिन्न तथा असंग होनेसे विभुमें अहंकारकी गाँठ नहीं होती, परिच्छिन्न और संगी होनेसे जीवमें अहंकारकी गाँठ है। इसी गाँठमें आवरण और विक्षेपरूपी निद्रा है। इसी निद्रामें पड़ा हुआ जीव अनेक प्रकारके स्वप्न देखा करता है। यथा—

मोह निसा सब सोवनिहारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा॥
आकर चारि लाख चौरासी। जोनिन भ्रमत जीव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा॥

इसी सुषुप्तिसे भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है। कारण-देह-प्राप्त ईश्वरांशके भोगके लिये ईश्वरेच्छासे तमःप्रधान प्रकृतिमें (१) आकाश (२) वायु (३) तेज (४) जल और (५) पृथ्वीतत्त्व उत्पन्न हुए, जिनके सत्त्वांशसे क्रमशः पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और मिलकर अन्तःकरण तथा रजांशसे क्रमशः पञ्च कर्मेन्द्रियाँ और मिलकर प्राण उत्पन्न हुए। यथा—

गगन समीर अनल जल धरनी। इनकइ नाथ सहज जड़ करनी॥
तव प्रेरित मायाँ उपजाये। सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाये॥
बिषय करन सुर जीव समेता॥

इन पाँचों तत्त्वोंसे जो शरीर बना वही लिङ्गदेह है। यहाँसे संसार अङ्कुरित हो गया, जो कि स्थूलावस्थामें पल्लवित और पुष्पित होगा। इस लिङ्गदेहाभिमानीका नाम तैजस है और इसके विभु हिरण्यगर्भ हैं। इस तैजसके भोगके लिये भगवान्ने पञ्चतत्त्वोंका पञ्चीकरण करके स्थूल शरीर तथा इस ब्रह्माण्ड-भुवनकी रचना की, यथा—

जड़ पंच मिलै जिन देह करी करनी वहुधा धरनीधरकी।

(कवित्त०)

सोलह आनेमेंसे आठ आने एक तत्त्वविशेषको लेकर उसमें दो-दो आने शेष चार तत्त्वोंको मिलाकर, उस तत्त्व-विशेषको स्थूल रूप दिया। यही पञ्चीकरण है। जब तैजस स्थूल देहका अभिमानी होता है तब उसे विश्व कहते हैं इसकी जाग्रत् अवस्था है और विराट् विभु हैं। यथा—

जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन्ह सहित बिराजहीं।

प्रतिबिम्ब चाहे किसी अवस्थाको पहुँचे, पर बिम्बसे उसका साथ नहीं छूटता। यथा—'ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती।' अवस्थाभेदके सम्बन्धसे बिम्बमें भी भेदकी कल्पना होती है। सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्के भेदसे जीव क्रमसे प्राज्ञ, तैजस और विश्व हुआ। उसी भाँति तुरीय ब्रह्म भी ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् कहलाये। ऐसा संसारका रूप अनादिकालसे चला आता है, केवल समझानेके लिये 'तबते' कहते हैं। यथा—

विधि प्रपंच अस अचल अनादी।

जीव भयउ संसारी—जीव अपने सहज स्वभाव सच्चिदानन्दरूपको छोड़कर ईश्वरांशके ऐश्वर्यको खोकर संसारी हुआ, देहवाला हुआ। अब (१) लिङ्गदेह (२) लिङ्गदेहमें स्थित चिच्छाया और (३) अधिष्ठान चैतन्य, तीनों मिलकर जीव कहलाये। इस प्रकार तीन प्रकारके जीव हुए। (१) पारमार्थिक (२) प्रातिभासिक और (३) व्यावहारिक। पारमार्थिक जीव कूटस्थ है और प्रातिभासिक जीव चित्-जड़की ग्रन्थिवाला प्रतिबिम्ब है और व्यावहारिक जीव लिङ्गदेहवाला है। इसी तीसरेको संसारी कहा। इसीका लोकपरलोकमें आना-जाना लगा रहता है। स्थूल-शरीर छूटता रहता है, पर यह लिङ्गशरीर नहीं छूटता। यथा—

कौन जोनि जनमेउ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं॥

ग्रंथि न छूट न होइ सुखारी—न जड़-चेतनवाली अज्ञानकी गाँठ छूटती है और न जीव सुखी होता है। अज्ञानवाली गाँठ छूटे

बिना सहज-स्वरूपकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। किसी प्रकार जड़-चेतनकी गाँठ छूटनी चाहिये। यथा—

तुलसिदास 'मैं' 'मोर' गये बिनु जिव सुख कबहुँ कि पावै ?

तीनों चौपाइयोंमें सर्वप्रथम साधन मुमुक्षुत्वका वर्णन किया।

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई।
छूट न अधिक अधिक अरुझाई ॥१५॥

अर्थ—वेद-पुराणोंने बहुत-से उपाय बतलाये हैं, पर गाँठ उलझती ही जाती है, छूटती नहीं।

श्रुति पुरान—अर्थात् वेद-पुराणसे बढ़कर कोई प्रमाण नहीं, यथा—(मारुत स्वास) निगम निज बानी। तथापि ये भी जड़-चेतनके अध्यास-पूर्वक ही प्रवृत्त होते हैं। अतएव अविद्यावाले ही हैं, पर ग्रन्थिभेदका उपाय बतलानेमें भी यही समर्थ हैं।

तस पूजा चाहिय जस देवता ॥

बहु कहेउ उपाई—बहुत-से उपाय वेद-पुराणोंने बतलाये हैं। जप, तप, व्रत, यज्ञ, दानादि अनेक साधन जो बतलाये गये हैं वे सब जीवके कल्याणके लिये ही हैं। यथा—

तप तीरथ उपवास दान मख जो जेहि रुचै करो सो।
पायेहि पर जानिबो करमफल भरि भरि वेद परोसो॥
आगम बिधि जप जोग करत नर सरत न काज खरो सो॥

अधिक अधिक अरुझाई—अधिक-अधिक उलझनेका कारण यह है कि—

अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभव-गम्य अखंड अनूपा॥

—का कर्मकाण्डमें उपयोग नहीं है। और ब्राह्मधर्म, देहधर्म, इन्द्रियधर्म

और अन्तःकरण-धर्म-सम्बन्धी विधि-निषेध कहकर ही कर्मकथाका उपदेश है।

(१) बाह्यधर्म, यथा—

पूजहु ग्रामदेव सुर नागा। कह्यो बहोरि देन बलि भागा॥

(२) देहधर्म, यथा—

करहु जाइ तप सैलकुमारी।

(३) इन्द्रियधर्म, यथा—

काटिय तासु जीह जो बसाई। श्रवन मूदि न तु चलिय पराई॥

(४) अन्तःकरण-धर्म, यथा—

मनहु न आनिय अमरपति रघुपति भगत अकाज।

इन विधियोंके पालनमें धर्म है, स्वर्ग है, पर कर्मसन्तति बढ़ती ही जाती है। बिना अध्यासकी दृढ़ता बढ़ाये कोई धर्म नहीं हो सकता! अतः बाह्यपदार्थ, देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें अध्यासोंकी उलझन बढ़ती ही जाती है, यथा—'मल कि जाहि मलहीके धोये।'

छूट न—चित्‌जड़-ग्रन्थि नहीं छूटती। कारण यह कि साधन-चतुष्टयके बिना तत्त्व-विवेकका अधिकार नहीं होता। अतः जिसने साधन नहीं किया उसे शास्त्रके पाण्डित्यसे भी ज्ञान नहीं होता, यथा—

वाक्य ज्ञान अत्यंत निपुन भवपार कि पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीपके बातन्हि तम निवृत्त नहिं होई॥

(विनय०)

(१) नित्यानित्य-वस्तु-विवेक (२) इहलोक और परलोकके विषयभोगसे विराग (३) षट्-साधन-सम्पत्ति और (४) मुमुक्षुत्व ये चार साधन हैं और शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये षट्सम्पत्तियाँ हैं, इन सबका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

इस प्रकार साधन-चतुष्टय-सम्पन्न अधिकारी जब गुरुवेदान्त-वाक्य-जन्य ज्ञानसे ग्रन्थि-भेद करना चाहे तभी सम्भव है। नहीं तो—

सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोहजनित दारुन भव बिपति सतावै॥

केवल शास्त्रचर्चा या यों कहिये कि अनधिकार चर्चासे गाँठ नहीं छूटती।

जीव हृदय तम मोह बिसेषी।
ग्रंथि छूट किमि परै न देखी॥

अर्थ—जीवके हृदयमें विशेष मोहान्धकार है, इससे दिखायी ही नहीं पड़ता, फिर गाँठ तो कैसे छूटे?

जीव हृदय—यहाँ हृदय कहनेसे स्थूल देहकी प्राप्ति दिखलायी। जीवकी स्थूल देहमें हृदय ही राजप्रासाद है, यथा—

अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी।

तम मोह बिसेषी—मोह अविवेकको कहते हैं, उसीको तम अर्थात् अन्धकार कहा गया है, इसीके कारण अध्यास होता है और यही अध्यासको बढ़ाता है। यथा—

मोह न अंध कीन्ह केहि केही।

अविद्या-रात्रिमें मोह-तमकी प्रबलता होती है। जीव-हृदयपर अविद्याका अधिकार है, क्योंकि वहीं जड़-चेतन-ग्रन्थि पड़ी हुई है। अन्धकार तो संसारी होनेके पहले ग्रन्थिमात्रसे ही था, परन्तु अब संसारी होनेसे अधिक हो गया। यथा—

मम हृदयभवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥

तम मोह लोभ अहँकारा। मद क्रोध बोध रिपु मारा॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मर्दहिं मोहि जानि अनाथा॥
मैं एक, अमित बटपारा। कोउ सुनइ न मोर पुकारा॥
भागेउ नहिं नाथ उबारा। रघुनायक करहु सँभारा॥
कह तुलसिदास सुनु रामा। तस्कर लूटहिं तव धामा॥
चिंता मोहि नाथ अपारा। अपजस जनि होइ तुम्हारा॥

ग्रंथि छूट किमि—गाँठ कैसे छूटे? छूटना तभी सम्भव है, जब प्रकाशमें दिखलायी पड़े कि गाँठ कहाँ है और कैसी है। नहीं तो बिना देखे ही टटोलकर ममताके सूत्रोंको इधर-उधर खींचनेसे बन्धन ही दृढ़ होता है। छूटनेकी कहाँ सम्भावना है?

परै न देखी—अविद्या-रात्रिमें मोहान्धकार छाया हुआ है। हृदयके भीतर और भी घना अन्धकार है। जड़-चेतनकी गाँठ दिखायी ही नहीं पड़ती। अतएव दीपक जलाना चाहिये।

अस संजोग ईस जौ करई।
तबहु कदाचित सो निरुअरई॥१६॥

अर्थ—यदि ईश्वर ऐसा संयोग बना दे, तो कदाचित् वह गाँठ सुलझ जाय।

अस संजोग—भाव यह कि ऐसा होना क्रिया-साध्य नहीं है। संयोग आन पड़े तो हो जाय; संयोग ब्रह्माके हाथकी बात है, मनुष्यकी सामर्थ्यसे सर्वथा परे है। यथा—'जो बिधिबस अस बनै सँजोगू।' ऐसा कहनेका भाव यह कि संयोगोंका सिलसिला बँध जाय। अर्थात् गौ भी मिल जाय, चारा भी मिले, दूहनेवाला, औटनेवाला, दूध ठण्डा करने-वाला, दही मथनेवाला इत्यादि यथेप्सित मिलते ही चले जायँ।

ईस जौ करई—अर्थात् ईश्वर यदि करें। भाव यह कि ऐसा संयोग विधि भी नहीं कर सकते, वे तो स्वप्नके विभु हैं, कारणपर उनका

अधिकार नहीं है, कर्म शुभाशुभ दिया करते हैं, यथा—'कर्म सुभासुभ देइ बिधाता।' और ईश्वर सुषुप्तिके विभु हैं। कारणपर भी उनका अधिकार है, कर्मकी अपेक्षा न करके भी संयोग कर सकते हैं। अथवा जीव जिनका अंश है, जिन्होंने करुणा करके उसे नरदेह दी है, वही चाहे तो करुणा करके ऐसा संयोग भी कर दें, यथा—

कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

और वह ईशका किया हुआ संयोग इस प्रकार हो कि सात्त्विकी श्रद्धा हरिकी कृपासे हृदयमें बसे, और उस श्रद्धाद्वारा खूब धर्माचरण हो जिसमें श्रद्धा परिपुष्ट होती जाय और धर्मके साथसे रज और तमके अभिभूत होनेसे सात्त्विक भाव उत्पन्न हो। तब श्रद्धा द्रवीभूत होती है, धर्माचरणका सात्त्विक परिणाम अहिंसा—दया-भावमें प्रकट होता है। तब वशीभूत निर्मल मनको श्रद्धाके चरणोंमें लगा दे, और दृढ़ विश्वास करके अहिंसामें प्रतिष्ठित हो जाय, प्राणिमात्रको अभयदान दे। जबतक धर्मव्रतधारीके हृदयमें दयाका प्रादुर्भाव नहीं होता, तबतक समझना चाहिये कि परम धर्मका उदय नहीं हुआ। अहिंसामें प्रतिष्ठित होनेपर निष्कामतासे अहिंसागत कामनाके अंशको दूर करे। कामनाके अंशको दूर करनेसे जो ताप होता है उसे क्षमाद्वारा तोषसे दूर करे। जब शीतल निष्काम दयाभाव हो जाय तो उसे धृतिसे ठोस करे। तब उस शीतल ठोस निष्काम दयाभावका दमपूर्वक गुरुशास्त्रोपदेशानुसार विचारसे मन्थन करे। (दमपूर्वक इसलिये कहा कि हृदय-दौर्बल्यको स्थान न मिले, जैसे व्यभिचारी व्यक्तिकी तृप्ति आदि शास्त्रविरुद्ध विषयका दयामें समावेश न हो), विचार करे कि संसार दुःखमय है। हम जीव इसमें पड़े हुए क्लेश उठा रहे हैं, इस दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति कैसे हो इत्यादि। इन विचारोंसे साधक जिस निश्चयपर पहुँचेगा, वही वैराग्य है। उस निश्चयका यह रूप होगा कि 'ये विषय अनित्य हैं, दुःखकी योनि हैं, चाहे ये इस लोकके हों चाहे परलोकके।' और फिर उनसे

अपने-आप जी हटेगा। जब चित्तमें विराग आ जायगा तब वह विषयोंको छोड़ सकेगा, और तब उसे योगका अधिकार होगा।

चित्तवृत्तिका निरोध योग है। वैराग्यसे चित्तवृत्तिनिरोधकी योग्यता प्राप्त होती है, परन्तु शुभाशुभ कर्मसे सम्बन्ध त्याग किये बिना निरोध नहीं हो सकता। बुद्धिद्वारा शुभाशुभ कर्म-सम्बन्ध त्यागते ही चित्त निरुद्ध होता है। ममता नष्ट होती है, तब सत् वस्तुमें चित्त एकाग्र होता है। 'तत्' पदका ज्ञान अर्थात् परोक्षज्ञान होता है। तब विज्ञान-रूपिणी (उपनिषद्-जन्य) बुद्धि उस अपरोक्षज्ञानको चित्तमें जमाकर समतामें स्थापन करती है। अब 'त्वं' पदार्थका शोधन शेष है। अतः इस प्रकारका परोक्षज्ञानी ध्यानमें स्थित होकर अपनेको स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरोंसे पृथक् भावना करके, अर्थात् 'त्वं' पदार्थका शोधन करके तुरीयावस्थाको प्राप्त होता है। फिर तुरीयावस्थाके संस्कारों-को एकीभूत करके परोक्ष-ज्ञानमें मिला देता है। यह 'असि' पद है। और तब शब्दानुविद्ध समाधिमें स्थित होनेसे आत्मानुभव प्रकाश उत्पन्न होता है, और वह 'सोऽहमस्मि' वृत्तिवाला अपरोक्ष होता है। यह मोहान्धकारको मिटा देता है। परन्तु अभी चित्-जड़-ग्रन्थि बनी हुई है। विज्ञानरूपिणी बुद्धि इस प्रकार ग्रन्थि-भेदन कर सकती है। यदि ग्रन्थि-भेदन हो गया तो अध्यास सदाके लिये मिट गया और सहज-स्वरूप कैवल्यकी प्राप्ति हुई। यही परमपद है। इसी बातको दीपकके रूपकमें सुलभताके लिये विशदरूपमें वर्णन किया जायगा।

तबहु कदाचित—भाव यह कि ईशके ऐसा संयोग कर देनेपर भी कार्य-सिद्धिमें बहुत सन्देह है। क्योंकि साधन बहुत कठिन है और संसारी जीव रोगी हैं। रोगीकी क्या सामर्थ्य जो कठिन साधनका सामना कर सके। यथा—

मोह सकल ब्याधिनकर मूला। तेहिते पुनि उपजैं बहु सूला ॥
यहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी ॥

एक व्याधिवस नर मरइ, ए असाध्य बहु व्याधि।
संतत पीडहिं जीव कहँ, सो किमि लहइ समाधि॥

और दूसरी बात यह है कि 'अकृतोपास्ति-ज्ञान' जिसमें भक्तिकी सहायता नहीं है, सिद्ध नहीं होता, यथा—

जे ज्ञानमान विमत्त तव भयहरनि भगति न आदरी।
ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥

सो—वह चित्त (अस्ति, भाति, प्रिय) और जड़ (नामरूप) की गाँठ।

निरुअरई—अर्थात् वह गाँठ सुलझे। अस्ति (सत्), भाति (चित्) और प्रिय (आनन्द) ये तीन अंश ब्रह्मके, और नाम और रूप, दो अंश मायाके, इन्हीं पाँचोंने उलझकर प्रपञ्चकी गाँठ बना रक्खी है, और इन्हींके उलझनपर उलझन पड़नेसे संसार बना हुआ है, सो सुलझ जाय। अर्थात् तीन अंश ब्रह्मके पृथक् और (नाम-रूप) दो अंश मायाके पृथक् हो जायँ। गाँठके अँधेरेमें होनेके कारण प्रकाशके लिये दीपका संकल्प हुआ। दीपके साधनमें, ठहरनेमें, ऐसा विघ्न-बाहुल्य है कि संयोग अनुकूल होनेपर भी कहना पड़ा कि कदाचित् ही वह सुलझ सके। यथा—

माधव! मोहफाँस क्यों टूटै?
बाहिर कोटि उपाय करिय अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै॥
घृत-पूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिम्ब दिखावै।
इंधन अनल लगाय कलपसत औटत नास न पावै॥
तरुकोटर महँ बस विहंग तरु काटे मरै न जैसे।
साधन करिअ विचारहीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे?
अंतर मलिन विषय मन अति तनु पावन करिय पखारे।
मरइ न उरग अनेक जतन बलमीकि विविध विधि मारे॥

तुलसिदास हरि-गुरु-करुना बिनु बिमल बिवेक न होई।
बिनु बिवेक संसार-घोर-निधि पार न पावै कोई॥

सात्विक श्रद्धा धेनु सोहाई। जो हरिकृपा हृदय बसि आई॥

अर्थ—सात्त्विकी श्रद्धा बियायी हुई अच्छी गौ है, यदि वह हरिकृपासे हृदयमें आकर वसे।

सात्त्विक श्रद्धा—श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है (१) तामसी (२) राजसी और (३) सात्त्विकी। यहाँ तामसी एवं राजसी श्रद्धाका उपयोग नहीं है। यहाँ तो सात्त्विकी श्रद्धाकी ही आवश्यकता है, क्योंकि यह पुरुष श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा है वैसा ही वह है, अतएव सात्त्विकी श्रद्धावाला पुरुष भी सात्त्विक होगा।

धेनु सोहाई—सोहाई ब्यायी गौ है, भाव यह कि राजसिक-तामसिक श्रद्धा भी गौ हैं, पर वे सोहाई नहीं हैं, दूध नहीं देंगी, यथा—

तामस धर्म करहिं नर, तप मख व्रत जप दान।
देव न बरसहिं धरनिपर बोए न जामहिं धान॥

बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर हर्ष सोक भय मानस॥

हरिकृपा—हरि सत्त्वगुणके अधिष्ठाता हैं। अतएव सात्त्विकी श्रद्धाकी प्राप्तिके लिये हरिकी कृपाकी आवश्यकता है। हर तमोगुणके अधिष्ठाता हैं सुषुप्तिके विभु हैं, उनकी कृपासे हरिकी कृपा होती है, सुषुप्तिकी कृपासे जाग्रति होती है और जाग्रति ही तुरीयका द्वार है। जब शंकर कृपा करके तमको दबावेंगे, तब सत्त्वका उदय होगा।

जो हृदय बसि आई—अर्थात् जो हरिकी कृपासे हृदयमें आकर बसे, क्योंकि 'जीव हृदय तम मोह बिसेषी'—हृदयमें अन्धकार भरा हुआ है।

बछड़ेवाली गौ तमोमय अँधेरी जगहमें जाना नहीं चाहेगी। (इस चौपाईमें श्रद्धासम्पत्तिका[1] वर्णन किया है।)

जप तप व्रत जम नियम अपारा।
जे श्रुति कह सुभ धरम अचारा ॥१७॥

अर्थ—जप, तप, व्रत, यम, नियम और वेदविहित धर्माचार ये सब अपार हैं। जप, तप, व्रत, शुभ धर्माचार ये सब उपरामता-के अंग हैं; यम-नियम दोनों समाधानके अंग हैं।

जप तप व्रत—यहाँ जपसे वाचा, तपसे मनसा और व्रतसे कर्मणा धर्माचरण बतलाया है, नहीं तो नियममें तीनोंका समावेश हो जानेसे पुनरुक्ति दोप आ जायगा। और गोस्वामीजीने यही अर्थ लिया भी है।

जप, यथा—

तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥

तप, यथा—

बिसरी देह तपहिं मन लागा॥

(इससे तितिक्षाका[2] वर्णन किया।)

व्रत, यथा—हरितोपन व्रत द्विज सेवकाई॥

यम पाँच हैं—ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहाः।

(१)—ब्रह्मचर्य—स्मरणादि अष्टविध मैथुनके अभावको कहते हैं*। यथा—

ब्रह्मचर्ज व्रत रत मति धीरा। तुमहि कि करइ मनोभव पीरा॥

(२) अहिंसा—सदा-सर्वदा किसी भी प्राणीसे द्रोह न रखनेको कहते हैं, यह सब यम-नियमोंकी जड़ है। यथा—

१—यह पद् सम्पत्तियोंमेंसे पाँचवीं है।

२—शीतोष्ण सुख-दुःखादि सहनेको तितिक्षा कहते हैं। यह पद् सम्पत्तियोंमेंसे चौथी है।

* स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।
धर्म कि दया सरिस हरियाना॥

इसीकी सिद्धिके लिये शेष यम-नियमोंका उपयोग है। अहिंसाकी प्रतिष्ठा होनेपर उसके सन्निकटमें रहनेवाले प्राणिमात्र वैर त्याग देते हैं, यथा—

चरहिं एक सँग गज पंचानन। बैर बिगत बिचरहिं सब कानन॥

(२) सत्य—इन्द्रिय और मनके द्वारा जैसा निश्चय किया गया, वैसी ही वाणी और वैसे ही मनके होनेको सत्य कहते हैं। वह वाणी वञ्चिता†, भ्रान्ता‡ और प्रतिपत्तिवन्ध्या§ नहीं होनी चाहिये। प्राणियोंके उपकारके लिये होनी चाहिये, उपघातके लिये नहीं।

एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥

'स्त्रीके रूपलावण्य, हावभाव आदिका स्मरण करना, दूसरेके प्रति कहना, स्त्रीके साथ क्रीड़ा करना, स्त्रीका दर्शन करना, एकान्तमें सम्भाषण करना, स्त्रीके संगके लिये दृढ़ निश्चय करना, उसकी प्राप्तिके लिये उद्योग करना तथा अभीष्ट निश्चयकी पूर्ति करना—इन आठ प्रकारके आचरणोंसे बचनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं।'

† वञ्चनापूर्ण, जैसे अपने पुत्र अश्वत्थामाका मरण सुनकर द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरसे पूछा 'हे आयुष्मन्, हे सत्यवादी, सचमुच अश्वत्थामा मारा गया?' इसके उत्तरमें, युधिष्ठिरका अश्वत्थामा नामक हाथीको अभिलक्ष्यकर, 'हाँ, सच अश्वत्थामा मारा गया।' ऐसा कथन वञ्चनापूर्ण है। यही वाणी वञ्चिता कही जाती है। वक्ताका अभिप्राय अन्य हो और श्रोता अन्य समझ जाय। जैसे यहाँपर युधिष्ठिरने हाथीको लक्ष्यकर कहा और द्रोणाचार्यने अपना पुत्र समझ लिया। पर इसको कहनेमें युधिष्ठिरने छलसे काम लिया। इसलिये यह वाक्य सत्य नहीं है।

‡ भ्रान्तिप्रयुक्त। वक्ताको स्वयं भ्रम हो और दूसरेको समझाना चाहे।

§ अप्रसिद्ध पदोंके रहनेसे यथार्थ बोध करनेमें अक्षम। जैसे आर्यलोगोंके प्रति म्लेच्छ भाषा बोध करानेमें असमर्थ है।

यथा—'कहहिं सत्य प्रिय बचन विचारी' इससे क्रियाके फलको आश्रय मिलता है, यथा—

'सत्य मूल सब सुकृत सुहाये ।'

(४) **अस्तेय**—शास्त्रविधिके प्रतिकूल दूसरेके द्रव्यको लेना स्तेय कहलाता है, और उस स्तेयके निषेधको अस्तेय कहते हैं । स्पृहा न रखना भी अस्तेय कहलाता है । यथा—'धन पराव विषते विष भारी ॥' इससे सब रत्न उपस्थित होते हैं, यथा—'डारहिं रतन तटहिं नर लहहीं ॥'

(५) **अपरिग्रह**-विषयोंके अर्जन, रक्षण, क्षय और संगसे हिंसादि दोष होते हैं, अतएव उनके अस्वीकारको अपरिग्रह कहते हैं । यथा—

यद्यपि अर्थ अनर्थ मूल तम कूप परब एहि लागे ।
तदपि न तजत मूढ़ ममतावस जागतहू नहिं जागे ॥

(विनय०)

इससे जन्मकथनताका बोध होता है, यथा—'निज-निज मुखन कही निज होनी ॥'

नियम भी पाँच हैं—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

(१) **शौच**-देह और मनके मलको दूर करना शौच है । यथा—'सकल सौच करि जाइ अन्हाये ।' शौचकी स्थिरतासे बुद्धिकी शुद्धि, उससे मनकी प्रसन्नता, उससे एकाग्रता, उससे इन्द्रियजय और उससे आत्म-दर्शनकी योग्यता होती है । अपने शरीरसे घृणा और दूसरेके संसर्गसे घृणा होती है । यथा—'रहहिं न अंतहु अधम सरीरू ।'

(२) **सन्तोष**-प्राप्त साधनसे अधिक पैदा करनेकी अनिच्छाको सन्तोष कहते हैं, यथा—'आठवँ जथालाभ संतोषा ।' इसके द्वारा सबसे बढ़कर सुखकी प्राप्ति होती है, यथा—'मन संतोष सुनत कपि बानी ।'

(३) **तप**—जाड़ा-गर्मी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वके सहनेको कहते हैं। यथा—

कछु दिन भोजन बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा॥

इससे देह-इन्द्रियकी सिद्धि और अशुद्धिका क्षय होता है। यथा—

बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पग दोऊ॥
माँगहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये॥

(४) **स्वाध्याय**—मोक्षशास्त्रका पढ़ना अथवा प्रणवका जप करना। इससे देवता-ऋषियोंके दर्शन होते हैं। यथा—

नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगतसिरोमनि भे प्रहलादू॥

(५) **ईश्वरप्रणिधान**—सब कर्मोंको ईश्वरार्पण कर देना, यथा—'प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं॥' इससे समाधिकी सिद्धि होती है। यथा—'सहज बिमल मन लाग समाधी॥'

अपारा—कहनेका भाव यह है कि इन दशों यम-नियमोंमेंसे एक-एक असाध्य है। इनका पार नहीं पाया जा सकता। यह रोगी जीव क्या पार पावेगा?

जो श्रुति कह—जिसके लिये वेदमें विधि है। वेदकी आज्ञा ही धर्म है। वेदकी आज्ञा दो प्रकारकी होती है—(१) विधि और (२) निषेध। इनमें निषेध सर्वथा त्याज्य है, इसलिये 'सुभ धरम अचारा' कहा।

सुभ धरम अचारा—इसमें सम्पूर्ण कर्मकाण्ड आ गया। यज्ञ-दानादि शेष धर्म सब इसीके अन्तर्गत हैं। यथा—

जहँ लगि कह्यो पुरान श्रुति एक एक सब जाग।
बार सहस्र सहस्र नृप कियो सहित अनुराग॥

(इस चौपाईसे उपरम * कहा ।)

तेइ तृन हरित चरइ जब गाई ।
भावबच्छ सिसु पाइ पेन्हाई ॥

अर्थ–उस हरे तृणको जब गाय चरे और भावरूपी बछड़ा पाकर उसके थनमें दूध आ जाय ।

तेइ तृन हरित–वे ही हरे तृण अर्थात् जप, तप, व्रत, यम, नियम और शुभ धर्माचार—ये छहों प्रकारके सरस तृण उस श्रद्धारूपिणी गौके लिये चारारूप हैं । लौकिक गौका चारा तृण, ओषधि और वनस्पति-भेदसे तीन प्रकारका होता है और उनके भी बीजरुह तथा काण्डरुह-भेदसे दो प्रकार होते हैं । कुल छः प्रकार हुए । इसी भाँति श्रद्धारूपिणी गौके चाराके भी जप-तपादि-भेदसे छः प्रकार कहे हैं ।

हरा तृण कहनेका भाव यह कि तृण सूखा न हो वरं सरस हो, नहीं तो गौ चावसे नहीं खायगी, फलतः यथार्थ तृप्ति न होगी, दूध भी कम होगा, जिससे बछड़ेकी तृप्ति भी कठिन हो पड़ेगी, फिर और कामोंके लिये दूधका मिलना तो दूरकी बात है । अतः जप-तपादि आनन्दरहित न हों, यथा—

अस्थिमात्र है रह्यौ सरीरा । तदपि मनाक मनहि नहिं पीरा ॥

चरइ जब–भाव यह कि जैसे गौ गोठ छोड़कर बाहर जाय और गोचरभूमिमें चरे, इसी भाँति श्रद्धा भी हृदयसे बाहर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूपी गोचरमें, जिस रुचिसे भूखी गाय हरी घास चरती है, उसी रुचिसे शुभ धर्माचरण करे और तृप्त हो, यथा—

नित नव राम प्रेमपन पीना । बढ़इ धर्मदल मन न मलीना ॥

गाई–गाय कहा, धेनु नहीं कहा, क्योंकि बच्चा घर छोड़ आयी है । अकेली घास चर रही है, पर चित्त बच्चेकी ओर लगा है, यथा—

* उपरम स्वधर्मानुष्ठानको कहते हैं, यह षट् सम्पत्तियोंमेंसे तीसरा है ।

जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गई ।

यह गाय जब अघाकर तृण चरे तभी इतना दूध दे सकेगी कि जिसमें बच्चेका भी काम चले और अपने काम भी आवे। स्मरण रखना चाहिये कि चरा हुआ चारा गौके पेटमें है। यह सामर्थ्य गौमें ही है कि उस चारेका सात्त्विक परिणाम दूधके रूपमें जगत्के कल्याणके लिये देवे, राजसिक परिणाम अपने शरीरके पोषणके लिये अलग कर ले और तामसिक परिणाम गोबर आदि पृथक् दे। किसी भी शिल्पीकी सामर्थ्य नहीं है कि इस प्रकारसे सात्त्विक, राजस और तामस परिणाम किसी उपायसे पृथक् कर सके। इसी भाँति श्रद्धासे आचरित शुभ धर्म श्रद्धाके उदरमें जाकर परिणामको प्राप्त होता है और उसके सात्त्विक परिणाम—परम धर्मसे जगत्का हित होता है, नहीं तो जिस भाँति तृणादि मनुष्यके ग्रहणयोग्य नहीं रहते, उसी भाँति श्रद्धाहीन शुभ धर्म भी मनुष्यके कामके नहीं होते, यथा—

श्रद्धा बिना धरम नहिं होई। बिनु महि गंध न पावै कोई ॥

गौने जितने प्रकारका तृण खाया है उन सबके सात्त्विक परिणामका स्वारस्य दूध है, इसी प्रकार श्रद्धासे जो यम-नियमादि आचरित हुए हैं उनके सात्त्विक परिणामका स्वारस्य परम धर्ममें है।

भावबच्छ सिसु—श्रद्धारूपिणी धेनुका सात्त्विक भाव अबोध बच्चा है, वह छल-कपट नहीं जानता, अतएव बहुत प्यारा है। चरनेके समय भी उसीकी ओर ध्यान लगा रहता है। इसी भाँति श्रद्धासे धर्माचरण हो और वह भाव हत न होने पावे, यथा—

किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि ।
संग बस किय सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि ॥
करौं जो कछु धरौं सचि-पचि सुकृत-सिला बटोरि ।
पैठि उर बरबस कृपानिधि दंभ लेत अँजोरि ॥

पाइ पेन्हाई–जब गौ हरी-हरी घास चरके तृप्त होकर सन्ध्याके समय घर लौटती है, तो बालक-बच्छको पाकर द्रवीभूत हो जाती है। उसके थनोंमें दूध आ जाता है। इसी भाँति श्रद्धा धर्माचरण करके कृतकृत्य होकर भावपुष्टिके लिये अन्तर्मुख होती है। उस समय वह परम धर्म प्रसवमें समर्थ होती है, यथा—

दिन अंतपुर रुख श्रवत थन हुंकार करि धावत भई।

नोइनि वृत्ति पात्र बिसवासा।
निर्मल मन अहीर निज दासा॥ १८॥

अर्थ–वृत्तिको नोइन, विश्वासको दोहनी और दासीभूत निर्मल मनको अहीर बनावे।

नोइनि–दूहनेके समय जिस रज्जुसे गौका पैर बाँधते हैं उसे नोइन कहते हैं। वह नोइन वृत्ति है। अर्थात् वृत्तिको उस समय श्रद्धाके चरणोंमें लगा देना चाहिये, जिसमें श्रद्धा अचल रहे।

पात्र बिसवासा–विश्वासको पात्र (दोहनी) बनावे, जिसमें दूध रखा जा सके। विश्वासमें छिद्र होनेसे दूध बह जायगा, यथा—

कौनिउ सिद्धि न बिनु बिसवासा।

निर्मल मन अहीर–अहीर अर्थात् दूहनेवाला निर्मलमन हो। काम-संकल्पवाला मन मलीन और कामवर्जित मन निर्मल कहलाता है; अशुद्ध मन श्रद्धाको छटका देगा, तो बना-बनाया काम बिगड़ जायगा।

निज दासा–वह अहीर अपना दास हो, अपने वशमें हो अर्थात् मन निर्मल होनेपर भी अपने काबूमें न हो तो काम नहीं चलता, अतः वह निर्मल भी हो और अपने काबूमें भी हो। गौके पेन्हानेपर वह निर्मल मनरूपी सेवक अहीर जब उस गौके चरणोंमें उसे निश्चल करनेके लिये नोइन लगाकर देखे कि अब बछड़ा अपनी पुष्टिके लिये योग्य

जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं।

यह गाय जब अघाकर तृण चरे तभी इतना दूध दे सकेगी कि जिसमें बच्चेका भी काम चले और अपने काम भी आवे। स्मरण रखना चाहिये कि चरा हुआ चारा गौके पेटमें है। यह सामर्थ्य गौमें ही है कि उस चारेका सात्त्विक परिणाम दूधके रूपमें जगत्के कल्याणके लिये देवे, राजसिक परिणाम अपने शरीरके पोषणके लिये अलग कर ले और तामसिक परिणाम गोबर आदि पृथक् दे। किसी भी शिल्पीकी सामर्थ्य नहीं है कि इस प्रकारसे सात्त्विक, राजस और तामस परिणाम किसी उपायसे पृथक् कर सके। इसी भाँति श्रद्धासे आचरित शुभ धर्म श्रद्धाके उदरमें जाकर परिणामको प्राप्त होता है और उसके सात्त्विक परिणाम— परम धर्मसे जगत्का हित होता है, नहीं तो जिस भाँति तृणादि मनुष्यके ग्रहणयोग्य नहीं रहते, उसी भाँति श्रद्धाहीन शुभ धर्म भी मनुष्यके कामके नहीं होते, यथा—

श्रद्धा बिना धरम नहिं होई। बिनु महि गंध न पावै कोई॥

गौने जितने प्रकारका तृण खाया है उन सबके सात्त्विक परिणामका स्वारस्य दूध है, इसी प्रकार श्रद्धासे जो यम-नियमादि आचरित हुए हैं उनके सात्त्विक परिणामका स्वारस्य परम धर्ममें है।

भावबच्छ सिसु—श्रद्धारूपिणी धेनुका सात्त्विक भाव अबोध बच्चा है, वह छल-कपट नहीं जानता, अतएव बहुत प्यारा है। चरनेके समय भी उसीकी ओर ध्यान लगा रहता है। इसी भाँति श्रद्धासे धर्माचरण हो और वह भाव हत न होने पावे, यथा—

किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि।
संग बस किय सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि॥
करौं जो कछु धरौं सचि-पचि सुकृत-सिला बटोरि।
पैठि उर बरबस कृपानिधि दंभ लेत अँजोरि॥

पाइ पेन्हाई—जब गौ हरी-हरी घास चरके तृप्त होकर सन्ध्याके समय घर लौटती है, तो बालक-बच्छको पाकर द्रवीभूत हो जाती है। उसके थनोंमें दूध आ जाता है। इसी भाँति श्रद्धा धर्माचरण करके कृतकृत्य होकर भावपुष्टिके लिये अन्तर्मुख होती है। उस समय वह परम धर्म प्रसवमें समर्थ होती है, यथा—

दिन अंतपुर रुख श्रवत थन हुंकार करि धावत भई।

नोइनि वृत्ति पात्र बिसवासा।
निर्मल मन अहीर निज दासा॥ १८॥

अर्थ—वृत्तिको नोइन, विश्वासको दोहनी और दासीभूत निर्मल मनको अहीर बनावे।

नोइनि—दूहनेके समय जिस रज्जुसे गौका पैर बाँधते हैं उसे नोइन कहते हैं। वह नोइन वृत्ति है। अर्थात् वृत्तिको उस समय श्रद्धाके चरणोंमें लगा देना चाहिये, जिसमें श्रद्धा अचल रहे।

पात्र बिसवासा—विश्वासको पात्र (दोहनी) बनावे, जिसमें दूध रखा जा सके। विश्वासमें छिद्र होनेसे दूध बह जायगा, यथा—

कौनिउ सिद्धि न बिनु बिसवासा।

निर्मल मन अहीर—अहीर अर्थात् दूहनेवाला निर्मलमन हो। काम-संकल्पवाला मन मलीन और कामवर्जित मन निर्मल कहलाता है; अशुद्ध मन श्रद्धाको छटका देगा, तो बना-बनाया काम बिगड़ जायगा।

निज दासा—वह अहीर अपना दास हो, अपने वशमें हो अर्थात् मन निर्मल होनेपर भी अपने काबूमें न हो तो काम नहीं चलता, अतः वह निर्मल भी हो और अपने काबूमें भी हो। गौके पेन्हानेपर वह निर्मल मनरूपी सेवक अहीर जब उस गौके चरणोंमें उसे निश्चल करनेके लिये नोइन लगाकर देखे कि अब बछड़ा अपनी पुष्टिके लिये योग्य

मात्रामें दूध पी चुका तब उसे हटाकर दोहनीमें दूध दुहे। इस भाँति धर्माचरणके द्वारा कृतकृत्य होकर श्रद्धा अन्तर्मुखी हो और सम्पूर्ण धर्मोंके सात्त्विक परिणामसे सात्त्विक भावकी पुष्टि करने लगे, तब भली भाँति वश किये हुए कामसंकल्परहित मनकी वृत्ति लगाकर अपनी श्रद्धाको अचल कर ले। नहीं तो सात्त्विक भाव (सुखभाव) के हटाते समय श्रद्धा छटक जायगी। और यदि सात्त्विक भाव न हटाया जायगा, तो वह अनुष्ठित धर्मके सम्पूर्ण सात्त्विक परिणामको पी जायगा। मनके सात्त्विक भावमें अनुरक्त होनेसे भी सुखके साथ बन्धन होगा, अतएव सात्त्विक भावको भी धीरे-धीरे हटाकर मनको परिपूर्ण विश्वासका पात्र करनेके लिये उसे श्रद्धामें लगा दे।

(इस चौपाईसे शम* कहा गया।)

परम धरममय पय दुहि भाई।
औटइ अनल अकाम बनाई॥

अर्थ-हे भाई! परम धर्ममय दूध दुहकर उसे अकामकी आग बनाकर औटे।

परम धरममय पय-जो सात्त्विक परिणाम दूधरूपमें परिणत हुआ उसीको परम धर्ममय कहा अर्थात् अहिंसामय कहा, क्योंकि अहिंसामें ही शेष सब धर्मोंकी चरितार्थता है, यथा—

'परम धरम श्रुतिबिदित अहिंसा'। 'धर्म कि दया सरिस हरिजाना।'

दूसरा 'परम धर्ममय' कहनेका भाव यह है कि 'मयट्' प्रत्यय बहुतके अर्थमें होता है, अर्थात् उस दूधमें परम धर्म बहुत है, पर थोड़ा-सा काम, वासना, ममतादिरूप दोष भी हैं।

दुहि भाई-विश्वासरूपी पात्रमें ही यह दूध दुहा जा सकता है,

---

* शम मनोनिग्रहको कहते हैं, यह षट् सम्पत्तिमें प्रथम है।

अन्य पात्रमें रखनेसे बिगड़ जायगा, अतएव परम धर्ममय सात्त्विक परिणामसे विश्वासरूपी पात्र भर लेना चाहिये। न भावके काम आ सके न मनके। क्योंकि भाव और मन दो ही पदार्थ ऐसे हैं जो श्रद्धासे धर्मके सात्त्विक परिणामको अलग कर सकते हैं, और केवल मन ही ऐसा है, जो उसे श्रद्धासे लेकर विश्वासके सुपुर्द कर सकता है। 'भाई' सम्बोधन है तथा विचारके लिये आश्वासन है, यथा—

करै बिचार करौं का भाई।

औटइ—अर्थात् पाक करे, गुणाधिक्यके लिये, घनीभावके लिये, जलरूपी अवगुणके नाशके लिये। यथा—

गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।

अनल अकाम बनाई—अकामकी आगको प्रज्वलित करके औटे, अर्थात् आगपर रखकर देरतक गरम करे, जिसमें उसके एक-एक परमाणु तकमें भी अकामकी आग पहुँच जाय। धर्मके सात्त्विक परिणाममें भी काम रह जाता है, क्योंकि धर्म सदासे ही कामका संगी है। धर्मका साथ सुख और स्वर्गसे है, और ये ही काम हैं। अकामकी अग्नि इसलिये कहा कि 'काम' शब्द यावत् वैषयिक सुखका वाचक है (केवल स्त्री-सुखका ही नहीं)। उसका त्याग ही अकाम है। वैषयिक सुखमात्रके त्यागके ध्यानसे ताप होता है, अतएव उसे अग्नि कहा, इस अग्निकी उत्पत्तिके लिये कामको दूर करना कर्तव्य है। फिर वह अग्नि आप-से-आप बनी रहेगी इसलिये बनाई कहा। अकामकी अग्नि परम धर्ममय पयका पाक करके उसके गुणको बढ़ा देगी, उसमें घनत्व पैदा करेगी और उसके कामांशको दूर करेगी। औटनेसे दूध अत्यन्त गरम हो जाता है। यदि ऐसे समय जाँवन डाला जाय तो वह फट जायगा, अतएव उसे ठंडा करना चाहिये। गायके चरानेसे लेकर दूध औटनेतक मनका काम था, अब ठंडा करनेका काम क्षमाका है। क्षमा, मुदिता और बुद्धि ये सब मनके परिवार हैं।

तोष मरुत तब छमा जुड़ावै।
धृति सम जाँवन देइ जमावै ॥१९॥

अर्थ–क्षमा-तोषरूपी वायुसे उसे ठण्डा करे। तब धैर्यका सम जाँवन देकर (दही) जमावे।

तोष मरुत–तृषा शान्त करनेवाले गुणको तोष कहते हैं। तोषकी उपमा मरुत् (हवा) से दी गयी है। हवासे गर्मी शान्त होती है, दूध ठंडा होता है। परम धर्ममय पयका कामांश तो दूर हुआ, पर ऐसा करनेसे वह सन्तप्त हो उठा, उस सन्तापको दूर करनेके लिये तोषकी आवश्यकता हुई। भाव यह कि—

सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।

ऐसी धारणा अटल होनेपर भी कामसे भय रहता है, क्योंकि वह क्रोध उत्पन्न कराके हिंसा करा देता है। कामका विरह हुआ, कामके विरहसे सन्ताप हुआ अतएव उस सन्तापको तोषसे दूर करे। जो अहिंसामें प्रतिष्ठित हो गया है उसके लिये आत्मघातक (जिससे आत्माका आवरण बढ़े) दोषोंका दूर करना परम कर्तव्य है।

छमा जुड़ावै–दूसरेके अपराधसे भी न सन्तप्त होनेवाली क्षमामें ही कामके विरहसे उत्पन्न धर्मके सन्तापको दूर कर सकनेकी शक्ति है अतएव क्षमा ही उसे तोषकी वायुसे शीतल करे। दूसरी बात यह है कि तोषके प्राप्त करानेमें क्षमा ही समर्थ है। अतः वही सन्तप्त परम धर्ममय पयको शीतल करे। यथा—

त्रिबिध पाप संभव जो तापा। मिटइ दोष दुख दुसह कलापा॥
परम सांत सुख रहै समाई। तहँ उतपात न भेदै आई॥
तुलसी ऐसे सीतल संता। सदा रहहिं एहि भाँति एकन्ता॥
(वै० स०)

ठंडा करनेका दूसरा यह भाव भी है कि साधकको व्यर्थ काल बिताना उचित नहीं, अनायास भी दूध धीरे-धीरे ठंडा हो जाता है, पर उसमें देर लगेगी, अतएव तोषरूपी शीतल वायुसे उसे क्षमाद्वारा शीतल करनेका उद्योग करे।

धृति सम जाँवन--धृति अर्थात् धैर्य, कृतकार्य होनेका प्रधान साधन है, यथा—'धीरज धरइ सो उतरै पारा' 'सम' से भाव यह कि समतावाला धैर्य होना चाहिये, विषमतावाला नहीं। इसीको जाँवन बनावे। जाँवन दहीकी उस मात्राको कहते हैं जिसे दूधमें डालकर दही जमाया जाता है। खटाई आदिसे भी दही जमता है पर वह अच्छा नहीं होता। अथवा सम जाँवनसे यह तात्पर्य है कि जितना उचित हो उतना ही जाँवन दे, क्योंकि उचित मात्रासे कममें दही नहीं जमेगा, और अधिक होनेसे वह पानी छोड़ देगा। अतएव जितने धैर्यकी आवश्यकता हो उतनेहीसे काम ले, धैर्य कहीं हठमें परिणत न हो जाय।

देइ जमावै--जाँवन देकर जमा दे। अर्थात् जाँवन डालकर उसे उतना समय दे, जितनेमें जाँवनका प्रभाव सम्पूर्ण दूधपर पड़े और वह जमकर एक थक्का हो जाय। दूधके जमानेमें जाँवनके लिये दूसरे दहीकी आवश्यकता पड़ती है, और उस दूसरेके लिये तीसरेकी। इस भाँति यहाँ अनादिकालसे साधनपरम्परा दिखलायी है। यह नहीं समझना चाहिये कि ऐसा उद्योग आजतक कभी नहीं किया गया। जीवकी स्थिति अनादि कालसे है और उसका उद्योग बराबर जारी है। न जाने कितनी बार दही जमा, पर काम पूरा चौकस न उतरा। इस बार भी दही जमकर तैयार हुआ। जिस प्रकार हरे तृणका परिणाम दूध एक दूसरी वस्तु तैयार हुई, इसी भाँति दूधका परिणाम दही एक बिल्कुल तीसरी वस्तु है। इसमें दया, निष्कामता, तोष और धैर्य चारोंका मेल है। क्षमाका कार्य समाप्त होते ही मुदिता अपने-आप उपस्थित हो जाती है। इसी प्रकार अन्य पात्र भी आते जायँगे।

मुदिता मथै बिचार मथानी।
दम अधार रजु सत्य सुबानी॥

अर्थ–मुदिता विचारकी मथानीसे, जिसका दम आधार और सत्य सुवानी डोरी हो, दहीको मथे।

मुदिता मथै––दहीको मुदिता अर्थात् दूसरेके सुखमें आनन्दित होनेवाला गुण मथे। यहाँ मथना विचार करना है। विचारमें मुदिताकी बड़ी आवश्यकता है।

विचार मथानी–विचारकी मथानीसे मुदिता मथे। धर्मको सदासे कामके साथका संस्कार है। धर्मके साथसे काम हटा दिया गया, धैर्यसे मैत्री करायी गयी, पर अब भी उसमें (दुःखके बीज) कामका संस्कार शेष है, उसी संस्कारको तोड़नेके लिये उस दहीके थक्केको विचार (वस्तु-विचार) से मथे।

दम अधार–दम* अर्थात् इन्द्रियदमन, उस वस्तु-विचारका आधार होगा, मथानीका फल होगा। उसकी चोटसे यह जमा हुआ दहीका थक्का छिन्न-भिन्न होकर रवा-रवा हो जायगा।

रजु सत्य सुवानी–सत्य सुवानी अर्थात् हितकर सत्यवाणी (गुरु तथा शास्त्रकी) उस विचार-मथानीकी डोरी होगी। उसकी खींचके अनुसार जब वस्तु-विचार-दण्ड अपने फलके साथ घूमेगा, अर्थात् शास्त्रमर्यादाके भीतर तर्क होगा, तब दही मथित होकर नवनीत (मक्खन) प्रसव कर सकेगा। विचारका दिग्दर्शन––यथा–

जिय जबते हरिते बिलगान्यौ। तबते देह गेह निज मान्यौ।
मायाबस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रमते दारुन दुख पायो॥

---

* यह पद् सम्पत्तियोंमेंसे दूसरा है।

पायो जो दारुन दुसह दुख सुखलेस सपनेहु नहिं मिल्यौ।
भय सूल सोक अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यौ॥
बहु जोनि जन्म जरा बिपति मतिमंद हरि जान्यौ नहीं।
श्रीराम बिनु विश्राम मूढ़ बिचारि लखु पायो कहीं॥

आनँद-सिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥
मृग-भ्रम बारि सत्य जल जानी। तहँ तू मगन भयउ सुख मानी॥

तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप तव खलु भूलि अनु आयो तहाँ॥
निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहरयौ।
निहकाज राज बिहाइ नृप इव स्वप्न-कारागृह परयौ॥

तैं निजकर्म डोरि दृढ कीन्हीं। अपने करन्ह गाँठि हठि दीन्हीं॥
तेहिते परबस परयौ अभागे। ता फल गर्भवास दुख आगे॥

आगे अनेक समूह संसृति उदरगत जान्यौ सोऊ।
सिर हेठ ऊपर चरन संकट बात नहिं पूछै कोऊ॥
सोनित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावृत्त सेवहीं।
कोमल सरीर गभीर बेदन सीस धुनि धुनि रोवहीं॥
प्रेरेउ जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना तैं सह्यो।
सो ज्ञान ध्यान बिराग अनुभव जातना पावक दह्यो॥
अति खेद ब्याकुल अलपबल छिन एक बोल न आवई।
तव तीव्र कष्ट न जान कोउ सबलोग हरषित गावई॥

बालदसा जेते दुख पाये। अति असीम नहिं जाहिं गिनाये॥
छुधा ब्याधि बाधा भइ भारी। बेदन नहिं जानै महतारी॥

जननी न जानै पीर तव केहि हेतु सिसु रोदन करै।
सो करै बिबिध उपाय जाते अधिक तुव छाती जरै॥
कौमार सैसव अरु किसोर अपार अघ को कहि सकै।
बितरेक तोहि निर्दय महाखल आन कहु को सहि सकै॥

जोवन जुवति संग रँग रात्यौ । तव तू महामोह मद मात्यौ ॥
ताते तजी धर्म-मरजादा । विसरे तव सव प्रथम विपादा ॥

विसरे विपाद निकाय संकट समुझि नहिं फाटत हियो ।
फिरि गर्भगत आवर्त्त संसृतिचक्र जेहि होइ सोइ कियो ॥
कृमि भस्म विट परिणाम तनु तेहि लागि जग वैरी भयो ।
परदार परधन द्रोहपर संसार बाढ़ै नित नयो ॥

देखत ही आई विरधाई । जो तैं सपनेहु नाहिं बोलाई ॥
ताके गुन कछु कहे न जाहीं । सो अव प्रगट देखु जगमाहीं ॥

सो प्रगट तनु जर्जर जरावस व्याधि-सूल सतावई ।
सिर कंप इंद्रिय सक्ति प्रतिहत वचन काहु न भावई ॥
गृहपालहूते अति निरादर खानपान न पावई ।
ऐसिउ दसा न विराग तहँ तृस्ना-तरंग वढ़ावई ॥

को कहि सकै महाभव तेरे । जन्म एकके कछुक गनेरे ॥
खानि चारि संतत अवगाहीं । अजहुँ न कर विचार मन माहीं ॥
एहि तनुकर फल विषय न भाई । स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई ॥
नरतनु पाइ विषय मन देहीं । पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं ॥
सुर-नर-मुनिकर याही रीती । स्वारथ लागि करहिं सव प्रीती ॥
जेहिते कछु निज स्वारथ होई । तेहि पर ममता कर सव कोई ॥
जग अनभल भल एक गोसाईं । इत्यादि ।

सव कार्य श्रद्धासे लेकर ग्रन्थि-भेदतक विधिके अनुसार होने चाहिये, अविधि होनेसे वह असुरोंका भाग हो जायगा ।

तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता ।
बिमल बिराग सुभग सुपुनीता ॥ २० ॥

अर्थ–तव दही मथकर सुन्दर पवित्र विरागरूपी मक्खन निकाल ले ।

तब मथि—इस प्रकार विचार-मथानीद्वारा मथनेसे काम-संस्कार टूट जायगा और उसके टूटते ही त्रिवर्ग वा षड्विकारकी जो कुछ वासना परम धर्मके सारको ढके हुए थी, छिन्न-भिन्न होकर अलग हो जायगी और नवनीत (विराग) प्रकट हो जायगा ।

काढ़ि लेइ नवनीता—तब नवनीतको उस तक्रसे अलग निकाल ले । अबतक सब कार्य विश्वासरूपी पात्रमें ही होता आया । उसीमें दूध दुहा गया, औटाया गया, ठंडा किया गया, जमाया गया और मथा गया । अब मक्खन निकल आया तो उसे (विश्वास) पात्रसे अलग कर लिया गया । भाव यह कि विरागका केवल विश्वास होनेसे काम नहीं चलेगा ।

विमल विराग—वह मक्खन विमल विराग है, यथा—

भूषन बसन भोग सुख भूरी । मन तन बचन तजे तृन तूरी ॥
अवधराज सुरराज सिहाई । दसरथ धन सुनि धनद लजाई ॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥

विराग साधन-चतुष्टयमेंसे दूसरा साधन है ।

सुभग सुपुनीता—मक्खन सुन्दर है और भलीभाँति पवित्र है । दूध-सा सुभग है, पर दूध पुनीत था यह सुपुनीत है । अब साधन-चतुष्टयके पूर्ण होनेमें केवल समाधानकी त्रुटि है । अतएव—

दो०—जोग अगिनि तन प्रगट करि कर्म सुभासुभ लाइ ।
बुद्धि सिरावै ज्ञानघृत ममता मल जरि जाइ ॥

अर्थ—शुभाशुभ कर्मको लगाकर शरीरमें योगाग्नि प्रकट करके, बुद्धि-ज्ञान-घृतको तैयार करे, जिसमें ममतारूपी मल जल जाय ।

जोग अगिनि—जब विराग उत्पन्न हुआ तब योगका अधिकार भी हो गया। चित्तवृत्तिका निरोध करके सत् लक्ष्यमें एकाग्र होना योग है और वह अभ्यास तथा वैराग्यसे होता है। वैराग्यद्वारा चित्तवृत्तिनिरोध कहनेसे ही यह बात आ गयी कि वैराग्यका निवास चित्तवृत्तिमें हुआ।

तन प्रगट करि—योगाग्निको प्राण-अपानके संघर्षणसे शरीरमें प्रकटकरके अर्थात् हठयोग करके जिसमें मनकी गतिकी भाँति देहकी क्रिया श्वास-प्रश्वासादि रुक जाय। मनके रोकनेसे वायु रुकता है और वायुके रोकनेसे मन रुकता है, यथा—

जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।

अतः राज, हठ दोनों योग युगपत् होने चाहिये। इससे समाधान* कहा।

अब साधन-चतुष्टयके पूरा होनेसे साधक तत्त्वज्ञानका अधिकारी हुआ। ऐसे अधिकारीके लिये ही 'तत्त्वमसि' महावाक्यका उपदेश है यथा—

मोहि परम अधिकारी जानी।

लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥

सो तैं (तत्त्वम्) तोहि ताहि नहिं भेदा। (असि) बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

कर्म सुभासुभ लाइ—अग्निको स्थिर रखनेके लिये ईंधन चाहिये। अतः शुभाशुभ कर्मको लगाकर अग्नि जलावे। योगसे परोक्षज्ञान होता है। यथा—

धरम ते बिरति जोग ते ग्याना।

और परोक्षज्ञानसे बुद्धिपूर्वक किया हुआ पाप नष्ट होता है। योगीका कर्म अशुक्लाकृष्ण होता है, पाप-पुण्यसे रहित होता है, अतः सञ्चित आगामी

* चित्तकी एकाग्रताको समाधान कहते हैं, यह साधन सम्पत्तियोंमें छठी सम्पत्ति है।

यावत् शुभाशुभ कर्मोंको नष्ट करती हुई योगाग्नि प्रकट होती है, केवल प्रारब्ध बच रहता है। यथा—

कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनहार॥

बुद्धि सिरावै-बुद्धि मक्खनको पिघलावै, अर्थात् वैराग्यसे और सत् लक्ष्यपर चित्तके स्थिर करनेके अभ्याससे चित्तवृत्तिका निरोध करे। मक्खन निकालनेतक मुदिताका काम था, अब गरम करना बुद्धिका काम है। घी कच्चा रह गया, ममता कुछ शेष रह गयी, तो ज्ञानदीपके जलनेमें कठिनता होगी और जो खर हो गया, तो योगशास्त्रोक्त असंप्रज्ञात समाधि हो जायगी। आगेकी सब क्रिया रुक जायगी। मसल है कि घी जलकर तेल होता है। असंप्रज्ञात समाधि तो हुई, पर ज्ञान न हुआ।

ज्ञानघृत-यदि बुद्धि ठीक तरहसे पका सकी, तो ज्ञान-घृत तैयार हो जायगा। यह 'तत्' पदका ज्ञान परोक्षज्ञान है, यथा—

तव प्रसाद सब संसय गयऊ। राम सरूप जानि मोहि परेऊ॥

ममता मल जरि जाइ-भाव यह कि विरागमें यह धारणा रही कि ये सब विषय-विलास मेरे वशमें हैं, मैं इनके वशमें नहीं हूँ। अतः उसमें ममता-मल रहा। वह ममता योगाग्निसे जलती है। इस प्रकार 'तत्' पदका शोधन हुआ। ज्ञानदीपकमें योगशास्त्रानुमोदित असंप्रज्ञात समाधिका उपयोग नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध न मानकर, ज्ञानी लोग ब्रह्माकारवृत्तिको असंप्रज्ञात समाधि मानते हैं, और कारण यह देते हैं कि योगवाली असंप्रज्ञात समाधिसे लौटनेपर, संसार ज्यों-का-त्यों लौट आता है, ज्ञान कुछ भी नहीं होता। यहाँतक बुद्धिका कार्य समाप्त हुआ।

दो०—तब बिग्यानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाय।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दियट बनाय॥

अर्थ–तब विज्ञानरूपिणी बुद्धि स्वच्छ घी पाकर, चित्त-रूपी दीयामें भरे, और समताकी दीवट बनाकर उसपर दृढ़ करके रक्खे।

तब विज्ञानरूपिनी बुद्धि–अब गुरुसे उपदिष्ट 'सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा' (तत्त्वमसि) महावाक्यसे उत्पन्न विज्ञान जिसका रूप है, ऐसी बुद्धिका कार्य प्रारम्भ होता है। अर्थात् गुरु-वेदान्त-वाक्यसे जो ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव होता है, उसे विज्ञानरूपिणी बुद्धि कहते हैं।

बिसद घृत पाय–उपर्युक्त निर्मल घी (परोक्षज्ञान) को जब विज्ञानरूपिणी बुद्धि पावे, तब—

चित्त दिया भरि धरै दृढ़–चित्तके दीपकमें भरकर दृढ़ रक्खे। भाव यह कि 'ब्रह्म समान सब माहीं' यह भाव दृढ़रूपेण चित्तमें जमा रहे।

समता दियट बनाय–और समताको दीपक बनाकर उसपर ज्ञानघृत भरे हुए दीपकको स्थापित करे, जिसमें दीपकके टेढ़े हो जानेसे घृत गिर न जाय। भाव यह कि चित्तमें वैषम्य न होने पावे, नहीं तो ज्ञान नष्ट हो जायगा। यथा—

'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देखिय ब्रह्म समान सबमाहीं॥'

यह बाह्य समाधि हुई।

इस प्रकार ज्ञान-घृत तैयार हुआ, उसे दीयेमें भरकर सुरक्षित स्थानमें रख दिया गया, तब साधककी साधु पदवी होती है, यथा—

बंदौं संत समान चित हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ॥

ऐसे ही साधु महापुरुषोंकी कपाससे उपमा दी गयी है। साधुका चरित्र कपासका चरित्र कहा गया है, नीरस, विशद और गुणमय करके उसके फलका वर्णन किया गया है, यथा—

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥

अपना कार्य जिससे हो उसे फल कहा गया है। जैसे तलवारका फल, बरछेका फल, वृक्षका फल। इसी प्रकार कर्मका फल देह है। साधुका शरीर विषयरसरूखा होनेसे नीरस कहा गया और पुनीत होनेसे विशद कहा गया। ऐसी ही देहसे तीनों शरीरोंका पृथक् करना, तुरीयाकी प्राप्ति आदि, जिसका वर्णन पीछे किया जायगा, सम्भव है, दूसरेसे नहीं। दूसरोंके तीनों शरीर सरस होनेसे, मलिन और दोषयुक्त होनेसे एक दूसरेमें ऐसे सने होते हैं कि उसको पार्थक्यका अनुभव नहीं हो सकता। यथा—

काम क्रोध मद लोभरत गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहिं मूढ़ परे तम-कूप॥

दो०—तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपासते काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करिय सुगाढ़ि॥

अर्थ—उस कपाससे तीन अवस्था और उसमेंसे तीन गुणोंको निकालकर, तुरीयरूपी रूईको सँवारकर, अच्छी मोटी बत्ती बनावे।

तेहि कपासते—अर्थात् उस कपाससे। कपासकी उपमा देहसे दी गयी है। जिस प्रकार कपासमें तीन कोष (खाने) होते हैं, उसी प्रकार देहमें तीन शरीर होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। पाञ्चभौतिक देहको स्थूल शरीर कहते हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रिय—श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, जिह्वा और घ्राण, तथा पञ्चकर्मेन्द्रिय—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ तथा पञ्चप्राण—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान तथा बुद्धि और मन, इन सत्रहके समूहको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इन दोनोंका कारण आत्माका अज्ञान है, जो आत्माके आभाससे युक्त होकर 'कारण-शरीर' कहलाता है।

तीनि अवस्था तीनि गुन–जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ हैं। इन्द्रियोंसे विषयका ज्ञान जिस अवस्थामें होता है उसे जाग्रत् कहते हैं। इन्द्रियोंके उपरत होनेपर जाग्रत् संस्कारजन्य सविषय ज्ञानको स्वप्न कहते हैं और जिस समय किसी प्रकारका ज्ञान नहीं होता, बुद्धि कारण-शरीरमें जाकर ठहरती है उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। यथा—

तेरसि तीनि अवस्था तजहु भजहु भगवंत। (विनय०)

सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण हैं। जाग्रत् सत्त्वप्रधान है, स्वप्न रजःप्रधान है और सुषुप्ति तमःप्रधान। ये ही तीनों अवस्थाएँ कपासके तीनों कोषोंकी तीन ढेढ़ियाँ हैं और सत्त्व, रज, तम उनके क्रमसे बीज (बिनौले) हैं। कपासके प्रत्येक कोषमें बिनौलेसे लिपटी हुई रूई होती है उसे ढेढ़ी कहते हैं।

काढ़ि–निकालकर। भाव यह कि वैराग्य उत्पन्न होते ही साधु तीनों गुणोंको त्यागना चाहता है। उसकी विधि यह है कि स्थूल शरीरसे ढेढ़ीरूपी जाग्रत् अवस्थाको अलग करके उसमेंसे बिनौलारूप सत्त्व अर्थात् वैषयिक ज्ञानको दूर करे। सूक्ष्मकी अवस्था स्वप्नमेंसे उसी वैषयिक ज्ञानके संस्कारको दूर करे। कारण शरीरकी सुषुप्ति अवस्थामेंसे आत्माके अज्ञानको दूर करे। ये सब क्रियाएँ मनसे होती हैं। अतएव राजयोगके अन्तर्गत हैं। यथा—

कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी॥

यह परम विराग ज्ञानरूप ही है। यह दृश्यानुविद्ध समाधि हुई।

तूल तुरीय सँवारि पुनि–जब तीनों अवस्थाओंमेंसे तीनों गुण निकल गये, ढेढ़ीमेंसे बिनौले बाहर निकाल लिये गये, ओटनेका काम समाप्त हुआ तब केवल रूई बच गयी वही तुरीयावस्था है। उसे भी सँवार ले अर्थात् धुनकर उसमेंसे कोषोंके संस्कारको दूर करे। इस प्रकार 'त्वं' पदका शोधन हुआ।

बाती करिय सुगाढ़ि—खूब मोटी बत्ती बनावे। अर्थात् तुरीयावस्थाके संस्कारोंको भलीभाँति घनीभूत करे, जिसमें सब मिलकर एक हो जायँ।

सो०—एहि बिधि लेसै दीप तेजरासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब॥

अर्थ—इस प्रकारसे तेजराशि विज्ञानमय दीपक जलावे, जिसके समीप जानेसे मदादि सब पतंग जल जायँ।

एहि बिधि—इस विधानसे अर्थात् जो विधान ऊपर कह आये हैं। प्रकाशके और भी बहुत उपाय हैं। तेलके दीयेसे भी प्रकाश होता है, विद्युत्से भी प्रकाश होता है, परन्तु अन्य उपायोंसे आत्मानुभव-सुखका प्रकाश न होगा। शास्त्रकी विधिका त्याग करनेसे कदापि कल्याण नहीं हो सकता। ग्रन्थि छूटनेके पहले ठीक-ठीक विधिनिषेधके अनुसार बरतना होगा, अतएव जो विधान कहा गया है उसीके अनुसार करे यह नहीं कि दूधको ही मथकर मक्खन निकाल ले अथवा घीका काम तेलसे ही ले ले।

लेसै दीप—अर्थात् उस बत्तीको घीके दीपमें छोड़ दे जिसमें बत्ती घीसे भींग जाय तब उसे योगाग्निसे लेस दे। भाव यह कि तुरीयाको परोक्ष ज्ञानमें डुबा दे। 'त्वं' पदके लक्ष्यार्थको 'तत्' पदके लक्ष्यार्थमें लीनकर सानन्द समाधिमें स्थित हो। इसे शब्दानुविद्ध समाधि कहते हैं।

तेजरासि बिग्यानमय—इस प्रकार विधिसे जलाया हुआ दीप तेजोमय होता है। उसे विज्ञानमय इसलिये कहते हैं कि उससे अपरोक्ष ज्ञान होता है, यथा—

दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी।

मदादिक सलभ सब–जहाँ दीया जला कि शलभ अर्थात् पतङ्ग चले। झुण्ड-के-झुण्ड कभी-कभी दीयेपर टूट पड़ते हैं, स्वयं जलते जाते हैं, पर यदि दीया दुर्बल हो तो उसे बुझाकर ही छोड़ते हैं। मद, मात्सर्य आदि शलभ हैं। शलभ इसलिये कहा कि मायाका परिवार बहुत बड़ा है। यथा—

यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा॥

जातहिं जासु समीप जरहिं–भाव यह कि इतने प्रबल होनेपर भी उस दीयेतक नहीं पहुँचने पाते, समीप आते ही नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् मदादिकी इस शब्दानुविद्ध समाधितक गति नहीं है। इससे तेजोराशि विज्ञानमयका साफल्य दिखलाया।

'सोहमस्मि' इति बृत्ति अखंडा।
दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा॥

अर्थ–'वह मैं हूँ' ऐसी अखण्ड वृत्ति ही उस दीयेकी परम प्रचण्ड शिखा है।

सोहमस्मि–भाव यह कि 'सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा' इस महावाक्यके श्रवण-मननके पश्चात् 'वह मैं हूँ' इसी रूपमें निदिध्यासन होता है।

इति बृत्ति अखंडा–'वह मैं हूँ' यह वृत्ति बराबर बनी रहे, विक्षेप न होने पावे। भाव यह कि समाधिमें निर्वात दीपकी भाँति अचल एकरस चित्त बना रहे।

दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा–यही अपरोक्ष ज्ञानवृत्ति दीपकी परम प्रचण्ड लौ है। मायाकी सेना प्रचण्ड है, यथा—

ब्यापि रह्यो संसारमहुँ माया कटक प्रचंड।

उसके भस्म करनेके लिये परम प्रचण्ड अग्निकी आवश्यकता है, अतः यह दीपशिखा परम प्रचण्ड है।

आतम-अनुभव सुख सुप्रकासा ।
तब भव मूल भेद भ्रमनासा ॥२१॥

अर्थ–आतम-अनुभव-सुख उस दीयेका प्रकाश है, तब संसारके मूल भ्रमभेदका नाश होता है।

आतम-अनुभव सुख–इस सुखसे बढ़कर कोई सुख नहीं है। क्योंकि वृत्तिजन्य अपरोक्ष ज्ञान भी आत्मानुभव सुखरूप ही है। यथा—

जेहि अनुभव बिनु मोहजनित दारुन भव बिपति सतावै ॥
ब्रह्म पियूष मधुर सीतल मन जोपै सो रस पावै।
तौ कत मृगजलरूप विषय कारन निसिबासर धावै ॥

सुप्रकासा–जब दीप हुआ तो उसका अच्छा प्रकाश भी चाहिये, सो आत्मानुभवसुख ही सुप्रकाश है। भाव यह कि ब्रह्माकारवृत्ति करके समाधिमें स्थित होनेसे अपरोक्ष ज्ञानकी अखण्ड वृत्ति होती है और उससे आत्मानुभवसुख होता है, और जब आत्मानुभवसुख होता है, तब—भव मूल भेद भ्रमनासा।

भेद भ्रम–कहनेका भाव यह कि वस्तुतः ब्रह्म-जीवमें अभेद है। भेदभाव केवल भ्रम है, यथा—

निज भ्रमते संभव रबिकर सागर अति भय उपजावै।
अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै ॥
तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निर्मूल न जाई।
तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय तरिय नहिं भाई ॥

भेद न होनेपर भी भेदका भ्रम होता है, यथा—

चितव जो लोचन अंगुलि लाये। प्रगट जुगल ससि तेहिके भाये ॥

–और भेदभ्रमसे स्वरूपका विस्मरण होता है, यथा—

मायावस सरूप बिसराये। तेहि भ्रमते दारुन दुख पाये॥
पायो जो दारुन दुसह दुख सुखलेस सपनेहु नहिं मिल्यो।
भव-सूल सोक अनेक································॥

भव मूल—अर्थात् यह भेदभ्रम ही संसारका मूल है, और जिसका मूल भ्रम है वह पदार्थ वस्तुतः नहीं होता। यथा—

जग नभवाटिका रही है फलि फूलि रे।
धुवाँ कैसो धौरहर देखि तू न भूलि रे॥

नासा—भाव यह कि मूल नष्ट होते ही वस्तु छिन्नमूल होकर गिर जाती है, पर जिसका मूल भ्रम है उस वस्तुका तो भ्रमके नष्ट होनेपर पता भी नहीं चलता। यथा—

जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी॥

प्रबल अबिद्या कर परिवारा।
मोह आदि तम मिटहिं अपारा॥

अर्थ—अविद्याके प्रबल परिवार मोह आदि अपार तम मिट जाते हैं।

अविद्या परिवारा—अविद्याके परिवार अर्थात् अविद्याके बाल-बच्चे, यथा—

मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥
तृस्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा॥
ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्ह न एहि संसार॥
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृगनयनीके नैन-सर, को अस लाग न जाहि॥
गुनकृत सन्निपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥

जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहिकर जस न नसावा ॥
मत्सर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक-समीर डोलावा ॥
चिंता साँपिनि काहि न खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया ॥
कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा ॥
सुत वित नारि ईषना तीनी। केहिकर मति इन कृत न मलीनी ॥
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा ॥

प्रवल–अर्थात् बड़े बलवान्। यथा—

सिव चतुरानन जाहि डराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं ॥

मोह आदि तम अपारा–भाव यह कि अविद्या-रात्रिमें मोहादि अन्धकार हैं, यथा—

'महामोह तम-पुंज'

मिटहिं–अर्थात् आत्मानुभवसुख-प्रकाशसे ही यह अपार अन्धकार मिटता है। यथा—

भयउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं। ग्यान उदय जिमि संसय जाहीं ॥

तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा।
उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा ॥२२॥

अर्थ–तब वही विज्ञानरूपिणी बुद्धि हृदयरूपी घरमें बैठकर गाँठ छोड़ती है।

तब–अर्थात् मोहादि तम मिटनेके बाद।

सोइ बुद्धि–अर्थात् वही विज्ञानरूपिणी बुद्धि, जिसने ज्ञानघृतको चित्तरूपी दीपकमें भरकर समतारूपी दीवटपर स्थापित किया था, जिसने कपाससे रूई निकालकर बत्ती बनायी और दीपक जलाया था।

पाइ उँजियारा–भाव यह कि उपर्युक्त सब कार्य अँधेरेमें हुए, केवल पहले थोड़ा-बहुत उँजियाला अकाम अग्निका दूधके औटनेतक,

और बाद उसके योगाग्निका दीया जलनेतक स्थूल कार्य करनेयोग्य था। उनसे मोहादि तम मिट नहीं सकते थे, अब परम प्रचण्ड शिखाका प्रकाश ऐसा हुआ कि मोह आदि तम मिट गये, और ग्रन्थि सूझ पड़ने लगी।

उर गृह बैठि–भाव यह कि पहले वह बुद्धि दीवट लाने, दीया रखने, कपास ओटने, तुनने, बत्ती बनाने और दीया जलानेमें व्यस्त थी, कभी अन्तर कभी बाह्य संप्रज्ञात समाधि*में लगी थी, अब हृदयरूपी घरमें स्थित होकर बैठी।

ग्रंथि निरुआरा–समाधिमें स्थिर होकर जड़-चेतनकी गाँठ खोलने लगी।

गाँठ तीन प्रकारसे पड़ी हुई है–(१) भ्रान्तिजन्य, (२) सहज और (३) कर्मजन्य। अहंकार (कारण शरीर) का जो कूटस्थके साथ तादात्म्य है सो भ्रान्तिजन्य है, चिच्छायासे जो तादात्म्य है सो सहज है और देहसे जो तादात्म्य है सो कर्मजन्य है। कर्मजन्य ग्रन्थि कर्मके नाशसे नष्ट होती है। कर्म तीन प्रकारका होता है–(१) जन्म-जन्मान्तरका कर्मसमूह जिसे सञ्चित कहते हैं, (२) जिन्हें वर्तमान जन्ममें भोगना है उन्हें प्रारब्ध कहते हैं और (३) जो वर्तमान जन्ममें करते हैं वह आगामी कहलाता है। सञ्चित कर्म ज्ञानीका नष्ट हो जाता है, आगामीसे उसका लेप ही नहीं होता, केवल प्रारब्ध शेष रह जाता है, वह जबतक शरीर है तबतक उसका भोग होगा ही। अतएव कर्मज ग्रन्थि बिना कर्मक्षयके नहीं छूटती। जबतक भ्रान्तिजन्य और कर्मजन्य वृत्ति रहती है तबतक ग्रन्थि नहीं छूट सकती, प्रतिबिम्बके नाशसे नष्ट होती है। अतएव भ्रान्तिजन्य ग्रन्थिका सुलझाना ही परम पुरुषार्थ है।

---

* आदि, मध्य और तृतीय तीन 'बाह्य समाधि' और दृश्यानुविद्ध, शब्दानुविद्ध तथा असंप्रज्ञात तीन 'अन्तःसमाधि' हैं।

छोरन ग्रंथि पाव जौ सोई ।
तौ यह जीव कृतारथ होई ॥

अर्थ-यदि वह बुद्धि, चिद्-जड़-ग्रन्थि, छोड़ सके तो यह जीव कृतार्थ हो जाय ।

जौ-सन्देहसूचक है, भाव यह कि विघ्नबाहुल्यसे कार्य कठिन है ।

सोई ग्रंथि छोरन पाव-वही विज्ञानरूपिणी बुद्धि यदि ग्रन्थि छोड़ने पावे । भाव यह कि उसके सुलझानेमें सन्देह नहीं, पर विघ्न उसे ऐसा नहीं करने देंगे ।

तौ-अर्थात् विघ्नोंके अभिभूत होनेके बाद ।

यह जीव-अर्थात् जो अपने ही घरमें अज्ञानद्वारा बँधा-सा पड़ा है ।

कृतारथ होई-अहंकारके साथ तादात्म्य कर अपने स्वरूपको विसरण करके अनादिकालसे जीव निद्रित पड़ा हुआ, संसारका स्वप्न, जनन-मरण, सुख-दुःख, शत्रु-मित्रादिका अनुभव कर रहा है । जिस प्रकार कोई राजा स्वप्नमें अपने कारागारमें बद्ध होनेका अनुभव कर रहा हो । अतः निर्विघ्न असंप्रज्ञात समाधिके सिद्ध होनेसे, वह भ्रान्तिजन्य ग्रन्थि नष्ट हो जाती है एवं वह निद्रासे जाग पड़ता है । निद्रासे जाग जाना ही कृतकार्य होना है । फिर तो इस कारागारकी एक ईंट भी कहीं खोजनेसे नहीं मिलती । स्वाराज्यसुख तो उसका कहीं गया ही नहीं था, प्राप्त ही था, केवल निद्रादोपसे अप्राप्त-सा हो रहा था, सो प्राप्त हो जाता है । निदान, सहज स्वरूपकी प्राप्तिसे वह कृतार्थ हो जाता है । यथा—'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई ॥'

छोरत ग्रंथि जानि खगराया ।
बिघन अनेक करै तब माया ॥२३॥

अर्थ—हे पक्षियोंके राजा ! गाँठके छोड़नेकी घात जानकर माया अनेक विघ्न करती है।

खगराया—सम्बोधन है, भाव यह कि, आप राजा हैं, जानते हैं कि स्वतन्त्रता चाहनेवालोंका मार्ग कैसा कण्टकाकीर्ण होता है।

छोरत ग्रंथि जानि—माया जब जान लेती है कि विज्ञानरूपिणी बुद्धि जड़-चेतनकी गाँठ छोड़ रही है, असंप्रज्ञात समाधिमें लगी है, जीव हमारे फंदेसे निकला ही चाहता है।

बिघन अनेक करै—तब अनेक विघ्न करती है, जिसमें ग्रन्थि न छूटने पावे और जीव सदा मेरे वशमें पड़ा रहे। दुष्टोंका यह स्वभाव ही है कि वे दूसरेका भला नहीं देख सकते। आत्मानुभव-प्रकाशसे मायाका दिव्य-रूप दिखायी पड़ता है। इसके पहले तो इसका परिच्छिन्न स्थूल रूपमात्र दिखायी पड़ता था। इस रूपकी ओर ध्यान न देकर असंप्रज्ञातमें तन्मय हो जाना असम्भव हो उठता है। यथा—

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जेहि बस जीव परा भवकूपा॥

तब—अर्थात् माया जब देख लेती है कि मोहादिका किया कुछ भी न हुआ, दीपक जल गया और अब गाँठ छूट रही है।

माया—यहाँ अविद्याका ग्रहण है, क्योंकि विद्या तो छोड़नेवाली है।

सिव बिरंचि कहँ मोहई को है बपुरा आन।
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हेउ जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जेहि बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥
हरि सेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित तेहि ब्यापै बिद्या॥

ऋद्धि सिद्धि प्रेरै बहु भाई।
बुद्धिहिं लोभ दिखावै आई॥

अर्थ-हे भाई! बहुत-सी ऋद्धि-सिद्धियोंको प्रेरणा करती है, और आकर बुद्धिको ललचाती है।

ऋद्धि सिद्धि-ऋद्धि अर्थात् ऐश्वर्य। सिद्धि अर्थात् अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

(१) अणिमा, यथा—

मसक समान रूप कपि धरी।

(२) महिमा, यथा—

अट्टहास करि गरजा कपि बढ़ि लागु अकास॥

(३) गरिमा, यथा—

जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चला सो गा पाताल तुरंता॥

(४) लघिमा, यथा—

देह बिसाल परम हरुआई।

(५) प्राप्ति, यथा—

भइ सहाय सारद मैं जाना॥

(६) प्राकाम्य, यथा—

गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥

(७) ईशित्व, यथा—

देखि प्रताप न कपि मन संका।

(८) वशित्व, यथा—

हरि प्रेरित तेहि अवसर चलेउ मरुत उनचास।

इत्यादि।

प्रेरै बहु—भाव यह कि ऋद्धि-सिद्धि मायाकी प्रेरणासे उसकी सेवाके लिये अपने-आप उपस्थित होती हैं।

भाई—कहनेका भाव यह कि हमलोग सब बराबर हैं। क्या राजा क्या रङ्क, क्या पण्डित क्या मूढ़, माया किसीको नहीं छोड़ती।

बुद्धिहिं—अर्थात् यही विज्ञानरूपिणी बुद्धि ही सब कुछ करनेवाली है, इसीको फँसाना चाहिये।

आई लोभ दिखावै—कोई उसे बुलाने नहीं जाता, स्वयं आकर बुद्धिको लोभ दिखाती हुई मानो कहती है कि क्या व्यर्थ काममें लग रही हो (यह साम है), ऋद्धि-सिद्धि जो कुछ चाहो, मैं देनेको तैयार हूँ (यह दान है), जिसके हितके लिये तुम सब करती हो, वह मुक्त होते ही तुम्हें भी त्याग देगा (यह भेद है)।

कल बल छल करि जाइ समीपा।
अंचल बात बुझावै दीपा॥२४॥

अर्थ-कल-बल-छलसे समीप जाकर, अञ्चलकी हवासे दीपक बुझा देती है।

कल बल छल करि—कल अर्थात् कला (उपाय) से पहले काम लेती है, साम, दाम, भेदका प्रयोग करती है। जब इनसे काम नहीं चलता तब बल अर्थात् दण्डका प्रयोग करती है, यहाँतक, माया-रानीकी नीति है, यथा—

साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥
नीति धर्मके चरन सुहाये।

जब नीतिसे कार्य सिद्ध होते नहीं देखती तब अनीतिसे भी काम लेती है। छल करती है।

जाइ समीपा—भाव यह कि मायाका विज्ञानरूपिणी बुद्धिसे प्रेम

होनेका तो कोई कारण नहीं है, वह किसी-न-किसी उपायसे बुद्धिके पास अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिये पहुँचना चाहती है। अतः वहाँ पहुँचकर—

अंचल बात—भाव यह कि स्त्रियाँ अञ्चलकी हवासे दीया बुझाया करती हैं। अतः माया भी समीप जानेपर बुद्धिकी कोई अपेक्षा न करके अञ्चल-वातसे अनायास ही दीप बुझा देती है। बातका अर्थ यहाँ हवा है। हवाका उपमेय विषय है। अञ्चलके विषयसे तात्पर्य मायारूपी नारीसे है। यथा—

सबते अति दारुन दुखद मायारूपी नारि ॥
'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी।'
'हे बिधि मिलै कौन बिधि बाला ॥'

मोह आदि तो अविद्या-रात्रिके तम हैं, पर 'नारि निबिड़ रजनी अँधियारी' है।

बुझावै दीपा—बुद्धि जहाँ तनिक भी मायाके भुलावेमें आयी कि उसने अवसर पाकर ज्ञानदीपकको बुझाया। विज्ञानरूपिणी बुद्धिका संसर्ग जहाँ मायासे हुआ कि वह अपने स्वरूपसे च्युत हुई, और ऐसा होते ही सारी इमारत धराशायी हो जाती है। यथा—

सो हरि माया सब गुनखानी। सोभा तासु कि जाइ बखानी ॥
देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी ॥
माया बिबस भये मुनि मूढ़ा। समुझी नहिं हरि गिरा निगूढ़ा ॥
मुनि अति बिकल मोह मति नाठी। मनि गिरि गयउ छूट जिमि गाँठी ॥
जब हरिमाया दूर निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी ॥

होइ बुद्धि जो परम सयानी।
तेहि तन चितव न अनहित जानी ॥

अर्थ—जो बुद्धि परम सयानी हो तो मायाको अनहित समझकर उसकी ओर दृष्टिपात न करे।

बुद्धि परम सयानी–अर्थात् विज्ञानरूपिणी बुद्धि तो सयानी होती है। जो अपनी लाभ-हानि देख सके सो सयानी है, यथा—

कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी॥
तव अनुचरीं करौं पन मोरा। एक वार बिलोकु मम ओरा॥

अतः बुद्धि यदि केवल सयानी होगी तो लोभमें आ जायगी, और यदि परम सयानी (धीरत्वसम्पन्ना[1]) होगी तो अपने स्वामी पुरुषका लाभ देखेगी, यथा—

निज घरकी वर बात विलोकहु हौ तुम परम सयानी॥

होइ जो–भाव यह कि साधारण नियम तो ऐसा ही है कि बुद्धि परम सयानी नहीं होती, मायाकी बातोंमें आ जाती है, और यदि हो तो बात दूसरी है।

तेहि तन चितव न–भाव यह कि उस मायाकी ओर आँख उठाकर देखे ही नहीं, और न उसकी बात सुने, अपने ग्रन्थि सुलझानेके काममें लगी रहे। जबतक विज्ञानरूपिणी बुद्धि स्थिर है, तबतक मायाकी भी सामर्थ्य नहीं कि उसके निकट जा सके, दीप बुझाना तो दूरकी बात है। यथा—

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहु मनहु निहारे॥

अनहित जानी–अर्थात् बात हितकी-सी करती है, पर है वह माया अहितकारिणी, वह स्वामीका अकल्याण चाहती है, ऐसा समझकर उसकी ओर न देखे।

जौं तेहि बुद्धि बिघ्न नहिं बाधी।
तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी॥२५॥

अर्थ–यदि उस बुद्धिको विघ्न बाधा न कर सकें तो फिर देवता लोग उपाधि करते हैं।

१–सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मनमाहीं॥

तेहि बुद्धि–अर्थात् परम सयानी बुद्धिको, जिसने मायाकी और हजार चेष्टा करनेपर भी ध्यान नहीं दिया।

जौं बिघ्न नहिं बाधी–यदि मायाकृत प्रलोभन आदिने बाधा नहीं की और माया समीप न जा सकी एवं उसके अञ्चलवातकी गति ज्ञानदीपकतक न हो सकी। (विज्ञानरूपिणी बुद्धिद्वारा असम्प्रज्ञात-समाधिमें कोई अन्य वृत्ति नहीं उठने पाती, इससे विषयरूप वायुका प्रचार वहाँतक नहीं हो सकता।)

तौ बहोरि–तब माया देवताओंको प्रेरणा करती है कि वे बलपूर्वक इन्द्रियद्वारको खोल दें, जिसमें विषयबयारि भीतर प्रवेश करके अन्य वृत्तियोंको खड़ी कर दे। क्योंकि देवता भी मायाके वश हैं, यथा—

देव दनुज नर नाग असुर सब माया बिबस बिचारे।
(विनय०)

सुर करहिं उपाधी–अर्थात् देवता लोग उपाधि करते हैं, जिसमें ग्रन्थि न छूटने पावे और जीवके द्वारा जो भोग उनको मिला करता है, उसमें बाधा न हो। जीव देवताओंके पशु हैं, इस लोक और परलोक दोनोंमें वे देवताओंद्वारा उपभुक्त होते हैं, यथा—

आये देव सदा स्वारथी। बचन कहैं जनु परमारथी॥

इंद्रिय द्वार झरोखा नाना।
तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥

अर्थ–देहगृहमें इन्द्रियद्वार ही नाना प्रकारके झरोखे हैं, जिनमें देवता गद्दी लगाये बैठे हैं।

इंद्रिय द्वार–इन्द्रियाँ दस हैं–पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय। ज्ञानेन्द्रिय–श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण। तथा कर्मेन्द्रिय–वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। इन्द्रियोंके द्वार अर्थात् गोलक भी

फलतः दस ही हैं। इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं, दिखलायी नहीं पड़तीं, उनके द्वार दिखलायी पड़ते हैं। अर्थात् इन्हीं द्वारोंसे निकलकर इन्द्रियाँ अपने विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, भाषण, ग्रहण, गमन, मलत्याग तथा आनन्दका क्रमशः ग्रहण करती हैं।

झरोखा नाना—ये ही द्वार नाना प्रकारके झरोखे हैं। नाना इसलिये कहा कि किसी-किसी इन्द्रियोंके दोहरे झरोखे हैं, जैसे आँख और कानके, और स्पर्श-इन्द्रियका तो रोम-रोम झरोखा-ही-झरोखा है।

तहँ तहँ—उन प्रत्येक झरोखोंमें।

सुर—देवता अर्थात् इन्द्रियोंके देवता। श्रोत्रके दिक्, त्वक्के वायु, चक्षुके सूर्य, रसनाके वरुण, घ्राणके अश्विनीकुमार, वाक्के वह्नि, हाथके इन्द्र, पादके विष्णु, पायुके मृत्यु और उपस्थके प्रजापति देवता हैं।

बैठे करि थाना—इन देवताओंका प्राणिमात्रकी देहेन्द्रियोंपर अधिकार है। ये साधकके इन्द्रियद्वाररूपी झरोखोंमें अधिकार जमाये बैठे हैं। भाव यह कि वहींसे उनको भोग मिलता था। वृत्तियोंके न उठनेसे भोग मिलना बंद हो गया है, अतः वे वृत्तियोंको उठानेके लिये अवश्य प्रयत्न करेंगे।

आवत देखहिं बिषय बयारी।
ते हठि देहिं कपाट उघारी ॥२६॥

अर्थ—जब विषयरूपी हवाके झोंकेको आते देखते हैं, तो बलपूर्वक किवाड़ खोल देते हैं।

विषय बयारी—विषयरूपी हवाका झोंका। भाव यह कि बुद्धि भुलावेमें नहीं आयी तो इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है कि किसी भाँति दीया बुझ जाय। और दीया बुझानेमें समर्थ हवाका झोंका है।

इसी विषय-बयारिके डरसे बुद्धि उरगृहमें दीया जलाकर गाँठ छोड़ने बैठी है, कि बाहर रहनेसे हवाके झोंकेसे दीया बुझ जायगा। अतएव मायाकी प्रेरणासे सब प्रकारके विषयोंके झोंके आने लगते हैं।

आवत देखहिं–ये देवता लोग जब झरोखेसे अर्थात् इन्द्रियद्वारसे देखते हैं कि झोंका आया।

ते हठि देहिं कपाट उघारी–तब जबरदस्ती झरोखेका किवाड़ खोल देते हैं। बुद्धि आसन और मुद्राद्वारा इन्द्रियद्वार झरोखोंको बंद करके उरगृहमें बैठी थी; ये हठ करके झरोखेका किवाड़ खोल देते हैं। बुद्धि मना करती ही रह जाती है, उसकी एक नहीं सुनते। भाव यह कि साधकको मधुमती भूमिकाकी प्राप्ति होती है, और वह सिद्धियोंमें आसक्त हो जाता है।

जब सो प्रभंजन उरगृह जाई।
तबहिं दीप बिग्यान बुझाई॥

अर्थ–जब वह हवाका झोंका हृदयरूपी घरके भीतर जाता है, तो विज्ञान-दीप बुझ जाता है।

जब सो प्रभंजन–प्रभंजन इसलिये कहा कि प्रकर्ष करके भञ्जन करनेवाला है, बड़े-बड़े पेड़ तोड़ डाले, मकान गिरा दिये, फिर दीया बुझाना क्या चीज है!

उरगृह जाई–अर्थात् झरोखेका कपाट खुलते ही प्रभञ्जन घरके भीतर पहुँचा, दिव्य विषय अपने-आप उपस्थित हो गये।

तबहिं दीप बिग्यान बुझाई–भाव यह कि पलमात्रमें दीवट कहीं गयी, दीया कहीं गिरा, बत्ती कहीं बुझकर उड़ गयी। एक पलमें अति दुरूह साधन ऐसा नष्ट हुआ कि कहीं पता नहीं। साधक दिव्य विषयोंमें लिप्त हो गया।

ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा।
बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥२७॥

अर्थ–गाँठि भी नहीं छूटी, वह उजेला भी मिट गया और विषय-वायुसे बुद्धि विकल हो गयी।

ग्रंथि न छूटि–जड़-चेतनकी ग्रन्थि छूटने न पायी, जिस काम-के लिये इतना परिश्रम किया गया सो हुआ ही नहीं।

मिटा सो प्रकासा–'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा' मिट गया। वह प्रकाश तो 'सोऽहमस्मि' वृत्तिके आश्रय था, जब विषयके झोंकेसे सोऽहमस्मिवृत्ति ही न रही तब भला प्रकाश कहाँ रहे?

विषय बतासा–विषयकी प्रचण्ड हवासे। अर्थात् प्रचण्ड हवाके वेगको वृत्तिजन्य ज्ञानदीप नहीं सह सकता।

बुद्धि विकल भइ–और इतने परिश्रमसे तैयार किये हुए प्रिय दीपके बुझनेसे तथा स्वामीके उद्धारके उपायमें भग्न-मनोरथ होनेसे एवं झोंकोंकी चपेटसे बुद्धि भी विकल हो जाती है, उसका साहस टूट जाता है और कुछ सूझ नहीं पड़ता।

इंद्रिय-सुरन्ह न ज्ञान सोहाई।
बिषयभोगपर प्रीति सदाई॥

अर्थ–इन्द्रियके देवताओंकी प्रीति सदा विषय-भोगोंपर रहती है, उन्हें ज्ञान नहीं सुहाता।

इंद्रिय-सुरन्ह–इन्द्रियके देवताओंको। देवताओंके अनेक भेद हैं। उनमें ज्ञानी देवता और विरक्त देवता भी हैं, यहाँपर उनसे तात्पर्य नहीं है, इन्द्रियोंके देवताओंसे तात्पर्य है।

न ज्ञान सोहाई–ज्ञान नहीं अच्छा लगता। ज्ञान होनेसे प्राणी

विषय-विमुख हो जाता है, अतएव देवताओंके भोगमें कमी आने लगती है। सृष्टिके प्रारम्भमें विराट्की उत्पत्तिके बाद जब उसे क्षुधा-तृषासे युक्त किया, तब भूख-प्याससे दुखी होकर इन्द्रिय-देवताओंने अपनी तृप्तिके लिये ब्रह्मदेवसे व्यष्टि शरीर रचनेकी प्रार्थना की। ब्रह्मदेवने ऊपर दाँतवाली गौ रची उससे वे लोग तृप्त नहीं हुए। उन्होंने कहा 'नायमलमिति'*। तब ऊपर-नीचे दोनों ओर दाँतवाला घोड़ा रचा। तब वे बोले कि इससे भी हमारा काम नहीं चलेगा, तब मनुष्य रचा। उसे देखकर देवता बड़े प्रसन्न हुए कि इससे हमारा काम चलेगा। अतः देवता इन्द्रियोंके रूपसे यथास्थान अङ्गोंमें प्रवेश कर गये। अतएव ऐसे भोगसाधन (मनुष्य) का विषय-विमुख होकर ज्ञानी होना उन्हें अच्छा नहीं लगता।

विषयभोगपर प्रीति सदाई—ज्ञान न अच्छा लगनेका कारण कहा कि सदा इनको विषय-भोगपर प्रीति बनी रहती है, वे एक क्षण भी विषयसे अलग रहना नहीं चाहते, फिर इन्हें विषयका विरोधी ज्ञान कैसे अच्छा लगेगा? यथा—

ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकइ पराइ बिभूती॥

बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी।
तेहि बिधि दीप को बार बहोरी॥ २८॥

अर्थ—विषयवायुने बुद्धिको पगली बना दिया, अब उस विधिसे फिर दीप कौन जलाता है?

विषय समीर—समीर अर्थात् वायु। समीर-शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'अच्छी तरह चलनेवाला।' भाव यह कि विषयका अंधड़ बंद नहीं होता, चला ही करता है।

---

* यह हमारे लिये यथेष्ट नहीं है।

बुद्धि कृत भोरी—अर्थात् उस समीरने परम सयानी बुद्धिको भोरी (पगली) बना दिया।

तेहि बिधि दीप—भाव यह कि जितनी श्रद्धा, धैर्य और परिश्रम-द्वारा, जिस विधिसे यह दीप जलाया गया था, उस विधिसे भग्नमनोरथ होने-पर फिरसे संभव नहीं है और अविधिसे जलाये हुए दीपमें 'सोऽहमस्मि' इस अखण्ड वृत्तिकी न दीपशिखा होगी और न आत्मानुभव-सुप्रकाश होगा।

को बार बहोरी—फिर कौन जलाता है ? भाव यह कि जलानेवाली तो विज्ञानरूपिणी बुद्धि है, वह भोरी हो गयी, बिना उसके दूसरेकी सामर्थ्य नहीं कि ऐसा दीप कोई जला सके। अतः फिर इस जन्ममें ऐसे दीपका जलना सर्वथा असम्भव है।

गोस्वामीजी विघ्नोंसे बचनेका उपासनाके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं देखते और न एक बार दीप बुझनेपर इसी जन्ममें अल्पायु होनेके कारण फिर जलाया जाना सम्भव समझते हैं। विघ्नका नाश उपासनासे होता है, यथा—

सकल बिघ्न ब्यापै नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥

दो०—तब फिर जीव बिबिध बिधि पावै संसृति क्लेस।
हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस॥

अर्थ—तब फिर जीव अनेक प्रकारके संसारी क्लेश पाता है, हरिमाया अति दुस्तर है, उससे पार नहीं पाया जाता।

तब फिर—अर्थात् जिस भाँति सात्त्विकी श्रद्धाके हृदयमें आनेके पहले अवस्था थी वही फिर हुई, इतना बड़ा प्रयास व्यर्थ गया। भाव यह कि अनन्तकालसे जीव ज्ञानदीपके उद्योगमें है। अनेक जन्ममें दीप जला और बुझा, पर ग्रन्थि नहीं छूटी, संसार ज्यों-का-त्यों बना रह गया।

जीव-भाव यह कि 'सोऽहमस्मि' वृत्तिको लेकर अपनेको ब्रह्म मानते थे, सो फिर जीव-के-जीव हो गये।

विविध विधि पावै संसृति क्लेस—अर्थात् अनेक प्रकारके सांसारिक क्लेश पाता है। जन्मका क्लेश, बाल्यावस्थाका क्लेश, यौवन तथा वार्द्धक्यका क्लेश, तत्पश्चात् मृत्युका क्लेश, तदनन्तर फिर जन्म, फिर मरण, क्लेशका अन्त नहीं है। क्लेश पाँच हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

हरिमाया अति दुस्तर—हरिमाया अति अपार है, यथा—

हरिमाया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा॥
अग जगमय सब मम उपजाया। नहिं आचरज मोह खगराया॥
जो ज्ञानिहु कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह बस करई॥
हरिमाया मोहहि मुनि ज्ञानी।

तरि न जाइ—अर्थात् तरा नहीं जाता। भाव यह कि जब आसुरी माया और दैवी मायाका तरना ही मनुष्यके लिये असम्भव है, यथा—

'जानि न जाय निसाचर माया।' 'सुर मायावस लोग बिमोहे।'

इत्यादि, तब हरिमाया कैसे तरी जायगी।

बिहगेस—गरुड़को विहगेश कहकर मायाके विघ्नका प्रकरण समाप्त करते हैं, प्रकरण 'खगराया' से आरम्भ किया था। यथा—

छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करै तब माया॥

दो०—कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन बिबेक।
होइ घुनाक्षर न्याय ज्यौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥

अर्थ—कहना कठिन, समझना कठिन, साधन कठिन और विवेक कठिन है, यदि घुणाक्षरन्यायसे हो भी जाय, फिर भी अनेक विघ्न हैं।

कहत कठिन–अर्थात् कहते नहीं बनता, यथा—

उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कौन प्रकार कहै कवि कोऊ॥

'न जात बखानी' कहकर प्रकरण आरम्भ किया था और 'कहत कठिन' कहकर उपसंहार करते हैं।

समुझत कठिन–भ्रमसे सनी हुई बुद्धि है, अतएव यदि कोई कहे भी तो समझना कठिन है, यथा–'समुझि न परै बुद्धि भ्रमसानी॥' 'समुझत बनै न' कहकर उपक्रम किया, अब 'समुझत कठिन' कहकर उपसंहार करते हैं।

साधन कठिन–यदि किसी भाँति कहते-सुनते भी बने तो 'साधन कठिन' है क्योंकि मनको कोई आधार नहीं मिलता, निर्गुण निराकारमें मनकी गति नहीं है। यथा—

साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥

कठिन विवेक–अर्थात् सुनने-समझने, साधन करनेपर भी विवेक-ज्ञान होना कठिन है, यथा—

सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोहजनित दारुन भव बिपति सतावै॥

(विनय०)

होइ घुनाक्षर न्याय ज्यों–काठमें घुन लगते हैं, जिससे उसमें कभी-कभी अक्षर बन जाता है। घुनको अक्षरका ज्ञान नहीं जो बना सके, फिर भी दैवयोगसे कोई अक्षर बन जाता है। उसीको घुणाक्षर-न्याय कहते हैं। इस न्यायसे भी यदि ज्ञानदीपक ठीक उतर जाय तो—

'घुनाक्षर न्याय' कहकर 'अस संजोग ईश जब करई' का साफल्य दिखलाया।

पुनि प्रत्यूह अनेक–फिर भी बहुत-से विघ्न हैं, जो जड-चेतनकी ग्रन्थि नहीं खोलने देते।

ज्ञानपंथ कृपान कर धारा ।
परत खगेस होत नहिं बारा ॥

अर्थ–ज्ञानमार्ग तलवारकी धार है। इसपरसे गिरते, हे गरुड़ ! देर नहीं लगती ।

ज्ञानपंथ–अर्थात् अकृतोपास्तिज्ञानका साधन। भाव यह कि उपासनाकी सहायता बिना लिये जो ज्ञान-सिद्धि चाहते हैं, उनका मार्ग ।

कृपान कर धारा–भाव यह कि ज्ञानपन्थ बड़ा ही सूक्ष्म है; बस, उसे तलवारकी धार ही समझिये । रास्ता क्या है, निरालम्ब मार्गमें एक रेखा है । झूलेपर चलना कितना कठिन है ! फिर उस कृपाणकी धारापरसे कोई क्या चलेगा !

खगेस–सम्बोधन, मायाकृत विघ्नसूचक ।

परत होत नहिं बारा–गिरते देर नहीं लगती । चलते बड़ी देर लगती है । तारपर या रस्सेपर चलनेवाले समताको बनाये हुए बड़ी कठिनता और देरसे पैर रखते हैं । तनिक-सा समतामें वैषम्य आया कि पतन हुआ, यहाँ तो कृपाणधारा-सा सूक्ष्म पथपर चलना है, पतनमें क्या देर है ? यथा—

जे ज्ञान मान बिमत्त तव भय-हरनि भगति न आदरी ।
ते पाइ सुर दुरलभ पदादपि परत हम देखत हरी ॥

जौं निर्बिघ्न पंथ निरबहई ।
तौ कैवल्य परमपद लहई ॥२९॥

अर्थ–यदि विघ्नको अतिक्रमण करता हुआ रास्ता पार करे तो कैवल्य परमपद पावे ।

निर्विघ्न पंथ—बहुत बड़े और घने विघ्नवाले मार्गको निर्विघ्न निवाहना परम पुरुषार्थ है।

जौं निरवहई—जो परम पुरुषार्थका आश्रय करके सब विघ्न-बाधाओंको झेलता हुआ बिना पतनके पार पहुँच जाय।

तौ कैवल्य परमपद लहई—तो कैवल्य नामक जो परमपद है उसको प्राप्त होता है अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मकी स्थितिको प्राप्त होता है, यथा—

जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई॥

अति दुर्लभ कैवल्य परमपद।
संत पुरान निगम आगम बद॥

अर्थ—कैवल्य परमपद अति दुर्लभ है। संत, पुराण, वेद, शास्त्र ऐसा ही कहते हैं।

कैवल्य पद—त्रिदेवके अधिकारको पद कहते हैं, यथा—

'भरतहिं होइ न राजमद बिधि-हरि-हरपद पाइ' परन्तु कैवल्यपद उससे भी बड़ा है, इसलिये परमपद कहा।

अति दुर्लभ—भाव यह कि अन्तिम देह ब्राह्मणकी सुर-दुर्लभ है, यथा—

चरम देह द्विज कर मैं पावा। सुरदुर्लभ पुरान श्रुति गावा॥

उस शरीरमें भी विरति, विवेक, ज्ञान, विज्ञानका होना मुनिदुर्लभ है, यथा—

ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनिदुर्लभ गुन जे जग जाना॥

उन गुणोंके होते हुए भी, उनका फलरूप कैवल्यपद अति दुर्लभ है।

संत पुरान निगम आगम बद–अर्थात् साधु, वेद, शास्त्र, पुराण सभी कहते हैं। भाव यह कि वेद, शास्त्र, पुराणके कहनेपर भी साधुओंके अनुमोदनकी अपेक्षा रहती है। क्योंकि वेद, पुराण सर्वांशमें समुद्ररूप होनेपर भी उनके वाक्यरूपी जलसे काम नहीं चलता। जब वह वेद, पुराणरूपी समुद्रका वाक्य-जल मेघस्थानीय साधुओंके मुखसे च्युत होता है तब संसारके कामका होता है, यथा—

वेद पुरान उदधि घन साधू।

अतः वेद, पुराण, शास्त्र और साधु सब एक स्वरसे कहते हैं कि कैवल्यपद अति दुर्लभ है, यही परम पुरुषार्थकी सिद्धि है।

तृतीय प्रसङ्ग

श्रीभक्ति-चिन्तामणि

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं ।
अनइच्छित आवै बरिआईं ॥ २० ॥

अर्थ—हे गोसाईं ! रामको भजते-भजते वही मुक्ति विना चाहे भी वलपूर्वक आती है।

राम भजत—भाव यह कि साधारणतः संसारी जीव संसारको भजते हैं। संसारमें ममता होना ही संसारको भजना है; और देहमें, गेहमें, कुटुम्बमें, परिवारमें, धनमें, सम्पत्तिमें ममता होना ही सांसारिक ममता या संसारित्व है। मनसे वृत्तिरूप ममताके तागे निकलकर देह-गेह-कुटुम्बादि-में लगे हुए हैं, जिनकी चौतरफा खींचतानसे मन सतत विकल रहता है, कभी विश्राम नहीं पाता, यथा—

कबहूँ मन विश्राम न मान्यो ।
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इंद्रिय तान्यौ ।

इसी दुःखसे छूटनेके लिये शास्त्रोंकी उपयोगिता है, और पुरुषार्थकी प्रवृत्ति है। इस दुःखसे छूटनेके दो ही रास्ते हैं। या तो ममताके तागे ही काट डाले जायँ, या ममता संसारसे तोड़कर राममें जोड़ी जाय, यथा—

को करु ममता रामसे की ममता परहेलु।

इनमें ममता-तागे काटनेवाले रास्तेको ज्ञानपंथ कहते हैं, यथा— 'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।' परन्तु यह मार्ग दुर्गम है, इसमें विघ्न बहुत हैं, साधन भी कठिन है, मनको कोई अवलम्ब नहीं मिलता। अतः इस रास्तेमें कष्ट बहुत हैं; यथा—

ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावै कोऊ। भक्तिहीन मोहिं प्रिय नहिं सोऊ॥

इसमें परम अधिकारकी आवश्यकता है। अतः इसके अधिकारी भी बहुत कम हैं। भुशुण्डिजीने स्वयं अपनेको इसका अधिकारी नहीं माना, यथा—

'मोहि परम अधिकारी जानी॥' 'लागे करन ब्रह्म उपदेसा।'
सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा। बारि बीच इव गावहिं बेदा॥

यदि किसी भाँति ज्ञानकी प्राप्ति हो भी जाय, तो उसका टिकना बिना उपासनाके सम्भव नहीं, उसका पतन हुए बिना नहीं रहता, यथा—

जे ज्ञान मान बिमत्त तव भयहरनि भगति न आदरी।
ते पाइ सुर दुरलभ पदादपि परत हम देखत हरी॥

अतः दूसरा सुगम मार्ग यह है कि ममता रामसे जोड़ी जाय। इसीको भक्तिपथ कहते हैं। इसमें ममताके तागे काटे नहीं जाते, क्योंकि इनको काटनेमें जन्म-जन्म अभ्यासनिरत मनको महाकष्ट होता है। मनसे भी ममतात्यागका ध्यान करनेसे असह्य वेदना होती है। अतः इसकी विधि यह है कि देह-गेह-कुटुम्बादिमें जहाँ-जहाँ ममताके तागे लगे हों, वहाँसे हटाकर सबको बँट डाला जाय, यथा—

जहँ लगि नाथ सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निज गाई ॥
मोरे सबुइ एक तुम स्वामी ।

और इस भाँति बँटी हुई डोरीको भगवच्चरणोंमें बाँधे, यथा—

जननी जनक बंधु सुत दारा । तन धन सहज सुहृद परिवारा ॥
सबकै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहिं बाँधु बरि डोरी ॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हर्ष सोक भय नहिं मनमाहीं ॥

इस भाँति ममताकी डोरी भगवच्चरणोंमें लग जानेपर मन खींचा-तानीसे छूटकर स्थितिको प्राप्त होता है, केवल अस्मितामात्र रह जाती है, जिसे ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहते हैं । इससे प्रकाश होता है, और सबमें समान रूपसे ब्रह्म दिखायी पड़ने लगता है, और साधक हर्ष-शोकसे छूट जाता है । वही ममता संसारमें होनेसे अन्धकारमयी अविद्या थी, और वही ईश्वर-प्रणिधानसे ज्योतिष्मती विद्या हो गयी । यही रामभजन है।

सोइ मुकुति–भाव यह कि साधनकी सुगमतासे कोई सिद्धिमें त्रुटि न मान ले, अतः कहते हैं कि सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि या सारूप्य नहीं, बल्कि वही चित्‌जड़ग्रन्थिविमोकरूपा कैवल्यमुक्ति-(वही श्रुतिस्मृतिप्रसिद्ध अति दुर्लभ परमपद) जिसके लिये इतना बड़ा भगीरथ प्रयत्न करके ज्ञानदीप जलाया गया, और फिर भी विघ्नबाहुल्य-के कारण प्राप्त न हो सकी ।

गोसाईं–भाव यह कि आप भी स्वामी हैं, आप जानते हैं कि सेवककी भक्तिसे प्रसन्न होकर, स्वामी उसके अभिमुख होते हैं, उसपर अनुग्रह करते हैं, इसी भाँति भक्तिविशेषसे (मानसिक, वाचिक वा कायिकसे) श्रीराम अभिमुख होकर अभिध्यान* मात्रसे भक्तपर अनुग्रह करते हैं, और उसके मनोरथको पूर्ण करते हैं, यथा—'भजत कृपा करिहैं रघुराई ॥'

---

* संकल्प ।

अनइच्छित–भाव यह कि सामान्यतः जीव अति आर्त होकर, जिज्ञासु होकर, अर्थार्थी होकर अथवा ज्ञानकी स्थिरताके लिये रामके सम्मुख होते हैं, यथा—

राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥

परन्तु ऐसी एकाङ्गी प्रीति करनेवाले निष्काम भक्त भी होते हैं, जिनको भजनमें ही ऐसा आनन्द मिल गया है कि वे मुक्ति तककी उपेक्षा करते हैं, उनके लिये मुक्ति अनइच्छित है, यथा—

अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहौं निर्वान।
जनम जनम रति रामपद, यह बरदान न आन॥

जैसे अर्थ (रुपया) सुखका साधनमात्र है, और इसीलिये जगत् उसके लिये लालायित रहता है, और सभी थोड़ा या बहुत परिश्रम अर्थोपार्जनके लिये करते हैं, परन्तु कोई-कोई ऐसे भी हैं जिन्हें अर्थ-संग्रहमें ही कोई ऐसा विशेष आनन्द मिल गया है, कि वे अर्थके लिये ही सब दुःख उठाते हैं, और उस अर्थसे कोई सुख लिया नहीं चाहते, किसी भाँति जीवन-निर्वाह कर लेते हैं, और सुखकी ओरसे उनकी सर्वथा उपेक्षा-बुद्धि हो जाती है, सुख उनके लिये अनइच्छित पदार्थ हो जाता है, इसी भाँति अनन्य भक्तके लिये मुक्ति भी अनिच्छित हो जाती है, यथा—

मम गुन ग्राम नामरत, गत ईर्षा मद मोह।
तेहि कर सुख सोइ जानै, चिदानंद संदोह॥

तथा—

जलद जनम भरि सुरति बिसारै। जाचत जल पवि पाहन डारै॥
चातक रटनि रटें घटि जाई। बढ़े प्रीति सब भाँति भलाई॥

आवै बरिआईं–रामका भजन करनेसे विघ्नोंका अभाव तो हो ही जाता है, यथा—

सकल विघ्न व्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥

उसके साथ-साथ प्रत्यक् चेतनका अधिगम अर्थात् स्वरूपका दर्शन भी होता है। भाव यह कि ममताकी डोरी राममें लगनेसे तत्पदवाच्य-का दर्शन तो उसे होता ही है, साथ-ही-साथ उसे त्वंपदवाच्यका भी दर्शन हो जाता है, यथा—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

जिस भाँति ईश्वर-पुरुष, शुद्ध, प्रसन्न, केवल है और जात्यायु-भोगसे रहित है, उसी भाँति बुद्धिका प्रतिसंवेदी* पुरुष त्वंपदार्थ भी है, अतः एकके साक्षात्कारसे दूसरा भी जाना जाता है। सदृश अर्थके अनुचिन्तनसे दूसरे सदृश पदार्थके साक्षात्कारकी उपयोगिता होती है, जिस भाँति एक शास्त्रके अभ्याससे उसके सदृश दूसरे शास्त्रके ज्ञानकी उपयोगिता होती है। तत्पश्चात् भेदासहिष्णु भक्ति दोनोंका ऐक्य कर देती है, अर्थात् चित्‌जड़ग्रन्थि छोड़ देती है, यथा—

देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही॥

इस प्रकार मुक्ति बरिआईसे आती है। ऐसी अवस्थामें यदि सेवक-सेव्यभाव अटल रह जाय तब तो मुक्ति रुकती है नहीं तो बिना चाहे भी मुक्ति हो जाती है, यथा—

सो अनन्य अस जाकर, मति न टरै हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥

यही मुक्तिका बलपूर्वक आना है। मुक्तिके इस भाँति आनेका कारण यह है कि—

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥

---

* प्रतिबिम्बित।

तथा मोच्छसुख सुनु खगराई ।
रहि न सकै हरिभगति बिहाई ॥२१॥

अर्थ–जैसे थलके विना जल नहीं रह सकता, चाहे कोई कोटि भाँति उपाय करे, वैसे ही हे गरुड ! मोक्षसुख हरिभक्तिको छोड़कर ठहर नहीं सकता ।

जिमि जल थल–यहाँ जल-थलका दृष्टान्त दिया गया है । जल-थलमें आधाराधेय सम्बन्ध है । जल आधेय है, थल आधार है । जलका प्रच्यवनशील स्वभाव है, अतः उसके ठहरनेके लिये थलकी आवश्यकता है । जो जिसका आधार नहीं है, वह वहाँ ठहर नहीं सकता । आकाश, वायु और अग्नि ये भूतत्रय जलके आधार नहीं हैं, अतः वहाँ जाकर भी जल नहीं ठहर सकता । इसके कारण ईश्वरीय नियम हैं, तदनुसार रहनेमें ही सुख है, यथा—

गगन समीर अनल जल धरनी । इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी ॥
प्रभु प्रेरित माया उपजाये । सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाये ॥
प्रभु आज्ञा जेहि कहँ जस अहई । सो तेहि भाँति रहे सुख लहई ॥

विनु रहि न सकाई–भाव यह कि थलका साथ जल नहीं छोड़ सकता । जहाँ जल-ही-जल हो वहाँ भी अनुमान करना पड़ेगा कि आधाररूपमें थल विद्यमान है, क्योंकि ईश्वरीय नियम भङ्ग नहीं होता ।

कोउ–भाव यह कि साधक चाहे कैसा ही समर्थ हो । जीव तीन प्रकारके होते हैं—(१) विषयी, (२) साधक और (३) सिद्ध, यथा—

विषयी साधक सिद्ध सयाने । त्रिबिध जीव जग बेद बखाने ॥

सो इनमेंसे चाहे कोई भी हो वह उपर्युक्त नियम भङ्ग करनेमें असमर्थ है ।

कोटि भाँति उपाय करै–जो कार्य सामान्य रीतिसे नहीं होता, उसके लिये उपाय किया जाता है, यथा—

तदपि एक मैं कहब उपाई। करिअ दैव जो होय सहाई॥

अतः उपायद्वारा, यन्त्रद्वारा चाहे जल अन्तरिक्षमें फेंका जाय, अथवा ईश्वरीय नियमसे मेघद्वारा आकाशपर चढ़ जाय, पर वहाँ ठहर नहीं सकता। ठहरेगा तो थलपर आकर ही ठहरेगा।

मोच्छसुख-भाव यह कि मोक्ष और सुख कोई दो पदार्थ नहीं हैं। सुख, ब्रह्म और मोक्ष ये समानार्थक शब्द हैं, यथा—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा।

सुख सरूप रघुबंसमनि मंगल मोद निधान।

ब्रह्मसुख ही सब सुखोंका मूल है। प्रकारान्तरसे विषयसुख भी ब्रह्मसुखकी ही झलक है। इसीलिये 'मंगल मोद निधान' कहा। सो यहाँ 'मोच्छसुख' शब्दके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि मोक्ष होनेके पहले साधनद्वारा मुक्तिके सान्निध्यसे मोक्षसुखका अनुभव होने लगता है, अथवा ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर भी प्रारब्धके प्रतिबन्धक रहनेसे मुक्ति रुकी रहती है, पर मोक्षसुख नहीं रुक सकता, अतः यहाँ मुक्ति न कहकर मोक्षसुख कहा।

सुनु खगराई-सुनु खगराई कहकर यह जतलाया कि उड़नेवालोंमें प्रथम गणना आपकी है। आप जानते हैं कि कितना भी कोई उड़े, पर बिना थलके विश्राम नहीं मिल सकता।

हरिभगति बिहाई-भाव यह कि हरिभक्ति तथा ब्रह्मसुखमें आधाराधेय भाव है, जहाँ ब्रह्मसुख है वहाँ हरिभक्ति अवश्य है, परन्तु मोक्ष तो सब किसीको स्वभावसे ही प्राप्त है, क्योंकि वह कृतक नहीं है, नित्य है, फिर उसका आधार कहना नहीं बनता। इसीलिये मोक्ष न कहकर मोक्षसुख कहा, क्योंकि नित्यप्राप्त मोक्षसुखको आच्छादित रखनेवाली अहन्ता-ममतारूपा अविद्या है, यथा—

कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुख, अह मम मलिन जनेषु॥

सो चाहे अहन्ताको भगवच्चरणोंमें बाँधनेसे अर्थात् अहंग्रहो-

पासनासे मोक्षसुख मिले, अथवा ममताको उन चरणोंमें बाँधनेसे मोक्षसुख मिले, उसके मूलमें हरिभक्ति तो हुई है, पर अन्य उपायोंसे अर्थात् जप, तप, मखादि कर्मोंसे भी जहाँ मोक्षसुख प्राप्त हो वहाँ भी हरिभक्ति ही अनुमित है, क्योंकि हरिभक्ति छोड़नेका अर्थ ही हरिसे नाता तोड़ना है, और उनसे नाता तोड़नेपर सुख कहाँ ? यथा—'बिनु हरि भगति जाय जप जोगा ।'

तथा रहि न सकै—भाव यह कि हरिभक्तिको छोड़नेपर ब्रह्म-सुख निराधार हो जाता है, उनसे नाता बनाये रखनेपर ही, जप तप मखादि कर्मोंमें भी ब्रह्मसुखकी आशा की जा सकती है, और तोड़नेपर तो उसकी कोई आशा ही नहीं । यथा—

जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू । जहँ नहिं रामप्रेम परधानू ॥

अस बिचारि हरिभगत सयाने । मुकुति निरादर भगति लोभाने ॥

अर्थ—ऐसा विचारकर ही तो सयाने हरिभक्त भक्तिके लोभमें पड़कर मुक्तिका निरादर करते हैं ।

अस विचारि—भाव यह कि भक्तिसे ही आर्तजीवके संकट कटते हैं और सुखकी प्राप्ति होती है । भक्तिसे अर्थार्थियोंको अणिमादि सिद्धि मिलती है, भक्तिसे जिज्ञासुओंको गूढ़ गतिका ज्ञान होता है, और भक्तिसे ही ज्ञान दृढभूमिक होता है, यथा—

नाम जीह जपि जागहिं जोगी । बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ॥
ब्रह्मसुखहिं अनुभवहिं अनूपा । अकथ अनामय नाम न रूपा ॥
जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ । नाम जीह जपि जानहिं तेऊ ॥
साधक नाम जपहिं लय लाये । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाये ॥
जपहिं नाम जन आरत भारी । मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥

तथा—

एकहि साधन सब रिधिसिधि साधि रे।
ग्रसे कलिकाल जोग संजम समाधि रे॥
(विनय॰)

हरिभगत सयाने–कहनेका भाव यह कि सयाने लोगोंकी यह रीति है कि उपायकी उपेयसे भी अधिक प्रतिष्ठा करते हैं, यथा—

तुमतें अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकल भाँति सेवहिं सनमानी॥

इस भाँति यद्यपि धन सुखके ही लिये है, पर सयाने लोग सुखसे अधिक प्रतिष्ठा धनकी करते हैं, और धनसंग्रहमें किसी दुःखको दुःख नहीं गिनते, इसी तरह हरिभक्तोंमें सयाने अनन्य भक्तलोग हैं, जो भक्तिके सामने मुक्तिको भी नहीं मानते।

मुकुति निरादर–भाव यह कि करगत मुक्तिसे भी पीछे हटते हैं, भक्तिके आनन्दमें ही निमग्न हैं, मुक्तिकी ओर देखनेके लिये उन्हें अवसर नहीं, यथा—

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं कौन कहाँ नहिं बूझा॥
मुनि मगमाँझ अचल ह्वै बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥
मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यानजनित सुख पावा॥
सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन कहँ राम भगति निज देहीं॥

भगति लोभाने–भाव यह कि भक्तिशास्त्रमें कार्पण्यविशेषका आदर है। जैसे कृपणको धनका लोभ होता है, धनके लिये सुख त्याग करनेका उसका ऐसा स्वभाव पड़ जाता है कि वह मुफ्तमें मिले हुए सुखको भी नहीं भोगना चाहता, दूसरेके भोगको भी नहीं देख सकता, उसी भाँति भक्तको भी भक्तिका लोभ हो जाता है, उसे स्वयं भी मोक्षकी इच्छा नहीं रहती, और दूसरोंको भी मुक्ति छोड़कर भजन करनेका ही उपदेश देता है, यथा—

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहिं राम॥

भजन करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृति मूल अविद्या नासा॥ ३२॥

अर्थ-भजन करते हुए बिना यत्न और प्रयासके, संसारके मूल अविद्याका नाश हो जाता है।

भजन करत-भाव यह कि भजन करनेमें तीन वस्तु अपेक्षित हैं—(१) भजनीय भगवान्, (२) भक्ति और (३) अधिकारी। भगवान्के दो रूप हैं, निर्गुण और सगुण। सो निर्गुणकी उपासना अभेद भक्तिसे होती है। सगुण ब्रह्मकी दो उपाधियाँ हैं—नाम* और रूप†। इन्हींके द्वारा इनका भजन होता है, यथा—

---

* नाम-भजन प्रधान है, क्योंकि इसके द्वारा निर्गुण-सगुण दोनों रूपोंका भजन हो सकता है। नामका जप अर्थभावनाके साथ होना चाहिये। नामोंमें भी प्रणवरूप होनेसे, सुखमुखोच्चार्य होनेसे, सर्वहित होनेसे तथा अधिक पापनाशक होनेसे राम-नाम सब नामोंमें श्रेष्ठ है।

† उस विश्वरूपके पाँच भजनीय रूप महात्माओंने माने हैं—१ परमरूप, २ व्यूहरूप, ३ विभवरूप, ४ अन्तर्यामीरूप और ५ अर्चावताररूप।

१-परमरूप-नित्य विभूतिमें है। परमरूप और वासुदेव एक ही हैं। वासुदेव व्यक्ताव्यक्तात्मक विष्णुको कहते हैं, यथा—'वासुदेव पदपंकरुह, दंपति मन अति लाग।' इसी रूपको व्यूहमें मिलाकर चारकी संख्या पूरी करते हैं।

२-व्यूहरूप चार हैं,—वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। ये ही क्रमशः राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न हैं। ज्ञान और बलकी प्रधानता सङ्कर्षणव्यूहमें है, ऐश्वर्य और वीर्यकी प्रधानता प्रद्युम्नव्यूहमें, शक्ति और तेजकी प्रधानता अनिरुद्धव्यूहमें, और छहों गुणोंकी पूर्णरूपसे एक साथ ही स्थिति वासुदेवरूपमें है, यथा—

अगुन सगुन* दुइ ब्रह्मस्वरूपा। अकथ अगाधि अनादि अरूपा॥

भक्ति नौ प्रकारकी होती है, यथा—'श्रवनादिक† नव भक्ति दृढाहीं।' यह श्रवणादिक भक्ति वर्णाश्रमधर्माधिकारियोंके लिये है, यथा—

चारिउ रूप-सील-गुन-धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥

३—भक्तोंपर अनुग्रह करके संसारमें जिस रूपसे अवतरित होते हैं, उसे विभवरूप कहते हैं, यथा—

इच्छामय नरदेह सँवारे। ह्वैहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥

४—अर्चावताररूप—भक्तलोग जिस स्वरूपका ध्यान करते हैं, और जिस नामका स्मरण करते हैं वैसा ही नाम और रूप धारण करके भगवान् अर्चावतारमें विराजते हैं। सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, पूर्णकाम, रक्षक और सर्वस्वामी होते हुए भी अज्ञ और असमर्थ-से होकर, अपेक्षा करने और रक्षा करनेयोग्य मालूम पड़ते हैं, भक्तके अधीन अपने स्वरूपको कर देनेसे नेत्रोंको सुलभ हो जाते हैं, यथा—

कर नित करहिं रामपद पूजा।

* सगुणरूपके साथ-ही-साथ लीला और धामका भी ग्रहण होता है। नित्यधामदायक होनेसे लीलाधामकी महिमा नित्यधामसे भी बढ़कर है, यथा—'मम धामदा पुरी सुखरासी।'

† श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(१) श्रवण, यथा—आसा असन व्यसन यह तिनहीं। रघुपतिचरित होइ तहँ सुनहीं॥ (२) कीर्तन, यथा—कहत फिरौं हरिगुन अनुवादा। (३) स्मरण, यथा—राम-नाम सिव सुमिरन लागे। (४) पादसेवन, यथा—चरन-कमल चापत विधि नाना॥ (५) अर्चन, यथा—कर नित करहिं राम पद पूजा। (६) वन्दन—राम नमामि नमामि नमामी॥ (७) दास्य, यथा—मोर दास कहाइ नर आसा। करै तो कहौं रह्यौ विस्वासा॥ (८) सख्य, यथा—कीन्ह प्रीति कछु बीच न राखा। (९) आत्मनिवेदन—अब प्रभु पाहि सरन तकि आएउँ।

प्रथमहिं विप्रचरन अति प्रीती। निज निज धर्मनिरत श्रुतिरीती ॥
तेहिकर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा ॥

परन्तु आचाण्डाल मनुष्यमात्रके लिये जिस नवधा* भक्तिका उपदेश है वह शबरीके प्रसङ्गमें कही गयी है। बिना संसारसे चित्त हटाये भगवत्-चरणोंमें चित्त नहीं लग सकता। बिना वैराग्यके साधनभक्ति भी नहीं हो सकती। सो वैराग्य ब्राह्मणभक्ति करते हुए स्वधर्माचरणसे होता है, यथा—

बंदौं प्रथम महीसुर चरना। मोहजनित संसय सब हरना ॥

तब भागवतधर्ममें अनुराग होता है तत्पश्चात् श्रवणादिक साधन-भक्ति दृढ़ होती है।

अधिकारी—

राम-भगतिके ते अधिकारी। जिन कहँ सतसंगति अति प्यारी ॥

बिनु जतन प्रयासा—भाव यह कि यत्न उपायको कहते हैं यथा—'कीनिउ जतन देइ नहिं जाना।' और यत्न करनेमें जो श्रम होता है उसे प्रयास कहते हैं। सो यत्न और प्रयास ज्ञानमार्गमें है। भक्तिमें तो सबसे ममता हटाकर राममें जोड़ना है, और किसी यत्न तथा प्रयासकी आवश्यकता नहीं है, यथा—

कहहु भगति पथ कौन प्रयासा। जोग न जप तप मख उपवासा ॥

---

* प्रथम भगति संतन कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥
गुरुपदपंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन, करइ कपट तजि गान ॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥
छठ दम सील बिरत बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा ॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोहिते अधिक संत करि लेखा ॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेउ नहिं देखइ परदोषा ॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना ॥

संसृति मूल-यद्यपि यह सृष्टि मायाकी रची हुई है, पर हरिकी प्रेरणासे रची गयी है, यह बन्धका कारण नहीं है। बन्धका कारण जीवकृत सृष्टि है। यह अविद्यासे है, यही दुःखरूपा है, इसीके कारण जीव भवकूपमें पड़ा है, यथा—

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जेहि वस जीव परा भवकूपा॥

अविद्या-अविद्या पञ्चपर्वा है, इसकी पाँच अवस्थाएँ हैं-१ अविद्या, २ अस्मिता, ३ राग, ४ द्वेष और ५ अभिनिवेश; यथा-'दारुन अविद्या पंचजनित विकार श्रीरघुबर हरै।'

१ अविद्या-अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्ममें नित्य, शुचि, सुख और आत्मके भानको कहते हैं, यथा-

तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रय काल जल नाहीं जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप खल तू भूलि धौं आयो कहाँ॥

२ अस्मिता—चित्-शक्ति और जड-शक्ति (बुद्धि) की एकात्मताको कहते हैं! भोक्तृशक्ति और भोग्यशक्तिकी एक स्वरूपापत्ति (अध्यास) ही भोग है, यदि दोनों पृथक् कर दी जायँ तो कैवल्य हो जाय, यथा—

संसृतिमूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥

३ राग-सुखके जानकारकी सुखानुस्मृतिपूर्वक सुख या सुखके साधनमें जो तृष्णा है, उसको राग कहते हैं, यथा—

अलि पतंग मृग मीन गज जरत एकही आँच।
तुलसी वे कैसे जियें जिनके लागे पाँच॥

४ द्वेष-दुःखके जानकारका दुःखानुस्मृतिपूर्वक दुःख या दुःखके साधनमें जो क्रोध होता है, उसको द्वेष कहते हैं; यथा-

खर दूषन विराध तुम मारा। हतेउ व्याध इव वालि बिचारा॥
..........................।आज बैर सब लेउँ निवाही।

५—अभिनिवेश—मरणभयको कहते हैं; यथा—

उतर देत मोहि बधब अभागे।

नासा—भाव यह कि ममताके रामचरणमें लग जानेसे पञ्चपर्वा अविद्याका नाश होता है, यथा—

अविद्याका नाश—

हरिसेवकहिं न ब्याप अविद्या। प्रभुप्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या॥

अस्मिताका नाश—

जन अभिमान न राखहिं काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

रागका नाश—

जौं तुम राम लागते मीठे।
तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।

द्वेषका नाश—

निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध॥

अभिनिवेशका नाश—

सपने नहिं कालहुते डरिये। (कवित०)

अब प्रश्न यह है कि संसारमें जहाँ-जहाँ ममताके तागे लगे हुए हैं, वहाँ-वहाँसे उन्हें हटाकर, उनकी एक डोरी बटकर भगवत्-चरणोंमें बाँधना भी तो साधारण व्यापार नहीं है, विना प्रबल वैराग्यके इस त्रिगुणात्मक संसारसे ममता छूट भी तो नहीं सकती, यथा—

कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी॥

अतः उस वैराग्यबलका सम्पादन करनेके लिये तो क्लिष्ट साधनोंका सामना करना ही पड़ेगा। अतः कहते हैं—

भोजन करिअ तृपिति हित लागी।
जिमि सोइ असन पचव जठरागी॥

अर्थ–जैसे भोजन तृप्ति और हितके लिये किया जाता है, और उस भोजनको जठराग्नि पचाती है।

जिमि–दृष्टान्तबोधक शब्द है, दृष्टान्त पीछे कहा जायगा।

भोजन करिअ–भाव यह कि इस शरीरयन्त्रका परिपोषण और वर्धन भोजनसे ही होता है। शरीरमें रातदिन श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, रसन, घ्राण और गमनादिक क्रियासे शक्तिक्षय हुआ करता है। भोजनसे ही उस क्षतिकी पूर्ति और बलवीर्यवर्धन तथा संग्रह हुआ करता है, भोजनके बिना यह शरीर-यन्त्र चल नहीं सकता। इतना आवश्यक होनेपर भी भोजन-ऐसा सुगम व्यापार कोई भी नहीं, इसमें कोई आयास नहीं होता, लोग सुखपूर्वक ग्रास-ग्रास करके भोजन करते हैं, और स्वाद लेते हुए शनैः-शनैः तृप्त हो जाते हैं।

तृपिति हित लागी–भाव यह कि खाली पेट होनेपर पेटमें जलन होती (भूख लगती) है। यह नित्यरोग है, यथा–'क्षुधा व्याधि बाधा भइ भारी' पर यही भूख स्वास्थ्यका लक्षण है, यही बलका मूल है। जिसे भूख नहीं, समझिये उसकी अग्नि दुष्ट हो गयी है, वह मन्दाग्नि आदि रोगोंके वशीभूत है, इससे और भी आगन्तुक रोग उत्पन्न होंगे, शरीरयन्त्र ही खतरेमें है। यदि भूख ठीक लगे तो उसका प्रकृत औषध भोजन है। भोजन न मिलनेसे अन्नाभिलाषा बढ़ती है, तुरन्त दुर्बलताका अनुभव होने लगता है। अतः उक्त अभिलाषाकी पूर्ति अर्थात् तृप्तिके लिये तथा दुर्बलता दूर करनेके लिये, बलाधानके लिये अर्थात् हितके लिये भोजन किया जाता है। भोजनके एक-एक ग्राससे क्रमशः तुष्टि और पुष्टि होती है, आँख खुल जाती है और प्राणका सञ्चार हो उठता है।

सोइ असन–भाव यह कि वही भोजन जो तुष्टि और पुष्टिके लिये किया गया था, तात्कालिक तुष्टि और पुष्टि सम्पादन करके ही अपनी उपयोगिता समाप्त नहीं करता, इतना लाभ तो इसका आनुषङ्गिक फल है, जिसका मनुष्य अनुभव करता है, परन्तु उसका यथार्थ लाभ तो मनुष्यके बिना जाने हुआ करता है।

पचव जठरागी–भाव यह कि जिस भाँति यन्त्रोंके सञ्चालनके लिये भौतिकाग्निकी आवश्यकता होती है उसी भाँति इस शरीर-यन्त्रके लिये जठराग्नि (पेटकी अग्नि) है। जठराग्नि उदरस्थ भोजनको पचाती है, उसीसे रस-रक्तादि सातों धातु बनकर इस शरीरयन्त्रका पोषण करते हैं और बल-सम्पादन करते हैं। जब इस अग्निको भोजन नहीं मिलता, तो यह मल और धातुओंको पचाने लगती है तब जलन, अन्नाभिलाषा और दुर्बलता उत्पन्न होती है। कुछ दिनोंतक अनशन करनेसे शरीरयन्त्र ही नष्ट हो जाता है। अति तीव्र वैराग्यवान् अब भी असाध्य घातक रोगमें फँस जानेपर अनशनव्रत करके ही प्राण देते हैं। जब भोजन मिल जाता है, तब वही अग्नि मल-धातुओंका पचाना छोड़कर अन्न पचाने लगती है और शरीरकी रक्षा करती हुई बल-सम्पादनका हेतु हो जाती है।

असं हरिभजन सुगम सुखदाई।
को अस मूढ़ न जाहि सोहाई ॥२२॥

अर्थ–ऐसा ही हरिभजन सुगम और सुखदायी है, ऐसा कौन मूढ़ है जिसे अच्छा नहीं लगता।

अस–यह दार्ष्टान्तसूचक शब्द है। भाव यह कि भोजनकी भाँति भजनकी भी व्यवस्था समझ लेनी चाहिये। जिस भाँति इन्द्रियगम्य यह स्थूल शरीर है, उसी भाँति अनुभवगम्य इस शरीरमें व्याप्त सूक्ष्म या मानसिक शरीर है। असली शरीर तो यही है, इसीलिये इसको अन्तः-करण कहते हैं, स्थूल शरीर तो आयतनमात्र है। जिस भाँति स्थूल शरीरका धारक, पोषक और नाशक जठराग्नि है, उसी भाँति मानसिक शरीरका सर्वस्व सुमति है, यथा—'सुमति छुधा बाढ़ै नित नई', और जिस भाँति हित-मित और पथ्य भोजनके जठराग्निद्वारा परिपाकसे शरीरका धारण, पोषण तथा बलवर्धन होता है, उसी भाँति हरिभजनके

परिपाकसे मानसिक शरीरका धारण, पोषण तथा परम वैराग्यका उदय होता है, यथा—

जानिअ तब मन बिरुज गोसाईं । जब उर बल बिराग अधिकाई ॥

जिस भाँति स्वयं भोक्ताको पता नहीं चलता और उसके भीतर भोजन पककर रस-रक्त-मांसादि बनकर शरीर पुष्ट किया करता है, और बल बढ़ता जाता है, उसी भाँति भक्तको भी पता नहीं चलता कि उसका किया हुआ भजन किस भाँति मानसिक शरीरका पोषण करता हुआ वैराग्यको बढ़ाता चला जा रहा है । जिस भाँति अग्नि दुष्ट होकर शरीरका अपकार करती है, और दुर्बलता बढ़ाती है, उसी भाँति सुमति कुमति होकर मानसिक रोग उत्पन्न करती है और विषयाशा बढ़ाती है, यथा—'जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना' तथा—'बिषय आस दुर्बलता (गई)' जिस भाँति भोजन न मिलनेपर जठराग्नि अन्नाभिलाषा, दुर्बलता उत्पन्नकर शरीरका ही नाश कर देती है, उसी भाँति सुमतिमें भजनकी आहुति न पड़नेपर वैषयिक सुखाभिलाष विषयाशा उत्पन्न करके मानसिक शरीरका सत्यानाश कर देती है, जिस प्रकार किसी भाँतिका भी भोजन न मिलनेसे अर्थात् अनशनव्रत करनेसे मृत्यु होती है, उसी भाँति किसी प्रकारका भी भजन न करनेसे, अर्थात् संसार और ईश्वर किसीका भजन न करनेसे मानसिक शरीरका भी पतन हो जाता है । जिस भाँति चटनी, अँचार आदि उत्तेजक पदार्थोंसे न पेट भरता है और न यथोक्त लाभ होता है, बल्कि तृषा बढ़ती है, उसी भाँति कामोपभोगसे वासना बढ़ती है, शान्ति कभी नहीं होती, यथा—

सेवत बिषय बिबर्ध जिमि निति निति नूतन मार ।

जिस भाँति पेटकी जलन बिना भोजनके नहीं जाती, उसी भाँति जियकी जरनि बिना भजनके नहीं मिटती, यथा—

जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं ।

हरिभजन-भाव यह कि हरिभजनमें विशेषता है, क्योंकि हरिकी भाँति प्रीतिरीति जाननेवाला कोई नहीं है, यथा—

जानत प्रीति-रीति रघुराई ।
नाते सब हाते करि राखत, प्रीति प्रतीति सगाई ।
नेह निबाहि देह तजि दसरथ, कीरति अचल चलाई ॥
ऐसेहु पितु तें अधिक गीधपर ममता गुन गरुआई ।
घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जहँ-जहँ पहुनाई ॥
तहँ तहँ कहि सबरीके फलनकी रुचि माधुरी न पाई ।
....
हरिहु और औतार आपने राखी बेद बड़ाई ॥
लै चिउरा निधि दयउ सुदामहिं जद्यपि बालमिताई ।

सुगम सुखदाई-भाव यह कि जिस क्रियाके करनेमें भी स्वाद हो, सर्वाभिलाषाकी पूर्ति हो और फल सुखमय हो, ऐसी सुगम और सुखदायिनी क्रिया या तो भोजन है, या भजन; यथा—

उमा राम स्वभाव जेहि जाना । ताहि भजन तजि भाव न आना ॥

को अस मूढ़-भाव यह कि जो मायाके वशमें होकर बुद्धिहीन हो जाय, वही मूढ़ है, यथा—

माया बिबस भये मुनि मूढा । समुझी नहिं हरि गिरा निगूढा ॥

सो मूढ़ोंको भी हरिभजन अच्छा लगता है, यथा-

बिषयिन कहँ पुनि हरिगुन ग्रामा । श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा ॥

न जाहि सोहाई-भाव यह कि मूढ़ होना भजनके न सोहानेमें कारण नहीं है, बल्कि पापी होना कारण है, यथा—

ते जड चेतन आतमघाती । जिनहिं न रघुपति कथा सोहाती ॥
पापवंत कर सहज सुभाऊ । भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥

दो०—सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।
भजिअ राम पदपंकज अस सिद्धांत बिचारि ॥

अर्थ–सेवक-सेव्यभावके बिना संसारसागर पार नहीं किया जा सकता, ऐसा सिद्धान्त विचारकर रामपदकञ्ज-का भजन करना चाहिये।

भाव–लाक्षाकी भाँति चित्तकी भी दो अवस्थाएँ होती हैं—(१) कठिन, और (२) द्रव। चित्त स्वभावसे ही कठिन है, पर लाक्षाकी भाँति तापक द्रव्यके योगसे कुछ देरके लिये द्रव हो जाता है, और उसके अयोगसे पुनः कठिन हो जाता है। करुणा, भय, प्रेमादि उस चित्तके लिये तापक हैं। भलीभाँति द्रवीभूत चित्तमें जिस वस्तुकी छाप पड़ जाती है, वह कठिनावस्था प्राप्त होनेपर भी उसमें बनी रहती है। इसी छापको संस्कार, वासना या भाव कहते हैं, यथा—

परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिख लीन्ही।

यह भाव ही विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभावसे पुष्ट होकर रसत्व-को प्राप्त होता है।

सेवक सेव्य–तात्पर्य यह कि व्यवहारमें पड़े हुए जीवको स्वाभाविक भाव यही होता है कि भगवान् सेव्य हैं और मैं सेवक हूँ। भगवान् रामचन्द्रमें गुण ही ऐसे हैं कि उनके चित्तपर चढ़नेसे चित्तकी द्रवावस्था हो ही जाती है। अतः स्वाभाविक पहली छाप जो पड़ती है वह सेवक-सेव्यभावकी होती है। रामसे सम्बन्ध जोड़नेका मूल सेवक-सेव्य भाव है। इसीको 'तदीय' कहते हैं। फिर सम्बन्धप्रागल्भ्यसे 'वह मेरा ही है' ऐसा भाव उठता है और फिर प्रेममें विभोर होकर 'मैं वही हूँ' ऐसी स्थितिकी प्राप्ति* होती है। जबतक देहबुद्धि है, देहात्माध्यास बना है तबतक 'दासोऽहम्' यही भाव ठीक है। ऐसा भजन करनेवाला

---

* भक्तिमें तीन भाव क्रमशः होते हैं—तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाह-मिति त्रिधा।

वे तीन प्रकार ये हैं (१) मैं उसका हूँ (२) वह मेरा है और (३) मैं वही हूँ।

ही 'सोहम्'* पदको प्राप्त होता है और सोहम् पदको प्राप्त होना और भवसागर पार होना एक बात है। अतः सबका मूल सेवक-सेव्य-भाव हुआ। पृथ्वीपर गिरे हुए† मनुष्यको जमीन थामकर ही उठना पड़ता है, देहाध्यासको प्राप्त हुआ जीव ईश्वर कैसे है? बिना सेवक-सेव्य-भाव-से उपासना किये अन्तिम भावका उठना अस्वाभाविक है, भावाभास है, वह स्थायी भावको कभी नहीं प्राप्त हो सकता, इसीलिये कहते हैं कि—

भव न तरिअ—भाव यह कि सेवक-सेव्य-भाव ही भवसन्तरणका असाधारण साधन है, क्योंकि हरिमाया अतिदुस्तर है, इसको पार कर जाना जीवके सामर्थ्यके बाहर है। क्रियासाध्य है ही नहीं, कृपासाध्य है। अतएव जिसे अपने बलका भरोसा है वह अपने ही बलसे तरना चाहेगा, और उसीमें बहता फिरेगा, पार नहीं पहुँच सकेगा, यथा—

भवसिंधु अगाध परे नर ते पदपंकज प्रेम न जे करते।

और जो सेवक-सेव्य-भावसे भगवान्‌की शरण हैं, वे उनके बलसे अनायास पार पा जायँगे; यथा—

जनहि मोर बल निज बल ताही। दोउ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
अस बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएउ ज्ञान भगति नहि तजहीं॥

उरगारि—भाव यह कि आप साँपोंके शत्रु हैं, उनका विष आप-के भक्तोंपर भी काम नहीं करता, पर अलौकिक सर्पोंका विष आपपर भी काम कर जाता है। काम-क्रोधादि छः शत्रुओंको सर्प कहा है, यथा—

और सकल सुर असुर ईस सब खाए उरग छहूँ।

अस सिद्धांत बिचारि—भाव यह कि जीव सच्चिदानन्द रामका अंश है, मायाके साथ बँधकर संसारी हो दुःख भोगने लगा। चित्‌जड़-

---

* दासोऽहमिति मे बुद्धिः पुरासीन्मधुसूदने।
दाकारोऽपहृतस्तेन गोपीवस्त्रापहारिणा॥

† भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेव परं बलम्।

ग्रन्थि यद्यपि झूठी है, पर छूटती नहीं, जब छूटे तब कल्याण हो। इसके छूटनेका एकमात्र साक्षात् कारण ज्ञान है, यथा—'ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना।' उसके भी दो रास्ते हैं, एक तो ज्ञानपन्थकथित साधनोंसे ज्ञानद्वारा मुक्तिलाभ करना, और दूसरा भक्तिसे भगवान्‌को प्रसन्न करके मुक्तिलाभ करना, यथा—

सोइ जानै जेहि देउ जनाई। जानत तुमहि तुमहि होइ जाई॥
तुम्हरी कृपा तुमहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

सो पहला रास्ता बिना उपासनाकी सहायताके अतीव दुष्कर है, और सेव्य-सेवक-भाव अति सुगम और सुखद है, इससे ज्ञान तथा पराभक्ति दोनोंकी अनायास सिद्धि होती है, अतः यही अनुष्ठेय है, यही सिद्धान्त है।

भजहु राम पदपंकज—भाव यह कि भवसागर पार करना है। तुम क्षुद्र जीव ठहरे, अपने बलपर मत भूलो। कितना ही बल तुम्हारे क्यों न हो, पर इस महासमुद्रके सामने अकिञ्चित्कर है। अतः रामके चरणकमल पकड़ो, इस महासमुद्रके लिये यही नाव है; यथा—'यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्।' अब 'रामके चरणकी शरण ग्रहण करनेसे अवश्य ही पार हो जायँगे' इस विश्वासके लिये रामकी सामर्थ्य कहते हैं—

दो०—जो चेतन कहँ जड करइ, जडहिं करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहिं भजहिं जीव ते धन्य॥

अर्थ—जो चेतनको जड और जडको चेतन बनाता है, ऐसे समर्थ रघुनायकको जो जीव भजते हैं, वे धन्य हैं।

चेतन कहँ जड—भाव यह कि जीव तो स्वभावसे ही ईश्वरका अंश होनेके कारण चेतन, अमल और सहज सुखकी राशि है। वह मायाके वश होकर कीर मर्कटकी नाईं बँध-सा गया। मायाके रजोगुण तथा

तमोगुणके तारतम्यानुसार उसमें भी जडत्वका तारतम्य भासने लगा, इसीको चेतनका जड होना कहते हैं।

जो करइ—भाव यह कि जड भी तो स्वभावसे ही चेतन है, केवल मायाका पर्दा पड़नेसे वह जड-सा बना हुआ है। उस पर्देके हटने भरकी देर है, चेतन तो वह है ही, यथा—

मायाबस मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिध लागी॥

वह माया ही पर्दे पलटकर कभी अपेक्षाकृत चेतन और कभी जड बनाकर नचा रही है, और आप भी प्रभुके इशारेपर नाच रही है। इस विधिसे वह मायापति जडको चेतन और चेतनको जड दिन-रात बनाता रहता है, यथा—

जो माया सब जगहिं नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥
सो प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥

अस समर्थ—भाव यह कि सब सामर्थ्योंसे बड़ी चेतनको जड और जडको चेतन बनानेवाली सामर्थ्य है। अतः ऐसा सामर्थ्यवाला ही सबसे अधिक समर्थ है। चित्शक्ति तो सर्वत्र ही समानरूपसे अवस्थित है, पर चेतनके अधिक विकाससे ही ब्रह्मदेव सबसे बड़े हैं, और संकोचसे ही मशक छोटा है। अतः समर्थ वही है जो चेतनके संकोच-विकासका नियमन करता हो, यथा—'मसकहिं करै बिरंचि प्रभु, अजहि मसकते हीन।'

रघुनायकहिं—भाव यह कि भक्तोंपर अनुग्रह करके भगवान्‌ने अनेक अवतार धारण किये, पर जडको चेतन करनेकी सामर्थ्य जैसी रामावतारमें दिखलायी वैसी अन्य अवतारोंमें नहीं दिखायी है; यथा—

जेहि पद परसि तरी ऋषिनारी। दंडक कानन पावनकारी॥

सठ सेवककी प्रीति रुचि रखिहैं राम कृपालु।
उपल किये जलजान जेहिं, सचिव सुमति कपि भालु॥

तथा—

भजे बिनु बानरके चरवाहे ।

रघुनायक कहकर दानशीलता तथा करुणा दिखलायी, यथा— 'मंगन लहहिं न जिनके नाहीं ।'

भजहिं जीव ते धन्य—भाव यह कि अप्राप्य वस्तुकी प्राप्तिके लिये ही लोग प्रभुको भजते हैं, अतः अभागा ही करुणाहीन तथा सामर्थ्य-हीनका भजन करेगा । जिसे स्वयं सामर्थ्य नहीं, वह दूसरेका क्या उप-कार कर सकता है ? अतः समर्थ और कृपालुका भजनेवाला ही भाग्य-वान् है । अब रघुनाथ-सा समर्थ; करुणासागर और दानशील कौन होगा ? यथा—

एकइ दानिसिरोमनि साँचो ।

जेहि जाचत पुनि जाचकता बस सो बहु नाच न नाच्यो ।

अतः जो जीव रघुनायकको भजते हैं वे ही धन्य हैं, जिस कुलमें वे उत्पन्न हैं, वह कुल धन्य है, यथा—

सो कुल धन्य उमा सुनु जगतपूज्य सुपुनीत ।
श्रीरघुनाथ परायन जेहि कुल उपज बिनीत ॥

'तस्यैवाहम्' भावसे भजन, यथा—

हम सब सेवक अति बड़भागी । संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी ॥

'ममैवासौ' भावसे भजन, यथा—फिरैं राम सीता मैं हारी ॥

'स एवाहम्' भावसे स्थिति, यथा—

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा । को मैं कौन कहाँ नहिं बूझा ॥
मुनि मग माँझ अचल है बैसा । पुलक सरीर पनस फल जैसा ॥

ऐसी स्थितिमें भी सिद्धिभक्ति चाहनेवालोंका सेवकसेव्यभाव-सम्बन्धी संस्कार बीजरूपेण रहता है, इसीसे प्रेम समाधिसे लौटता है, और जिनका सेवकसेव्यसंस्कार नष्ट हो जाता है, वे नहीं लौटते ।

कहेउँ ज्ञानसिद्धांत बुझाई ।
सुनहु भगतिमनिकी प्रभुताई ॥

अर्थ-ज्ञानसिद्धान्त तो मैंने समझाकर कहा, अब भक्ति-मणिकी प्रभुता सुनो ।

ज्ञानसिद्धांत–भाव यह कि सिद्धान्तमें कोई भेद नहीं है, ज्ञान और भक्तिका सिद्धान्त एक ही है, यथा—'भगतिहिं ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा ।' इसीलिये भक्तिका सिद्धान्त पृथक् नहीं लिखते, केवल प्रभुतामें भेद है, उसीका कथन करते हैं । सिद्धान्तमें भेद होनेसे अभेदकथन किसी प्रकारसे नहीं बन सकता । सो यहाँ ज्ञानका सिद्धान्तमात्र कहा, विस्तार इसका वेदान्तशास्त्रमें है, यथा–'वेदान्तवेद्यं विभुम् ।' वादि-प्रतिवादिभ्यां निर्णीतोऽर्थः सिद्धान्तः । अतः यहाँ ज्ञानका निर्गलितार्थ मात्र कहा गया है ।

बुझाई कहेउँ–भाव यह कि ज्ञानसिद्धान्त न कहते बने और न समझते बने, वैखरी वाणीसे जो कुछ कहा जायगा, वह ठीक नहीं बैठेगा । अतः दृष्टान्त दे-देकर इस ज्ञानदीपप्रसङ्गमें समझाकर कह दिया, यथा—

सुनहु तात यह अकथ कहानी । समुझत बनै न जात बखानी ॥

'बुझाई कहेउँ' कहकर ज्ञानप्रकरणकी समाप्ति कहा ।

सुनहु–भाव यह है कि ज्ञान और भक्तिके सिद्धान्तमें तो कुछ भी भेद नहीं है, पर उपाय और प्रभुताईमें भेद है, सो भक्तिकी प्रभुताका प्रसङ्ग आरम्भ करते हैं, अतः पुनः 'सुनहु' कहा ।

भगतिमनिकी–भाव यह कि ममताके तागोंके संसारसे छूटकर भगवच्चरणोंमें लग जानेसे मन खींचातानीसे बचकर स्थिर हो जाता है; तब उसकी दशा अभिजात* मणिकी-सी हो जाती है । जिस

* स्वच्छ

भाँति स्फटिकमणि अपने उपाश्रयके रंगसे रँग जाती है, जवाकुसुमके सन्निधानसे लाल प्रतीत होने लगती है, इसी भाँति ग्रहीता पुरुषके आलम्बनसे उसीके रंगमें रँग जाती है, इसीको तत्स्थतदञ्जनता-समापत्ति कहते हैं। ममताकी डोरी भगवत्-चरणोंमें बँधनेसे मन भी भगवान्के रंगमें रँग जाता है, यथा—

परम प्रेममय मृदु मसि कीन्हीं। चारु चित्त भीतीं लिख लीन्हीं॥

इसीलिये भक्तिको मणि कहा।

प्रभुताई—भाव यह कि यद्यपि दीप और मणि दोनों अन्धकारका नाश करनेमें समर्थ हैं, पर मणिकी प्रभुता अन्य प्रकारकी है। इसी भाँति ज्ञान और भक्ति दोनों अविद्यान्धकारका नाश करनेमें समर्थ हैं। ज्ञानकी प्रभुता तो कह चुके, अब भक्तिकी प्रभुताई कहते हैं। कर्तुमकर्तुमन्यथा-कर्तुं समर्थः प्रभुः। अतः (१) करने (२) न करने और (३) अन्यथा करनेकी सामर्थ्यको प्रभुताई कहते हैं। सो करनेकी सामर्थ्यका वर्णन करते हुए कहते हैं—

रामभगति चिंतामनि सुंदर।
बसै गरुड जाके उर अंतर॥३४॥

अर्थ—रामभक्ति सुन्दर चिन्तामणि है, हे गरुड़! यह जिसके हृदयमें बसती है।

रामभगति—भाव यह कि भक्ति व्यर्थ जानेवाली वस्तु नहीं, चाहे वह किसी भाँति हो, यथा—

अपनो ऐपन निज हथा तियगन पूजहिं भीति।
फलै सकल मनकामना तुलसी प्रीति प्रतीति॥
प्रीति बड़ी प्रह्लादहूकी जिन पाहनते परमेसुर काढ्यौ॥

बात इतनी है कि भजनीय उत्तम होना चाहिये। जो जिसे भजेगा वह उसीको प्राप्त होगा, भूतोंको भजनेवाला भूतको प्राप्त होगा, यक्ष-

राक्षसको भजनेवाला यक्ष-राक्षसको और देवताओंको भजनेवाला देवत्वको प्राप्त होगा अर्थात् भजनसे इष्टकी प्राप्ति अवश्य होती है। यथा—

विधि हरि हर पद त्यागि जे भजहिं भूतगन घोर।
तिनकी गति मोहिं देउ विधि जौं जननी मति मोर॥

अतः भजनीयमें जितना गुणोत्कर्ष होता है, भक्तिकी महिमा भी उतनी ही बढ़ती है। सो राम तो ब्रह्म हैं, अतः रामभक्तिमें उत्कर्षताकी पराकाष्ठा है, यथा—

राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥
अब जाना मैं श्री चतुराई। भजिय तुम्हहिं सब देव बिहाई॥

चिंतामनि-भाव यह कि मणियोंमें सर्वोत्कृष्ट होनेसे चिन्तामणि कहा। मणिके चार गुण हैं—(१) जाति, (२) शुचिता, (३) अमूल्यता और (४) सुन्दरता। यथा—

मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुंदर सब भाँती॥

यहाँ चिन्तामणि कहकर दिव्य जाति बतलायी। और मूल्य तो इसका कुछ हो ही नहीं सकता, क्योंकि सब कुछ चिन्तामणिमें बसता है। जिसमें सब कुछ बसे, उसका मूल्य क्या? यथा—

असन बसन सब वस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ बस जैसे।

इससे तीसरा गुण अमूल्यता कही। इसी भाँति रामभक्ति-चिन्तामणि है, इसमें सब शक्ति है, आर्तके सङ्कटको हरण करती है, अर्थार्थीको अणिमादि सिद्धि देती है, जिज्ञासुको गूढ़गतिका ज्ञान प्रदान करती है, और ज्ञानीके ज्ञानको अचल करती है। अन्य देवताओंकी भक्ति भी मणि है, बड़ी अमूल्य है, यथा—'आरोग्यं भास्करादिच्छेत् धनमिच्छेत् हुताशनात्' पर रामभक्ति सब कुछ देती है, इसलिये चिन्तामणि है। मूल्यके विषयमें ज्ञानदीपकी चर्चा नहीं करते, क्योंकि उसका सांसारिक मूल्य कुछ भी नहीं है।

सुंदर-अब चौथा गुण सुन्दरता कहते हैं। भाव यह कि रामभक्ति-चिन्तामणि केवल लाभप्रद ही नहीं है, सुन्दर भी है। जैसे सुन्दर मणिके हृदयमें धारण करनेसे पुरुषकी शोभा होती है, उसी भाँति भक्ति-चिन्तामणिके भी हृदयमें धारण करनेसे पुरुषकी शोभा होती है, यथा—

सोह सैल गिरिजा गृह आये। जिमि जन रामभगतिके पाये॥

बसै-भाव यह कि स्वच्छन्दाचारिणी न हो; ऐसी भक्तिको अव्यभिचारिणी भी कहते हैं। सो अव्यभिचारिणी भक्ति होनी चाहिये, जो हृदयमें निरन्तर वास करे।

गरुड-भाव यह कि आप स्वयं भगवान् गरुडध्वजको पीठपर चढ़ाये घूमते हैं, सो आपको भी मोह हो गया। अतः शारीरिक भजन यथेष्ट नहीं है; यथा—

राम राम सब कोउ कहैं ठग ठाकुर औ चोर।
बिना प्रेम रीझै नहीं तुलसी नंदकिसोर॥

भक्तिको हृदयमें स्थान देनेसे फिर मोहका उदय नहीं होगा।

जाके उर अंतर-भाव यह कि बाह्य लिङ्गधारण अकिञ्चित्कर है, यथा—

तुलसी देखि सुबेष भूलहिं मूढ न चतुर नर।
सुन्दर केकी पेखु बचन सुधा सम असन अहि॥

'जाके उर अंतर' कहकर अलौकिक सुन्दरता कही, और मणि तो उरके ऊपर बसनेसे शोभा देती है; पर यह भक्ति-चिन्तामणि हृदयके अंदर बसकर शोभा देती है।

परम प्रकासरूप दिनराती।
नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती॥

अर्थ-(वह चिन्तामणि) परम प्रकाशरूप दिनरात बनी रहती है; दीया, बत्ती, घीकी कुछ आवश्यकता नहीं।

परम प्रकासरूप—भाव यह कि अन्य देवताओंकी भक्ति मणि होनेसे प्रकाशरूपा है। मणिकल्प चित्तमें जैसा उपाश्रयका प्रकाश होता है, वैसा ही प्रकाश आता है। यहाँ तो राम परमतत्त्व होनेके कारण परम प्रकाशमय हैं, यथा—

जोगिन परम तत्त्वमय भासा। सांत सुद्ध इव परम प्रकासा॥

अतएव उनमें लगा हुआ चित्त भी परम प्रकाशरूप हो जाता है। इसीलिये रामभक्तिको परम प्रकाशमय कहा। इस भाँति मणिका दूसरा गुण अलौकिक शुचिता भी कह दिया।

दिनराती—भाव यह कि दीपका प्रकाश अँधेरी रातमें ही शोभित होता है, सवेरा होते ही धीमा पड़ जाता है, यथा—'जैसे दिवस दीप छवि छूटे॥' वैसे ही ज्ञानदीपका प्रकाश अविद्यान्धकारका नाश करता हुआ ही शोभित होता है, विज्ञान विहान (प्रातः) के समय अर्थात् अभेदज्ञान (साक्षात्कार)के समय सोऽहमुवृत्ति भी फीकी पड़ जाती है, परन्तु मणिदीप रातको तो उजेला करता ही है, दिनको सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे और भी चमकने लगता है, इसी भाँति रामभक्ति मोहरात्रिके तमका नाश करती हुई तो शोभित होती ही है भगवत्-साक्षात्कारके समय और भी देदीप्यमान हो उठती है, क्योंकि वही उसके अत्यन्त उत्कर्षका समय है, यथा—

सुनि प्रभु वचन मगन सब भये। को हम कहाँ बिसरि तन गये॥

दिया घृत बाती—भाव यह कि जिस भाँति दीयेको बनाये रखनेके लिये दीया, घी और बत्ती आवश्यक है, एकके अभावसे भी दीया बुझ जायगा, उसी भाँति सोहमुवृत्तिको अखण्ड रखनेके लिये चित्तकी समता, परम वैराग्य (ज्ञान) और तुरीयावस्था तीनोंकी आवश्यकता है।

नहिं कछु चहिअ—परन्तु भक्तिचिन्तामणिको कायम रखनेके लिये अन्य सामग्री (साधन) की अपेक्षा नहीं है, भगवत्-चरणोंमें डोरी लगी रहनी ही यथेष्ट है, उसीसे सब कुछ हो जाता है, यथा—

सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना ॥

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।
लोभ बात नहिं ताहि बुझावा ॥ ३५ ॥

अर्थ–न तो इसके निकट मोहदरिद्र आया, और न (कभी) इसे लोभवायुने बुझाया।

मोह दरिद्र–भाव यह कि मोह दरिद्र है, क्योंकि उसके भाग्यमें मुनि-जन-धन (राम) नहीं है, यथा—'मुनि जन धन सर्बस सिव प्राना' इसीसे वह चोरी करता है, यथा–'मत्सर मान मोह मद चोरा* ।' मदादि शलभ† होनेके कारण चोरीमें सहायक होते हैं, अतः इनकी भी चोरोंमें गणना है, उँजेलेमें चोरी नहीं करते बनता, इसलिये दीपक बुझा देते हैं। यही मोहदरिद्र दुःखोंका मूल है; यथा—'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।'

निकट नहिं आवा–भाव यह कि जितनी ममताकी वृत्तियाँ रहीं वे तो एकीभूत होकर भगवच्चरणोंमें लग गयीं, और ममताकी वृत्तिको ही संसारमें लगाकर मोह अपना अधिकार जमाता है। अतः अब उसे निकट जानेके लिये मार्ग ही नहीं रह गया, इसीलिये कहते हैं कि मोह निकट नहीं आ सकता।

लोभ बात–से तात्पर्य विषयसमीरसे है। यह ज्ञानदीपकका प्रबल शत्रु है। जहाँ मनोहर विषय—शब्द स्पर्श रूप रस गन्धका साक्षात्कार हुआ वहीं वृत्ति उस ओर दौड़ी, और 'सोऽहमस्मि' 'वृत्ति गयी' क्योंकि तत्पदके शोधनसे उसमें विषयका लेश नहीं रह जाता, अतः वृत्ति दूसरी ओर दौड़ जाती है, और यहाँ सगुण ब्रह्म श्रीराममें यावत् विषय दिव्या-

---

* करौं जो कछु धरौं सचि पचि सुकृत सिला बटोरि।
पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि ॥

† पतंग।

तिदिव्य रूपमें वर्तमान हैं, अतः उनमें लगी हुई वृत्ति तुच्छ विषयोंकी ओर नहीं दौड़ सकती, यथा—

देव देखि तव बालक दोऊ। अब न आँखतर आवै कोऊ॥

तथा—

राम काम सतकोटि सुभग तनु। दुर्गा कोटि अमित अरिमरदनु॥
सक्र कोटि सत बिभव बिलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा॥

मरुत कोटि सत बिपुल बल रबि सतकोटि प्रकास।
ससि सतकोटि सो सीतल, समन सकल भवत्रास॥
काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सतकोटि सम दुराधर्ष भगवंत॥

प्रभु अगाध सतकोटि पताला। समन कोटि सत सरिस कराला॥
तीरथ कोटि अमित सम पावन। नाम अखिल अघपुंज नसावन॥
हिमिगिरि कोटि अचल रघुबीरा। सिंधु कोटि सत सम गंभीरा॥
कामधेनु सतकोटि समाना। सकल कामदायक भगवाना॥
सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सतकोटि सृष्टि निपुनाई॥
बिष्नु कोटि सत पालनकरता। रुद्र कोटि सत सम संहरता॥
धनद कोटि सत सम धनवाना। माया कोटि प्रपंचनिधाना॥
भार धरन सतकोटि अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा॥

निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै॥

नहिं ताहि बुझावा—भाव यह कि दीप बुझता है, मणिदीप नहीं बुझता। भगवान्के रंगमें रँगे हुए मनपर दूसरा रंग नहीं चढ़ता, यथा—

सूरस्यामकी कारी कमरिया चढ़ै न दूजो रंग।

सुनु सठ भेद होइ मन ताके। श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाके॥

प्रबल अबिद्यातम मिटि जाई।
हारहिं सकल सलभ समुदाई॥

अर्थ—अविद्याका प्रबल अन्धकार मिट जाता है, और शलभोंका समुदाय भी हार जाता है।

प्रबल अविद्यातम—भाव यह कि तम तो नित्य ही मिटा करता है, परन्तु यह अविद्याका तम बड़ा प्रबल है। अनादिकालसे आजतक चला आ रहा है, अगणित उपाय जन्मजन्मान्तरसे करते चले आये हैं, पर मिटा नहीं। यह अविद्यातम अभिमान है, यथा—'त्यागहु तम अभिमान।' इस प्रबल तमको उनके चरणोंके आश्रित होनेसे भगवान् मिटाते हैं, यथा—

संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥
ताते करइ कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥

मिटि जाई—भाव यह कि मूलाविद्याका अन्धकार मिट जाता है, जिससे चित्‌जड़ग्रन्थि स्पष्ट भासने लगती है। एक बार मिट जानेपर फिर अन्धकार नहीं होता, क्योंकि मणिदीप बुझता ही नहीं। अब भक्तको अधिकार है कि या तो उस ग्रन्थिको छोड़कर वह कैवल्यमुक्ति ले, और चाहे उसे रहने दे, मोक्षके समीपवर्ती होकर भगवदनुभवरूप मोक्षसुख लेता रहे। इस अवस्थामें मूलाविद्या तो मिट जाती है, पर लेशाविद्या रहती है, और यह भक्तोंको इष्ट है, यथा—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक सियपति पति मोरे॥

सलभ समुदाई—यहाँपर उपमेय नहीं कहा, अतः उन्हें ज्ञानदीप-प्रसङ्गसे लाना पड़ेगा, यथा—'जरहिं मदादिक सलभ सब।' मदादिक शलभ हैं, प्रकाश देखते ही उसपर टूट पड़ते हैं, स्वयं भले ही जल जायँ, पर रोशनी बुझानेके उद्योगसे बाज नहीं आते। भाव यह कि ज्ञान होते ही अपने उत्कर्षका मद होता है, चाहे ज्ञानी अपने ज्ञानसे उसका नाश

कर दे, पर होता है अवश्य । 'समुदाई' से मत्सर-मानका भी ग्रहण है ।

हारहिं–भाव यह कि मणिदीप शलभको जला नहीं सकता, पर स्वयं बुझता भी नहीं, शलभसमुदाय जोर लगाकर हार जाते हैं इसी भाँति भक्तिचिन्तामणि मद-मानको नष्ट नहीं कर सकती, क्योंकि उसमें लेशाविद्या रहती है, पर मद-मानादि उसका अपकार भी नहीं कर सकते, यथा—

मत्सर मान मोह मद चोरा । इनकर हुनर न कौनिउ ओरा ॥

खल कामादि निकट नहिं जाहीं ।
बसै भगति जाके उरमाहीं ॥३६॥

अर्थ–कामादिक खल भी निकट नहीं जाते । जिसके हृदयमें भक्ति बसती है ।

खल कामादि–काम-क्रोधको खल कहा, क्योंकि ये अकारण सबका अपकार करते हैं, कल्याणपथके बटमार (डाकू) हैं । इन्हींके कारण आजतक कल्याण नहीं हो सका, इच्छा न करनेपर भी पुरुषसे पाप करा देते हैं, यथा—

खल बिनु कारन पर अपकारी । अहि मूषक इव सुनु उरगारी ॥

निकट नहिं जाहीं–भाव यह कि विषयका ध्यान करनेसे उसका संग होता है, और संग होनेसे काम होता है । भक्त अनवरत अपने प्रभुके ध्यानमें रहता है, उन्हींमें उसका चित्त लगा रहता है, अन्य विषयोंकी ओर उसका ध्यान ही नहीं आकर्षित होता, और बिना ध्यान हुए संग नहीं होता, और बिना संगके कामकी उत्पत्ति ही नहीं होती है । अतः काम सदा दूर ही रहता है । क्रोधकी उत्पत्ति तो कामके भी बाद होती है, अतः वह और भी दूर है, निकट नहीं जा सकते । यहाँतक

भक्तिके करनेकी सामर्थ्य कही गयी। 'बसै गरुड़ जाके उर अंतर' कहकर इस प्रसङ्गका प्रारम्भ किया था।

बसै भगति–फिर उरमें बसनेकी उक्तिसे दूसरा प्रसङ्ग अन्यथा करनेकी सामर्थ्यका वर्णन करते हैं। भक्तिके हृदयमें बस जानेसे जब हृदय भगवद्भावसे भावित होता है, भगवदाकार हो जाता है, तब उसे सम्पूर्ण विश्व चराचर भगवद्रूप दृष्ट होने लगता है। इस भावनाके दृढ़ होनेसे सब दिशाएँ उसके लिये लाभप्रद और सुखप्रद हो जाती हैं, यथा–

बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥

उरमाहीं–भाव यह कि भक्तिके हृदयमें बैठ जानेसे ऐसा होता है, केवल भक्तका वेष बनानेसे अथवा भक्तोचित वाणीका उच्चारण करनेसे ऐसा नहीं होता, यथा—

लखि सुबेष जग बंचक जेऊ। बेष प्रताप पूजिअत तेऊ॥
उघरहिं अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥

तथा—

कियेउ कुबेष साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू॥

भगवद्भक्तिके उरमें बसनेसे केवल शरीरमात्र ही प्रभावित नहीं होता, सम्पूर्ण जगत्पर उसका प्रभाव पड़ता है, यथा—'जग भल भलहिं पोच कहँ पोचू।'

गरल सुधासम अरि हित होई।
तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥

अर्थ–विष अमृतके समान हो जाता है, और शत्रु हित हो जाता है, उस मणिके बिना कोई सुख नहीं पाता।

गरल सुधासम–भाव यह कि ब्रह्माके प्रपञ्चमें गुण-अवगुण मिला हुआ है, यहाँ विषमें अमृत और अमृतमें विष है। शुद्ध विष या शुद्ध

अमृत कोई पदार्थ नहीं है। अतः सुखबुद्धिसे ग्रहण किये हुए पदार्थमें भी दुःख मिलता है। यही जगत्‌का नियम है; यथा—

विधि प्रपंच गुन अवगुन साना।
दुख सुख पाप पुन्य दिनराती। साधु असाधु सुजाति कुजाती॥
दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिअ हलाहल माहुर मीचू॥

परन्तु जिसके हृदयमें भक्ति बसी है, वहाँ यह नियम अन्यथा हो जाता है। उसके लिये विष भी अमृतके समान हो जाता है। उसकी भावना दृढ़ होनेके कारण वस्तुविशेष अपने हानिकारक गुणको प्रकट करनेमें असमर्थ हो जाती है, यथा—

पापी है बाप बड़े परिताप ते आपनी ओर ते खोरि न लाई।
भूरि दई विष मूरि भई प्रह्लाद सुधाई सुधाकी मलाई॥

यहाँ 'गरल सुधा सम' कहकर जडका गुण परिवर्तन कहा।

अरि हित होई—शत्रु भी मित्र हो जाता है। भाव यह कि चाहे वह बुराई ही करे, पर उससे भक्तका उपकार ही होता है, यथा—

बालि परमहित जासु प्रसादा। मिलेउ राम तुम समन बिषादा॥

अरि हित कहकर चेतनके गुणोंमें भी परिवर्तन कहा। भक्तकी दृढ़ भावनासे चेतनशक्ति जाग उठती है, उसके सामने जडशक्तिकी कुछ नहीं चलती, यथा—

काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ, पितु कालकराल बिलोकि न भागे।
राम कहाँ? सब ठाउँमें, खम्भमें? हाँ, सुनि हाँक नृकेहरि जागे॥
बैरि बिदारि भये बिकराल, कहे प्रह्लादहिंके अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तबते सब पाहन पूजन लागे॥

तेहि मनि बिनु—भाव यह कि जिस भक्तिचिन्तामणिका इतना प्रभाव है कि गरलको सुधा और शत्रुको मित्र बना देती है, उसके बिना अन्य सुखसाधन अकिञ्चित्कर हैं। राम ही आनन्दसिन्धु हैं, सुखकी राशि हैं, उसी आनन्दसिन्धुके छींटेसे तीनों लोकका सुपास होता है, उस आनन्द-

सिन्धुकी ओर जिसकी चित्तवृत्ति नहीं गयी, और विषयोंकी ओर दौड़ी उसे सुख कहाँ ? उसकी दशा उस मृगकी भाँति होती है, जो मृगतृष्णाके पीछे दौड़ते-दौड़ते प्यास और थकावटसे मर जाता है; यथा—

तृषित निरखि रविकर भव बारी । फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी ॥

पाव न कोई—भाव यह कि चाहे वह लौकिक सुखसमृद्धिसे कैसा ही सम्पन्न हो, पर उस सुखसमृद्धिसे उसे सुख नहीं मिल सकता । क्योंकि वहाँ सुख है ही नहीं, यथा—

ऐसी मूढ़ता या मनकी ।
परिहरि राम-भगति-सुरसरिता, आस करत ओसकनकी ॥
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घनकी ।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचनकी ॥
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तनकी ।
टूटत अति आतुर अहार बस, छति बिसारि आननकी ॥

ब्यापहिं मानसरोग न भारी ।
जिनके बस सब जीव दुखारी ॥३७॥

अर्थ—उसे भारी मानसरोग नहीं व्यापते, जिनके वस होकर सब जीव दुखारी हैं ।

भारी मानसरोग—भाव यह कि जिस भाँति स्थूल शरीरमें शारीरिक रोग होते हैं, उसी भाँति सूक्ष्म शरीरमें मानसरोग होते हैं । गरुडजीके अन्तिम सप्तप्रश्नमें एक प्रश्न मानसरोगके विषयमें है, उसके उत्तरमें मानसरोगप्रसङ्ग ही अलग कहा गया है । यहाँपर इतना ही लिखना यथेष्ट है कि जिस भाँति इस स्थूल शरीरमें वात-पित्त-कफके प्रकोपसे शारीरिक रोग होते हैं, उसी भाँति काम-क्रोध-लोभके प्रकोपसे अनेक मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं । ये भारी रोग हैं, क्योंकि ये-

असाध्य हैं, चिकित्सासे भी नहीं जाते, और सदा-सर्वदा सब जीवोंको कष्ट दिया करते हैं, यथा—

एक व्याधिबस नर मरहिं, ए असाध्य बहु व्याधि ।
संतत पीड़हिं जीव कहँ, सो किमि लहै समाधि ॥

न व्यापहिं—भाव यह कि मानसिक रोगका मूल मोह है, यथा—

मोह सकल व्याधिन कर मूला । तेहि ते पुनि उपजै बहु सूला ॥

—और मोह जीवमात्रको है, अतः व्याधिकी जड़ बनी हुई है, बीज तैयार है, जहाँ विषयरूपी कुपथ्य मिला, तहाँ ये मुनिलोगोंके हृदयमें अङ्कुरित हो उठते हैं, मनुष्योंकी गिनती ही क्या है, यथा—

विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे । मुनिहु हृदय का नर बापुरे ॥

अतः ये मानसिक रोग सबको हैं, पर भक्तको नहीं होते, भक्ति-चिन्तामणिकी कृपासे उसके निकट मोह नहीं आता । अतः भक्तको समाधि सुलभ है, यथा—

सुमिरत हरिहिं साप गति बाधी । सहज बिमल मन लागि समाधी ॥

जिनके बस सब जीव—भाव यह कि जीव और ईश्वरमें यही भेद है कि ईश्वरका ज्ञान एकरस है, उसे मोहकी बाधा नहीं है, और जीवको मोहकी बाधा आनेसे एकरस ज्ञान नहीं होने पाता, शान्तावृत्ति बार-बार घोरा और मूढा वृत्तियोंसे पराभूत हुआ करती है, यथा—

जौ सबके रह ज्ञान एकरस । ईस्वर जीवहिं भेद कहहु कस ॥

अतः मोहवश होनेसे जीव मानसिक रोगोंके वशमें सदा पड़ा रहता है ।

दुखारी—कहनेका भाव यह कि बाहरी सब सुखोंसे घिरा हुआ हृष्ट-पुष्ट दिखायी पड़ता हुआ मनुष्य भी मानसिक रोगोंके कारण कल नहीं पाता, सदा-सर्वदा दुखी रहता है । अतः बाह्य सुखसामग्री केवल ढकोसला मात्र है, यथा—

कामते रूप प्रताप दिनेसते सोमते सील गनेसते माने।
हरिचंदते साँचे बड़े बिधिते मघवाते महीस विषय सुखसाने॥
सुक सारद नारदते बकता चिरजीवहु लोमसते अधिकाने।
एते भये तो कहा तुलसी जो पै राजिवलोचन राम न जाने॥

रामभगतिमनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहु ताके॥

अर्थ-रामभक्तिमणि जिसके हृदयमें बसती है, उसे सपनेमें भी दुखका लवलेश नहीं रहता।

रामभगतिमनि-भाव यह कि 'रामभगति चिंतामनि सुंदर। बसै गरुड़ जाके उर अंतर॥' कहकर भक्तिमणिका कर्तृत्ववर्णन प्रारम्भ किया, फिर 'बसै भगति जाके उरमाहीं' कहकर भक्तिमणिकी अन्यथा-कर्तृत्वशक्तिका निरूपण आरम्भ किया, अब 'रामभगतिमनि उर बस जाके' कहकर अकर्तृत्वशक्तिका वर्णन करते हैं—

उर बस जाके-भाव यह कि करने अथवा अन्यथा करनेसे भक्तिमें कोई विकार नहीं आता, क्योंकि स्वयं भक्ति कुछ करने नहीं जाती, उसके हृदयमें अवस्थान करने मात्रसे सब कुछ होता है। सब कुछ करके भी न करना यही अलेपवाद है, भक्तिमें इसका निरूपण किया जाता है।

दुख लवलेस न-भाव यह कि जीवमें कर्तृत्वाभिमान होनेसे ही उसे कर्मफल भोगना पड़ता है, यथा—

करै जो कर्म पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सब कोई॥

ज्ञानीकी कर्तृत्वबुद्धि स्वरूपसाक्षात्कार होनेसे जाती रहती है, उससे कर्म नहीं होता, यथा—'कर्म कि होइ स्वरूपहिं चीन्हे' और भक्तिमें लेशाविद्या रहती है, उसमें सेवकसेव्यभावरूपी अभिमान रहता है, अतः उसमें कर्तृत्वबुद्धिका अभाव नहीं होता; और जबतक

कर्तृत्व बुद्धि है तबतक फलरूप दुःख-सुखका भोग होगा ही। दुःख-मिश्रित सुख भी दुःख ही है। वैषयिक सुख कैसा भी हो, उसमें दुःख-का लवलेश बना ही रहता है। अतः कर्तृत्व बुद्धिके नष्ट हुए बिना दुःख-लवलेशका निराकरण नहीं हो सकता। सो लेशा विद्या रहते हुए भी, भक्तिचिन्तामणिके प्रभावसे कर्तृत्वाभिमान निःशेष हो जाता है। क्योंकि भक्त सर्वात्मना भगवान्‌पर निर्भर है, उसने अपनी स्थितिको परमेश्वरके अर्पण कर रक्खा है, उसकी दृढ़ धारणा होती है कि मायी परमेश्वर ही सबका प्रेरक है और जीव उसके हाथकी कठपुतली है, अतः भक्तको भी कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता। यथा—

उमा दारु जोषित्तकी नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं॥
नट मरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥

अतः भक्तिके हृदयमें अवस्थान करनेसे दुःखलवलेशका न होना सर्वथा युक्तिसिद्ध है।

सपनेहु ताके—भाव यह कि जाग्रत्‌के संस्कारानुसार ही स्वप्न होता है, भक्तको उपर्युक्त भावना ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्नमें भी उसे कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। अतः स्वप्नावस्थामें भी उसके लिये दुःखके लवलेशकी सम्भावना नहीं रह जाती।

चतुरसिरोमनि ते जग माहीं।
जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥२८॥

अर्थ—संसारमें वे ही चतुरशिरोमणि हैं, जो मणिके लिये सुयत्न करते हैं।

चतुरसिरोमनि—भाव यह कि जिसमें अल्पायाससे महान् फल हो, ऐसा उपाय करनेवाले ही चतुर हैं। अतः आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी भक्त चतुर ठहरे, जिन्होंने कष्टकर उपायोंका अवलम्बन न करके मनोरथसिद्धिके लिये सुगम उपाय साधनभक्तिका

आश्रय ग्रहण किया, यथा—'चहु चतुरन कहँ नाम अधारा।' परन्तु फलकी महत्तापर भी जिसका ध्यान गया हो, वह चतुरशिरोमणि है।

ते जग माहीं-भाव यह कि संसारमें ऐसे प्राणी सुदुर्लभ हैं, जिनके लिये भक्ति ही साधन है और वही फलसिद्धि है, जो अन्य सिद्धि-की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। जो प्रेमसे प्रेमको ही चाहते हैं, जिन्हें प्रेमके बदलेमें कुछ चाहनेसे चिढ़ है, यथा—

परौं नरक फल चारि सिसु मीच डाकिनी खाउ।
तुलसी राम सनेहको जो फल सो जरि जाउ॥

इस स्वार्थी जगत्में ऐसे प्रेमी महापुरुष परम दुर्लभ हैं, यथा—

धर्मशील बिरक्त अरु ज्ञानी। जीवन मुकुत ब्रह्मपर प्रानी॥
सबते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद माया॥

जे मनि लागि-भाव यह कि मोहान्धकारमें ही पड़े रहनेवाले मूढ़ हैं, निरुपासित ज्ञानी भी हठी हैं, साधनभक्तिके सहित सिद्धिलाभ करनेवाले चतुर हैं, और फलस्वरूपा भक्तिचिन्तामणिके लिये यत्न करने-वाले चतुरशिरोमणि हैं। क्योंकि भगवद्भावनासे भावित अन्तःकरणको इन्द्रपद सूखा हाड़-सा प्रतीत होता है, यथा—

सूख हाड़ लै भाग सठ स्वान निरखि मृगराज।
छीन लेइ जनु जानि जिमि तिमि सुरपतिहि न लाज॥

सुजतन कराहीं-भाव यह कि दत्तचित्त होकर सावधानीके साथ शास्त्रीय प्रयत्न करना ही सुयत्न है, शास्त्रीय यत्नसे ही कार्यसिद्धि होती है, जो मूढ़ अशास्त्रीय प्रयत्न करते हैं, उनको न सिद्धि होती है, और न परागतिकी प्राप्ति होती है, क्योंकि अल्पज्ञ जीव अपने अज्ञानसे अपायको ही उपाय मान बैठता है, यथा—

श्रुतिसम्मत हरि भगतिपथ संजुत ज्ञान-बिवेक।
सो न चलहिं नर मोहबस कल्पहिं पंथ अनेक॥

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई।
रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥

अर्थ–वह मणि यद्यपि जगत्‌में प्रकट है, (तथापि) विना रामकी कृपाके किसीको नहीं मिलती।

सो मनि–भाव यह कि वही सुन्दर भक्ति-चिन्तामणि, जिसके प्रकाशसे अविद्यान्धकारका नाश होता है, जिसके सामने काम-क्रोध-लोभ-मद-मात्सर्य-मोहकी कला नहीं चलती, जिसके प्रभावसे अनिष्ट भी इष्ट हो जाता है, जो सुखका असाधारण कारण है, जो मानस रोगका अन्वर्थ औषध है, और जिसके साथ दुःखका सम्पर्क भी नहीं है।

जदपि–शब्द यद्यपिका अपभ्रंश है, इसीके वलसे 'तथापि' का अध्याहार किया गया।

प्रगट जग अहई–भाव यह कि उस शाश्वत जगद्गुरु रामने सृष्टिके प्रारम्भमें ही वेदशास्त्रोंका उपदेश कर रक्खा है, और उपदेश-परम्परासे जगत्‌में उसका प्रचार बराबर होता आ रहा है, यथा–'जगद्गुरुं च शाश्वतम्। तुरीयमेव केवलम्। (मारुतश्वास) निगम निज बानी।' उसी वेदशास्त्रमें भक्ति भरी पड़ी है।

रामकृपा बिनु–भाव यह कि उस करुणासागर रामकी अहैतुकी कृपासे ही जीवको कभी मनुष्यशरीर मिल जाता है, और मनुष्यशरीर ही भवसागर-सन्तरणके लिये नौकास्वरूप है। ऐसा शरीर पाकर उनका अनुशासन मानना चाहिये। जो उनका अनुशासन मानता है, वही उनको प्रिय है, उसीपर उनकी कृपा होती है; यथा–

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

और वेद-शास्त्र ही उनका अनुशासन है। अतः वेदशास्त्रानुगामी-पर उनकी कृपा होती है, और विना उनकी कृपाके खुले मैदानमें पड़ी हुई चिन्तामणिकी प्राप्ति नहीं होती।

नहिं कोउ लहई–भाव यह कि अशास्त्रीय पुरुषार्थसे भक्तिचिन्तामणिकी प्राप्ति नहीं होती, चाहे पुरुषार्थ करनेवाला कैसा ही पराक्रमी क्यों न हो, यथा—

'जो जेहि कला कुसलता कहँ सोइ सुखद सदा हितकारी।
सफरी सनमुख जलप्रवाह सुरसरी वहै गज भारी॥
जिमि सर्करा मिलै सिकतामहँ बलते न कोउ बिलगावै।
अति रसज्ञ सूच्छम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै॥'
(विनय०)

शास्त्रीय पुरुषार्थसे भगवत्-कृपा होती है, उससे भगवत्-प्रभुताका ज्ञान होता है, प्रभाव-ज्ञानसे विश्वास होता है, विश्वाससे प्रीति और प्रीतिसे दृढ़ भक्ति होती है, यथा—

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥
जाने बिनु न होइ परतीती। बिना प्रतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढाई। जिमि खगेस जलकै चिकनाई॥

सुगम उपाय पाइबे केरे।
नर हतभाग्य देहिं भटभेरे॥३६॥

अर्थ–पानेका सुगम उपाय भी है, पर अभागे मनुष्य उसमें रुकावट डालते हैं।

सुगम उपाय–भाव यह कि उपाय भी दुर्गम नहीं है। हरिभक्तिका तो ज्ञान और भक्ति दोनोंमें समान उपयोग है। हरिकृपासे ही सात्त्विकी श्रद्धा होती है, जिससे जीव ज्ञानमार्गमें अग्रसर होता है, और भक्तिमणिकी प्राप्ति भी हरिकृपासे होती है; पर ज्ञानमार्ग अगम है, यथा—'ज्ञानक पंथ कृपानक धारा। ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका।' और भक्तिप्राप्तिका उपाय सुगम है, पुरुषार्थ दोनोंमें अपेक्षित है, केवल सुगमता-दुर्गमताका भेद है।

पाइबे केरे–भाव यह कि वेद-पुराणका सर्वत्र प्रचार है, उनके मर्मी भी सुलभ हैं, 'सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा।' साधनभक्तिसे

(परोक्ष) ज्ञान और वैराग्य हो ही जाता है, अतः ढूँढ़नेसे भक्ति-चिन्तामणिके न प्राप्त होनेका कोई कारण नहीं है।

नर हतभाग्य–जो नर भवभञ्जन भगवान्‌के विमुख हैं, वे ही हतभाग्य हैं। सांसारिक सम्पत्ति होनेसे ही कोई भाग्यवान् नहीं हो जाता, यथा—

ते नर नरकरूप जीवत जग भवभंजन-पद-विमुख अभागी।
निसिबासर रुचि पाप असुचि मन खल मति मलिन निगमपथ त्यागी॥
नहिं सतसंग भजन नहिं हरिको स्रवन न रामकथाअनुरागी।
सुत वित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी॥
तुलसिदास हरि नामसुधा तजि सठ हठि पियत विषय-विष माँगी।
सूकर स्वान सृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि दुख लागी॥

नरशरीरका उपक्षय जिसने विषय-सामग्री एकत्रित करनेमें ही कर दिया, उसे भाग्यवान् कैसे कहा जाय ? नरशरीर सुलभ हो गया, वेद-पुराण और उनके मर्मी सभी सुलभ हैं, पर इस बीचमें उसकी कुमति उठ खड़ी हुई। साधन जुट जानेपर भी उसकी कुमतिके कारण सिद्धि दुर्लभ हो गयी, इसीलिये हतभाग्य कहा।

देहिं भटभेरे–भाव यह कि जो भवभञ्जन रामके चरणोंसे ही विमुख है, वह उनके अनुशासन वेद-शास्त्रपर क्यों श्रद्धा करने लगा ? अतः वह कोई मनगढ़न्त पन्थकी कल्पना करेगा और अन्तमें सत्यमार्गसे परिभ्रष्ट होकर दुःख पावेगा। ऐसे लोग अपनेको ही हानि नहीं पहुँचाते बल्कि दूसरोंको भी पथभ्रष्ट करते हैं; यथा—

साखी शब्दी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निंदहिं बेद पुरान॥

पावन परबत बेद पुराना।
रामकथा रुचिराकर नाना॥

अर्थ—वेद-पुराण पापनाशक पर्वत हैं, (जिनमें) रामकथा-रूपी नाना प्रकारकी सुन्दर खानें हैं।

पावन परबत—भाव यह कि पर्वतोंकी उपयोगिता विचार करनेसे मालूम पड़ती है। पर्वतोंसे ही पृथ्वी धृत है, इसीसे इनका नाम भूधर है, इन्हींके कारण जल बरसता है, इन्हींसे नदियाँ निकल-निकलकर जगतीतलको आप्लावित करती हैं, इन्हींसे अनेक उपयोगी वस्तुओंकी प्राप्ति होती है, इन्हींमें अनेक प्रकारकी खानें हैं। जो पर्वत पावन माने गये हैं, उनके दर्शन और यात्रासे पाप नष्ट होते हैं।

वेद पुराना—भाव यह कि वेद-पुराण पापनाशक पर्वत हैं। विचार करनेसे ही इनकी उपयोगिताका पता चलता है। इन्हींके कारण संसार धृत है, क्योंकि प्रजाओंके धारण करनेवाले धर्मोंके ये ही आद्य उपदेष्टा हैं। इन्हींसे रस लेकर साधुलोग भगवान्के यशकी वर्षा किया करते हैं, यहींसे ज्ञानकी नदियाँ निकल-निकलकर संसारभरमें ज्ञानका सञ्चार कर रही हैं। इन्हींसे अनेक ज्ञान-विज्ञान संसारको प्राप्त हुआ करते हैं। इन्हींमें अनेक प्रकारकी कथाओंकी खानें हैं। इन्हींके दर्शन और पठन-पाठनसे पाप नष्ट होते हैं।

रामकथा—भाव यह है कि वेद-पुराणमें त्रिवर्गकी भी अनेक कथाएँ हैं, उन्हींके बीचमें राम-कथा भी है, वेद-पुराणका बड़ा भारी विस्तार है, उनका सम्यक् अनुशीलन पहाड़ खोदनेकी भाँति अशक्य है। फिर भी राम-कथाके जिज्ञासुओंके लिये वेद-पुराण ही शरण हैं।

रुचिराकर नाना—यद्यपि पहाड़ोंमें अनेक वस्तुओंकी खानें हैं, पर सुन्दर खान मणिकी ही समझी जाती हैं। इसी भाँति वेद-पुराणोंमें

राम-कथा ही श्रेष्ठ मानी जाती है। कथाओंके भेदसे नाना प्रकारकी खानें मानी गयी हैं, यथा—

कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना विधि करहीं॥
तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम विचित्र प्रबन्ध बनाई॥

खानि कहनेका भाव यह कि जितनी मणियाँ संसारमें हैं, वे सब खानसे ही निकली हैं, और जो संसारमें आवेंगी वे खानसे ही आवेंगी। इसी भाँति जितनी रामकथाएँ प्रचलित हैं, वे वेद-पुराणसे ही निकली हैं, और जो प्रचलित होंगी, उनका भी उद्गमस्थान वेद-पुराण ही होगा, जिस भाँति पत्थरोंसे खान ढकी रहती है, उसी भाँति त्रिवर्गकी कथाओं-से राम-कथा छिपी हुई है।

मर्मी सज्जन सुमति कुदारी।
ज्ञान बिराग नयन उरगारी॥४०॥

अर्थ-(उसके) भेद जाननेवाले सज्जन हैं, सुमति कुदारी है, और हे उरगारि! ज्ञान-विराग आँखें हैं।

मर्मी सज्जन—भाव यह कि भेद जाननेवाले बतला देते हैं कि अमुक स्थानमें खान है, और वह इस भाँति खोदनेसे मिलेगी। अतः बिना मर्मीके खान नहीं मिल सकती। इसी भाँति गुरुचरणोपासक अनुभवी लोग ही इसके मर्मी हैं, त्रिवर्गकी कथाएँ उनकी दृष्टिपर आवरण नहीं कर सकतीं, वे खानको दिव्य दृष्टिसे देखते हैं, वे कथाका स्थल भी बतला देते हैं और वह विधि भी बतला देते हैं जिससे कथातक पहुँच हो सके। श्रीगुरुचरणोंकी कृपासे उनकी ज्ञान-दृष्टि खुली रहती है, यथा—

श्रीगुरुपद-रज मंजुल अंजन। नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन॥
उघरहिं बिमल बिलोचन हिअके। मिटहिं दोष दुख भवरजनीके॥
सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुप्त प्रकट जहँ जो जेहि खानिक॥

यथा सुअंजन आँजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान॥

सुमति कुदारी-कुदारी कहनेसे ही यह बात निकलती है कि मर्मीने ऐसा ठीक पता बतलाया कि अकेला आदमी कुदालसे खोदकर खानमेंसे मणि निकाल ले। सुमतिको कुदाल इसलिये कहा कि सुमतिसे ही रामकथा ढूँढ़ निकाली जा सकती है, कुमति त्रिवर्गमें ही फँसकर रह जायगी, त्रिवर्गके पत्थरोंको हटाना उसके सामर्थ्यके बाहरकी बात है, उसे हित-अनहितकी पहचान नहीं है।

ज्ञान बिराग नयन-भाव यह कि बिना ज्ञान-विरागके रामकथा दिखायी नहीं पड़ती, उसे किसी साधारण राजकुमारकी इतिवृत्ति मालूम पड़ती है; यथा—

एक राम अवधेस कुमारा। तिनकर चरित बिदित संसारा॥
नारिबिरह दुख लहेउ अपारा। भयउ रोप रन रावन मारा॥

ज्ञान-विरागरूपी आँखें साधनभक्तिसे उत्पन्न हो जाती हैं, यथा—

प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज-निज धरम निरत श्रुति रीती॥
तेहिकर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥

उरगारी-भाव यह कि आप उरगोंके शत्रु हैं, उनके कौशलको भलीभाँति जानते हैं। अतः समझ सकते हैं कि अन्धेसे सर्पवध नहीं हो सकता, मणिकी पहचान वह क्या करेगा?

भाव सहित खोजै जो प्रानी।
पाव भगति मनि सब सुख खानी॥

अर्थ-भावसहित जो प्राणी खोजेगा, वह सब सुखखानि भक्ति-मणिको पावेगा।

जो प्रानी–भाव यह कि भक्ति-पथमें अधिकारका तारतम्य नहीं है, भक्तिके सभी अधिकारी हैं; यथा—

पुरुष नपुंसक नारि नर जीव चराचर कोइ।
भक्ति भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

भाव सहित खोजै–कहनेका भाव यह कि खोजनेवालेको मणि-का संस्कार होना चाहिये, उसे इस बातका परिज्ञान होना चाहिये कि मणि कैसी होती है, (फलरूपा) भक्ति-चिन्तामणिके खोजनेवालेको यह संस्कार होना चाहिये कि भक्ति कैसी होती है, साधन-भक्तिद्वारा वह भगवत-चरणानुरागसे परिचित होना चाहिये। साधन-भक्ति दो प्रकारकी होती है, वैधी और रागानुगा। शास्त्रोंके उपदेश सुनकर जब मनुष्यको भगवच्चरणोंमें अनुराग होता है, तो उसे वैधी कहते हैं, यथा—

श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥

और स्वाभाविक अनुरागसे भजनमें प्रवृत्त होनेको रागानुगा कहते हैं, यथा—

प्रौढ़ भये मोहि पिता पढ़ावा। समुझौं सुनौं गुनौं नहि भावा॥

सो दोनोंमेंसे किसी भक्तिके होनेसे काम चल सकता है।

पाव भगति मनि–भाव यह है कि वेद-पुराणोंमें मर्मीके बतलानेके अनुसार राम-कथाकी प्राप्ति होनेपर उसमें भक्तिको ढूँढ़े, तो वह निराश न होगा, अवश्य भक्ति-चिन्तामणिकी प्राप्ति होगी। यथा—

रामचरन रति जो चहै, अथवा पद निर्वान।
भावसहित सो यह कथा, करै श्रवनपुट पान॥

सब सुख खानी–भाव यह कि रामभक्तिको केवल मणि ही न समझे, यह स्वयं खान है, इसीमेंसे सब सुखोंकी उत्पत्ति होती है और होगी; यथा—

सब सुखखानि भगति तैं माँगी। नहिं कोउ तोहि समान बड़ भागी॥

भगतिहीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु ब्यंजन जैसे॥
भगतिहीन सुख कौने काजा॥

इसीलिये फलरूपा भक्तिको चिन्तामणि कहा। अविरल, अनपायिनी, पुष्टि, सिद्धिरूपा इत्यादि-इत्यादि इसके नाम हैं। 'सुनहु भगतिमनिकी प्रभुताई।' कहकर जिस प्रसंगका उपक्रम किया था, अब 'पाव भगतिमनि सब सुखखानी' कहकर उसी प्रसंगका उपसंहार करते हैं। अब सत्संगकी महिमा कहेंगे।

मोरे मन प्रभु अस बिसवासा।
रामते अधिक रामकर दासा॥४१॥

अर्थ–हे प्रभो! मेरे मनमें तो ऐसा विश्वास है कि रामके दास रामसे भी अधिक (बढ़कर) हैं।

मोरे मन–भाव यह कि श्रुतिसम्मत सर्वमान्य सिद्धान्त तो यही है कि राम अमित गुणोंके समुद्र हैं, किसीको इनका थाह नहीं लगता, यथा—

राम अमित गुन सागर, थाह कि पावै कोइ।

इनके समान ही कोई नहीं है, बढ़कर कहाँसे होगा, यथा—'जेहि समान अतिसय नहिं कोई।' पर शास्त्रसंस्कृत हृदय साधुका अनुभव भी प्रमाण है। रामचरितमानसमें इसे बराबर प्रमाणरूपमें ग्रहण किया है, यथा—'उमा कहौं मैं अनुभव अपना' तथा—'मोरे मत बड़ नाम दुहूँते।' इसी भाँति भुशुण्डिजी भी अपने मनका विश्वास कहते हैं।

प्रभु—भाव यह कि आप भी रामके दास हैं, मैं आपको रामसे भी अधिक समझता हूँ। अतः श्रोता होनेपर भी आप हमारे प्रभु हैं।

अस बिसवासा–भाव यह कि महात्माओंका विश्वास अटल होता है, उसकी उपमा अक्षयवटसे दी गयी है। जिस भाँति अक्षयवटका

प्रलयमें भी नाश नहीं होता, प्रलयके जलके साथ-ही-साथ वह भी बढ़ता ही जाता है, उसी भाँति महात्माओंका विश्वास सदा अविकृत रहता है, जितना ही संकट उपस्थित होता है, उतनी ही उसकी वृद्धि होती है, यथा—

उर उमँगेउ अंबुधि अनुरागू। भयेउ भूप मन मनहु प्रयागू॥
सिय सनेह वट बाढ़त जोहा। तेहिपर रामप्रेम सिसु सोहा॥
चिरजीवी मुनि ज्ञान विकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलम्बनु॥
वट विश्वास अचल निज धर्मा।

सो महात्मा भुशुण्डिजी अपना विश्वास कहते हैं—रामके दास लोग रामसे भी अधिक हैं।

रामकर दासा—भाव यह है कि सेवक और दासमें कुछ भेद है। सेवा करनेवाला सेवक है, सेवाधर्म भी बड़ा कठिन है। इसमें स्वामीके मनमें अपना मन मिला देना पड़ता है। अपने धर्मके सामने चारों फलका परित्याग करना पड़ता है, अपने हितके लिये स्वामीके चित्तमें क्षोभ आ जाने-मात्रसे सेवा-धर्म बिगड़ता है, स्वामीके कार्यके लिये प्राण उत्सर्जन कर देनेमें सेवकका भाग्य है, फिर भी यदि चाहे तो वह सेवा छोड़ सकता है, यथा—

सेवक सो जो करै सेवकाई। अरि करनी करि करै लराई॥

पर दास ऐसा नहीं कर सकता, वह अपनेको स्वामीके हाथ बेंच देता है, स्वामीका उसपर कृपा, कोप, वध और बन्धका अधिकार होता है, उसे स्वामीकी ही गति है दूसरेकी आशा भी नहीं है, यथा—'जेहि गति मोरि न दूसर आसा।' सो यहाँ रामसेवक न कहकर रामकर दासा कहा।

रामते अधिक—भाव यह कि रामको अति प्रिय हैं,

यथा—

सबके प्रिय सेवक यह रीती। मोरे अधिक दासपर प्रीती॥

अधिक होनेका दूसरा कारण यह है कि राम यद्यपि हेतुरहित उपकारी हैं तथापि स्वयं अपने यशकी ख्याति नहीं करते और दास लोगोंद्वारा

ही उनका यश जगत्में फैलता है, इस प्रकार दास लोग रामप्राप्तिके द्वारभूत हो जाते हैं। अतः कृतज्ञ हृदयके लिये वे रामसे भी अधिक हैं।

राम सिंधु घन सज्जन धीरा।
चंदन तरु हरि संत समीरा॥

अर्थ–रामजी समुद्र और पण्डित सज्जन बादल हैं, हरि चन्दनके तरु हैं और संत समीर हैं।

राम सिंधु–भाव यह कि (सगुण ब्रह्म) राम गुणोंके समुद्र हैं, आनन्दके सागर हैं। पर समुद्र स्वयं कुछ नहीं करता, और न उसका जल ही सर्वसाधारणके लिये उपयोगी होता है; सबकी पहुँच भी समुद्र-तक नहीं हो सकती, और न समुद्र सबके पास जा सकता है; समुद्रके किनारे भी मनुष्य प्यासा मर सकता है। इसी भाँति राम सिंधु भी निष्क्रिय हैं, जिस भाँति यह कोटिशत विष्णुके समान पालनकर्ता हैं, उसी भाँति कोटिशत रुद्रके समान संहर्ता भी हैं, शतकोटि कामके समान सुन्दर भी हैं और कोटिशत शमनकी भाँति कराल हैं, अतः इनका विरुद्ध धर्माश्रयत्व सर्वसाधारणके लिये उपयोगी नहीं है, यह दुस्तरदुर्गदुरन्त हैं, उनके सम्मुख दुष्टहृदय प्राणी जा भी नहीं सकते, और न योगज्ञानभक्तिरहित प्राणी उन्हें पा सकते हैं, विमूढ़ प्राणीको उनके गुणोंसे और भी मोह हो जाता है, यथा—

उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं विरति।
पावहिं मोह विमूढ़ जे हरि विमुख न धर्म रति॥

घन सज्जन धीरा–भाव यह कि बादलोंमें ही यह सामर्थ्य है कि समुद्रके जलसे क्षारका त्याग कर जीवोपयोगी मधुर जलको ग्रहण करें, और उसे ले जाकर देश-देशमें बरसावें। जगत्में जो कुछ सरसता है, नदी, तालाब, कूपादि जितने जलाशय हैं, उनके साक्षात् या परम्परासे बादल ही कारण हैं। ऐसा करनेमें बादलका कोई स्वार्थ नहीं है; पर

जगत्‌का कल्याण बादलोंसे ही होता है। इसी भाँति परहितचिन्तक विद्वान् सज्जनोंमें ही यह सामर्थ्य है कि उस गुणसिंधुके दुराधर्ष गुणोंमें-से लोकोपयोगी अंशको पृथक् करके जगत्‌को प्रेमानन्दसे आप्लावित कर दें, यथा—

बरषहिं राम सुजस बरबारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥
लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करै मल हानी॥
प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥
सोइ जल सुकृत सालि हित होई। राम भगत जन जीवन सोई॥

जगत्‌में जो कुछ गुण या आनन्दका लेश है, वह इन्हीं महात्माओंके साक्षात् वा परम्पराकृत कृपाका फल है। ऐसा करनेमें इन महात्माओंका कोई स्वार्थ नहीं है, ये पूर्णकाम हैं, पर जड़ जीवोंका कल्याण इन्हींसे होता है, यथा—

हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी॥

चंदन तरु हरि—भाव यह कि जब एक दृष्टान्तसे पूरा काम नहीं चलता, तब दूसरा दृष्टान्त दिया जाता है। संत बादलकी भाँति हरि-सुयशकी वर्षा करके जगत्‌को हराभरा कर देते हैं, प्रेमका बिरवा इन्हीं-की कृपासे वर्धित होकर वृक्षरूपमें परिणत होता है, गुणग्रामके स्मरणसे ही अनुराग बढ़ता है; यथा—'सुमिरि सुमिरि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ।' पर बादल अपना गुण अथवा समुद्रका गुण किसीको नहीं दे सकते, और संत ऐसा कर सकते हैं। इसलिये दूसरा दृष्टान्त देना पड़ा।

कविसम्प्रदाय एक ही चन्दनवृक्ष मानता है। उसका होना अत्यन्त दुर्गम वनमें कहा जाता है और उसमें साँपोंके लिपटे रहनेके कारण वहाँतक मनुष्योंकी गति नहीं है। परन्तु उसकी हवा जिधरसे निकल जाती है, उधरके वृक्षोंको चन्दनका-सा सुगन्धित बना देती है। चन्दन-का गन्ध हवाद्वारा जाकर वृक्षोंके सारको बेध देता है, और उसे सदाके लिये सुगन्धित कर देता है, वही हम लोगोंका परिचित चन्दन वृक्ष है।

कहना नहीं होगा कि ऐसा चन्दनका वृक्ष साक्षात् हरिको छोड़कर दूसरा नहीं हो सकता।

संत समीरा—भाव यह कि चन्दन वृक्षतक किसीकी गति नहीं है, पर हवाकी सब जगह गति है, यह सामर्थ्य गन्धवाहमें ही है कि चन्दनके गन्धको लेकर अन्य वृक्षोंके सारमें बसा दे। इसी भाँति यह शक्ति संतोंमें ही है कि हरिका भाव लेकर मनुष्योंके अन्तःकरणको सदाके लिये भगवद्भावसे भावित कर दें, अर्थात् फलरूपा भक्ति प्रदान कर सकें। संत ही बादल होकर साधनभक्तिको परिपुष्ट करते हैं और संत ही उस भक्तिको सिद्धिभक्ति वा फलरूपा भक्तिके रूपमें हवा होकर परिणत करते हैं। यदि पापियोंके हृदयमें संतकी वाणी काम नहीं करती तो इसमें संतोंका कोई अपराध नहीं है, चन्दनकी वायु भी बाँसको सुगन्धित करनेमें असमर्थ होती है, यथा—'बेधत नहिं श्रीखंड बेनु इव सारहीन मन पापी।'

यहाँ संत और हरिकी उपमा जड़ पदार्थोंसे देकर यही दिखलाया कि ये जड़की भाँति परोपकारका कार्य स्वार्थहीन तथा दुःख-सुखसे रहित होकर करते हैं।

सबकर फल हरिभगति सोहाई।
सो बिनु संत न काहू पाई ॥४२॥

अर्थ—सबका फल सुन्दर हरिभक्ति है, उसे सिवा संतके किसीने नहीं पाया।

सब कर फल—भाव यह कि सब साधनोंका फल विषय नहीं हो सकता, क्योंकि जितने संस्पर्शज भोग हैं वे सब दुःखके कारण हैं। स्वर्ग भी कुछ कालके लिये ही होता है। जिस भाँति कृषिकर्मसे उत्पन्न हुआ अन्न खाते-खाते कुछ दिनोंमें बिना समाप्त हुए नहीं रहता, उसी भाँति साधनोंसे उपार्जित पुण्य एक-न-एक दिन निःशेष हो ही जाता है, और

पुण्यके निःशेष होते ही स्वर्गसे पतन होता है और जीव फिर मृत्युलोकमें आ जाता है, यथा—

एहि तनुकर फल विषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई॥

यह नरशरीर ही साधनका धाम है, मोक्षका द्वार है, इसे पाकर जिसने भगवद्भजन नहीं किया और विषयमें मन दिया, वही पीछेसे दुःख पाता है, पछताता है, और व्यर्थ अपने भाग्यको कोसता है। सब साधनोंकी एकमात्र सिद्धि यही है कि विषयसे मन हटे और ईश्वरमें लगे, यथा—

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। सम जम दम तप ब्रत मख नाना॥
भूतदया गुरु द्विज सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥
जहँलगि साधन बेद बखानी। सबकर फल हरिभगति भवानी॥

हरिभगति सोहाई—भाव यह कि निष्काम भक्ति। कामनाका रहना भक्तिकी शोभा नहीं है। कामनासहित भक्ति भी एक प्रकारका व्यापार है। प्रेममें कामनाको स्थान देना कपट है। प्रेम प्रेमके लिये ही किया जाता है, यथा—

जेहि जोनि जनमौं कर्मबस तहँ रामपद अनुरागहूँ।

सो बिनु संत—भाव यह कि सुमति संतके हिस्सेकी वस्तु है, सुमतिमें रमण करनेवाले संत ही होते हैं, इसीलिये सुमतिको संतकी स्त्री कहा, यथा—'सुमति संततिय (सुभग सिंगारू)' और सुमतिके। बिना भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती। इसीलिये संत ही भक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

न काहू पाई—जिन्हें कुमति है अथवा जो सदा सुमतिमें रत नहीं रहते, वे भक्तिके पात्र नहीं हैं। ऐसे लोगोंको कभी भक्तिका लाभ नहीं हुआ। कुमतिमें हित अनहित मालूम पड़ता है, और शत्रुमें मित्रबुद्धि होती है। अतः ऐसी अवस्थामें भक्तिकी ओर चित्त नहीं जा सकता

और जहाँ सुमति-कुमति दोनोंकी चलती है, वहाँ शान्तावृत्ति स्थिर नहीं हो सकती।

अस बिचारि जो कर सतसंगा।
रामभगति तेहि सुलभ बिहंगा॥ ७३॥

अर्थ—ऐसा विचार करके जो सत्संग करता है, उसे हे विहंग लोग! रामभक्ति सुलभ है।

जो—भाव यह कि साधारण मनुष्य न संत ही हैं न असंत ही हैं, उनमें कुछ गुण तो संतके होते हैं और कुछ असंतके होते हैं, उन्हींके लिये यह उपदेश है, क्योंकि असन्त असाध्य हैं, और संत तो सिद्ध ही हैं, उनके लिये साधनका उपदेश नहीं हो सकता।

अस बिचारि—सब साधनोंकी उपेक्षा करके सत्संगमें लग जाते हैं। क्योंकि रामसे अधिक संत लोग हैं, इन्हें छोड़ दूसरेको भक्ति मिल नहीं सकती, सुमति इन्हींकी सम्पदा है, और सुमति कुदारीके बिना वेद-पुराण पर्वतका खोदना सम्भव नहीं। अतः सत्संग ही भक्तिप्राप्तिके लिये सुलभ साधन है।

सतसंगा कर—संत लोग तो बिना प्रार्थना किये ही घूम-घूमकर रामभक्तिका प्रचार करनेके लिये उद्योग किया करते हैं; अपना संग करनेवालेको भक्ति देनेमें वे कृपणता क्यों करेंगे, और अपनी त्रुटि भी उन्हींके संगसे सुधर जावेगी, यथा—

सठ सुधरहिं सतसंगति पाए। पारस परसि कुधातु सोहाए॥

अतः सत्संग करना चाहिये।

विहंगा—भाव यह कि यहाँ भुशुण्डिजी अपने सब श्रोताओंका ध्यान आकर्षित करते हैं, इसलिये सम्बोधनमें एकवचन 'बिहंगू' का प्रयोग न करके बहुवचन 'बिहंगा' शब्दका प्रयोग करते हैं। क्योंकि

विहंग-योनिमें कोई साधन नहीं हो सकता, पर सत्संग तो पक्षी भी कर सकते हैं, यथा—

आवैं सुनैं अनेक बिहंगा।..........................

साधु असाधु सदन सुक सारों। सुमिरहिं नाम देहिं गनि गारीं॥

अथवा विहंगमार्गी ज्ञानियोंका सम्बोधन है, यथा—

सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरंतर जे तेहि ताला॥

रामभगति–भाव यह कि रामभक्ति अति दुर्लभ है, यथा—

नरसहस्रमहँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्मब्रतधारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिराग रत होई॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक् ज्ञान सकृत कोउ लहई॥
ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवन्मुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन सहस्रमहँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥
सबते सो दुर्लभ सुर राया। रामभगति-रत गत मद माया॥

तेहि सुलभ–सत्संगसे ऐसी दुर्लभ वस्तु भी सुलभ हो जाती है। पहले सुगम उपाय कहा था, पर वह भी सुमति-कुदारीवाले संतसे ही शक्य है। अतः उपाय सुगम होनेपर भी सुलभ नहीं है, दुर्लभता बनी ही रह गयी। अतः वह भक्ति सत्संगसे ही सुलभ है।

दो०—ब्रह्म पयोनिधि मंदर, ज्ञान संत सुर आहि।
कथा सुधा मथि काढ़हिं, भगति मधुरता जाहि॥

अर्थ–वेद क्षीरसागर है, ज्ञान मन्दर है, संत देवता हैं। (वे) मथकर कथामृत निकालते हैं, जिसकी मिठास भक्ति है।

ब्रह्म पयोनिधि–यहाँपर 'ब्रह्म' शब्द वेदका वाचक है। एकरस ब्रह्म रामका मन्थन, और उसमेंसे अमृतका पृथक्करण नहीं हो सकता, यथा—'सदा एकरस अज अबिनासी।' अतः यहाँ प्रसङ्गानुकूल अर्थ

वेदका ग्रहण किया गया । अब इस बातको दिखलाते हैं कि गुणसिन्धु रामके गुणोंमेंसे लोकोपयोगी गुण (अमृत) का पृथक्करण संतलोग कैसे करते हैं। वेदोंमें रामके सुयशका वर्णन है, यथा—'जिनहिं न सपनेहु खेद, बरनत रघुबर बिसद जस।' वेद रत्नाकर है, न जाने कितने रत्न इसमें पड़े हैं, इसमेंसे अमृत (रत्न) निकालना सुकर व्यापार नहीं है। पूर्वकालमें अमृतके लिये देवता और असुरोंने समुद्रको मथना चाहा, परन्तु उसके लिये उपयुक्त मथनी नहीं थी। फिर मन्दराचलको मथनी बनाकर अमृत प्राप्त किया गया। परन्तु इस सामग्रीसे वेद समुद्र-का मन्थन नहीं हो सकता। अतः कहते हैं—

मंदर ज्ञान–भाव यह कि जिस भाँति समुद्रका मन्थन मन्दरा-चलसे ही सम्भव था, उसी भाँति वेद-समुद्रका मन्थन ज्ञानसे ही हो सकता है। जिन्होंने अपनी असंस्कृत बुद्धिसे ही मन्थन किया, उन्हें तो वेद गँवारोंका गीत ही मालूम हुआ।

संत सुर आहिं–भाव यह कि समुद्रके मथनेमें देव और असुर दोनों लगे थे, पर वेद-समुद्रके मन्थनमें केवल देवस्थानीय संत ही समर्थ हैं, असुरस्थानीय खलोंका इसमें उपयोग नहीं होता, क्योंकि ज्ञानमन्दरको घुमानेकी शक्ति केवल संतोंमें है, खल तो उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते।

कथा सुधा–भाव यह कि रामकथा वेदोंका सार है। जिस भाँति ब्रह्मका रामरूपमें अवतार हुआ, उसी भाँति ब्रह्मयश वेदका रामायणरूपमें अवतार हुआ, यथा—

जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

मथि काढ़हिं–भाव यह है कि संतोंका स्वभाव ही पराये हितके लिये कष्ट उठाना है, यथा—'संत सहहिं दुख परहित लागी।' वे परहितके लिये कष्ट उठाकर वेद-समुद्रको मथते हैं, और अमृत निकाल-निकालकर वर्षा किया करते हैं, यथा—

तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम प्रबंध बिचित्र बनाई॥

भगति मधुरता जाहि—रामकथामें रामस्वभाव वर्णित होता है, और रामस्वभावके परिज्ञानमें ही मिठास है, उसी मिठासका नाम भक्ति है; यथा—

उमा राम सुभाव जेहिं जाना । ताहि भजन तजि भाव न आना ॥
राम सुजस जे सुनत अघाहीं । रस बिसेष जाना तिन नाहीं ॥

दो०—बिरति चर्म असि ग्यान मद, लोभ मोह रिपु मारि
जय पाइअ सो हरिभगति, देखु खगेस बिचारि॥

अर्थ—वैराग्यकी ढाल और ज्ञानकी तलवारसे, मद-लोभ-मोहादि शत्रुको मारकर जो विजय मिलती है वह हरिभक्ति है, हे खगेश ! विचारकर देख लो ।

बिरति चर्म असि ग्यान—भाव यह कि शत्रुवधकी सिद्धिके लिये दो बातोंकी आवश्यकता पड़ती है, पहले अपनी रक्षाकी और दूसरे शत्रुपर प्रहार करनेकी । जबतक शत्रुके प्रहारको रोकनेका साधन अपने पास न हो, तबतक युद्धकी चर्चा चलाना ही व्यर्थ है, और वधका असाधारण कारण शस्त्र है, जिसके बिना शत्रुका नाश हो ही नहीं सकता । संक्षेपमें ढाल-तलवारसे दोनों काम निकलता है । ढालसे शत्रुका प्रहार रोका जाता है और तलवारसे शत्रुको मारा जाता है । यहाँ वैराग्य ढाल है और ज्ञान तलवार है । विषयमें रति होनेसे ही काम-क्रोधादिका बल चलता है और वे कल्याणका नाश करनेमें समर्थ होते हैं, और विषयमें यदि रति न हो तो काम-क्रोधादिका कुछ बल नहीं चल सकता इसलिये विरति अर्थात् वैराग्यको ढाल कहा । और सबमें ब्रह्मको समान देखनेसे शत्रु-मित्र-बुद्धि ही नहीं रह जाती, अतः साध्याभावसे साधनरूप काम-क्रोधादि मर जाते हैं । इसलिये ज्ञानको तलवार कहा ।

मद लोभ मोह रिपु—रिपु कहकर शेष तीन काम-क्रोध-मात्सर्यको भी ग्रहण किया । अकारण अपकार करनेसे, कल्याण-मार्गके बाधक होनेसे

ये सब आन्तर शत्रु माने गये हैं, ये अनेक प्रकारसे सबको दुःख दिया करते हैं, यथा—

मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥
त्रिस्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहिकर हृदय क्रोध नहिं दाहा॥

ज्ञानी तापस सूर कवि, कोविद गुन आगार।
केहिकर लोभ बिडंबना, कीन्ह न एहि संसार॥
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनिके नयन सर, को अस लाग न जाहि॥

गुन कृत सन्निपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥
जोवन ज्वर केहि नहि बलकावा। काहि न सोक समीर डोलावा॥
मत्सर काहि कलंक न लावा। ममता केहिकर जस न नसावा॥

इत्यादि।

मारि–भाव यह कि कथामृतका पान करनेसे ऐसा बल (परम वैराग्य) बढ़ता है कि मनुष्य अकेले ही सब शत्रुओंका वध करनेमें समर्थ होता है। शत्रुओंको मित्र बनानेके चारों उपाय साम, दान, भय, भेदमेंसे एक भी इनपर नहीं चलता, और इनके रहते हुए ज्ञान, वैराग्य, योग, भक्ति ही क्यों, किसी भी कल्याणपथमें सिद्धि नहीं मिल सकती। अतः इनके वधके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं।

जय पाइअ–भाव यह कि यह शरीर दो राजाओंका देश है, अपने अधिकारके लिये दोनोंमें नित्य लड़ाई रहती है। एक ओर मोह राजा है, और कामादि उसके सहायक हैं, और दूसरी ओर विवेक राजा है, और वैराग्य आदि उनके सहायक हैं। यह लड़ाई अनादिकालसे चली आती है। कभी एक बीस पड़ जाता है तो कभी दूसरा, इसी द्वन्द्वमें पड़कर यहाँकी प्रजा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राणादि अति पीड़ित हो रहे हैं। जब कथामृतपानसे विवेकादिका बल बढ़ जाता है, तब मोहादि

मार डाले जाते हैं। विवेक राजाकी जीत होती है, उनका अकण्टक राज्य स्थापित हो जाता है और फिर राजा साहब रामचरणाश्रित होकर आनन्दसे राज्य करते हैं, यथा—

जीति मोह महिपालदल सहित बिबेक भुआल।
करत अकंटक राज्य पुर सुख संपदा सुकाल॥

सचिव बिराग बिबेक नरेसू। बिपिन सोहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदरि रानी॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ। रामचरन आश्रित चित चाऊ॥

सो हरिभगति—भाव यह कि काम-क्रोधादिके मारे जानेपर जो जीत मिली, जिस उत्कर्षकी प्राप्ति हुई, वही भक्ति है। इतनी बड़ी लड़ाईके बाद फल यह हुआ कि संसारकी ओरसे मन हटकर राममें लगा, विवेकका साम्राज्य स्थिर हो गया, वैराग्य मन्त्री हुए, सनेहवन साम्राज्य हुआ, यम-नियम सुभट हुए, चित्त राजधानी हुआ। शान्ति-सुमति रानियाँ हुईं, अब सांसारिक राज्य, मन्त्री, स्त्री आदिसे सम्बन्ध नहीं रह गया; भक्तिसाम्राज्यका समाज ही कुछ दूसरा है।

खगेस—कहनेका भाव यह कि आपकी अव्याहत गति है, सभी साम्राज्य आपके देखे हुए हैं, पर कोई भी इस भक्तिसाम्राज्यके अंशकी भी तुलना नहीं कर सकता।

विचारि देखु—भाव यह कि केवल मेरे कहनेपर ही न रह जाओ, स्वयं विचारकर देख लो। बिना संसारसे मन हटे और रामपदमें लगे सुख नहीं, और यही भक्ति है। अब चाहे कोई अभेदभक्ति करे, चाहे भेदभक्ति सेवकसेव्यभाव दृढ़ करे, पर हैं सब भक्ति ही। इसीलिये चार प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी भी भक्त ही माने गये हैं।

चतुर्थ प्रसङ्ग

सप्त प्रश्न

पुनि सप्रेम बोलेउ खगराऊ।
जौं कृपाल मोहि ऊपर भाऊ॥

अर्थ—फिर प्रेमके सहित पक्षिराज बोले कि हे कृपालु! यदि आपका मेरे ऊपर (कृपा) भाव है।

पुनि—शब्दसे भक्ति-चिन्तामणि-प्रसङ्गकी समाप्ति अथवा 'भगतिहिं ज्ञानहिं अंतर केता' इस प्रश्नके उत्तरकी समाप्ति दिखलाकर, गिरिजाके अन्तिम प्रश्न—

जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सो दयालु राखहु जनि गोई॥

—के उत्तरका सूत्रपात करते हैं।

खगराऊ—भाव यह कि खगेशको विचारपूर्वक देखनेको कहा था, यथा—'जय पाइअ सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि'। सो विचार करनेपर सात शङ्काएँ और खड़ी हो गयीं। खगराऊ हैं, युद्ध तथा

जयकी क्रियासे भलीभाँति परिचित हैं, युद्धमें सिद्धि निश्चित नहीं रहती, तनिक-सा छिद्र होनेसे महान् अनर्थ हो जाता है, अतः अत्युत्तम साधन अभ्रान्त जानकारीके लिये प्रश्न करते हैं।

सप्रेम बोलेउ-भाव यह कि पहले मृदु वाणी बोले थे, यथा—'बोलेउ गरुड हरषि मृदु बानी' फिर अब सप्रेम बोले। भुशुण्डिजीके अमृतमय उपदेशसे प्रेम बढ़ता ही जाता है।

कृपाल-भाव यह कि गुरुकृपा बिना कुछ नहीं हो सकता, यथा—

गुरु बिनु भवनिधि तरै कि कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥

सो कृपाल गुरु भाग्यसे मिल गये हैं, अतः प्रश्न करते समय 'कृपाल' शब्दद्वारा ही सम्बोधन करते हैं, यथा—'सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता' 'जौं कृपाल मोहि ऊपर भाऊ'।

जौं मोहि ऊपर भाऊ-भाव यह कि जिज्ञासामें आर्त होकर जिज्ञासु गुरुके प्रेमपर विश्वास दिखलाता हुआ प्रश्न करता है, यथा—'जानिअ सत्य मोहि निज दासी'। 'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना'। यहाँ भावसे कृपाभाव अभिप्रेत है, इसीलिये कृपाल सम्बोधन किया।

नाथ मोहिं निज सेवक जानी। सप्त प्रश्न मम कहहु बखानी॥४४॥

अर्थ-(तो) मुझे अपना सेवक जानकर मेरे सात प्रश्न बखानकर कहिये, हे नाथ!

नाथ-भाव यह कि परस्पर विनयसे वर्णनातीत सुखका अनुभव होता है, यथा—

मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं॥

यहाँ गरुडजी और भुशुण्डिजी परस्पर एक दूसरेको नाथ कहकर सम्बोधन करते हैं, यथा—

नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर। 'नाथ मोहि निज सेवक जानी।

निज सेवक–भाव यह कि बड़े लोगोंको सेवकों और दासियोंका घाटा नहीं रहता; इतनी संख्या अधिक रहती है कि उन्हें याद भी नहीं रहता। पर जो खास खिदमतमें रहते हैं उन्हें नहीं भूलते, उनपर विशेष कृपा रहती है, वे निज सेवक कहलाते हैं, यथा—'जानिय सत्य मोहिं निज दासी' अथवा यह मान लेनेकी बात नहीं है कि मैं सेवक हूँ, वस्तुतः मैं सेवक ही हूँ।

मोहिं जानी–भाव यह कि सम्पूर्ण श्रोतामण्डलको सेवक जानिये, सब आपके आज्ञाकारी हैं। यथा—'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा' पर मुझे तो पादसंवाहनादि क्रिया करनेवाला सेवक समझिये।

मम सप्त प्रश्न–भाव यह कि (१) भोगायतन, (२) अनुकूल वेदनीय भोग, (३) प्रतिकूल वेदनीय भोग, (४) भोक्ता, (५) अनुकूल भोगका कारण, (६) प्रतिकूल भोगका कारण, (७) भोक्ताकी अस्वस्थताके कारणविषयक प्रश्न हैं, इन्हीं सात प्रश्नोंमें साध्य, साधन और साधकविषयक सब बातें आ गयीं।

कहहु बखानी–भाव यह कि मेरे प्रश्नोंका उत्तर केवल वस्तु-निर्देशमात्रसे समाप्त न कर दीजियेगा, उपपत्ति और परिणामके साथ कहिये।

प्रथमहिं कहहु नाथ मति धीरा।
सबते दुर्लभ कवन सरीरा॥

अर्थ–हे मतिधीर नाथ! पहले तो यह बतलाइये कि सबसे दुर्लभ कौन शरीर है?

मति धीरा नाथ–भाव यह कि मेरे प्रश्नका वही उत्तर दे सकता है जो प्रभुकी प्रभुताको जानता हो। मैं तो इस ब्रह्माण्डका गरुड़ ठहरा, इसके बाहरका हाल जानता ही नहीं, इसीके आकाशका थाह नहीं मिलता, यथा—

जीव चराचर जन्तु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥
तुमहि आदि खग मसक प्रयंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥

और आप करोड़ों ब्रह्माण्डोंकी भलीभाँति सैर कर चुके हैं। यथा—

उदर माझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥
अति विचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अमित एक ते एका॥
कोटिन चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रवि रजनीसा॥
लोक-लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्णु सिव मनु दिसि त्राता॥
....

एक-एक ब्रह्माण्ड मह रहेउँ बर्ष सत एक।
एहि बिधि देखत फिरेउँ मैं अंडकटाह अनेक॥
....

भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहु कलप सत एका॥
देखि चरित यह सो प्रभुताई। सुमिरत देह दसा बिसराई॥

सो प्रभुके प्रभावका आपसे बढ़कर जानकार कौन होगा? और जो प्रभुके प्रभावको जाने वही मतिधीर है, यथा—'प्रभु प्रभाव जानत मतिधीरा॥' इसीलिये 'नाथ मतिधीरा' कहा।

प्रथमहिं कहहु–भाव यह कि पहले भोगायतन (शरीर) का ही वर्णन होना चाहिये। देहाध्याससे ही संसार है। अतः जिस देहमें संसारदुःखसे निवृत्त होनेका साधन जितना ही अधिक हो उतना ही वह उत्तम है, सो पहले उसीको कहना चाहिये।

कवन सरीरा–भाव यह कि आपने असंख्य ब्रह्माण्डोंके जीवोंके शरीर देखे हैं, और १०१ वर्ष रह-रहकर सबसे भलीभाँति परिचित हैं, यथा—

नर गन्धर्ब भूत बेताला। किन्नर निसिचर पसु खग ब्याला॥
देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती॥

सबते दुर्लभ–भाव यह कि यद्यपि नगरवासियोंको उपदेश देते हुए भगवान्‌के मुखसे सुन चुके हैं कि 'बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुरदुर्लभ सब ग्रंथनि गावा॥ साधन धाम मोच्छकर द्वारा।' फिर भी यह सन्देह होता है कि सम्भव है कि मानुषतनसे भी दुर्लभ कोई शरीर हो जो और भी बड़े भाग्यवान् जीवोंको मिलता हो; अतः सबसे दुर्लभ शरीरके विषयमें प्रश्न करते हैं। यह पहला प्रश्न है।

बड़ दुख कवन कवन सुख भारी।
सोउ संछेपहिं कहहु बिचारी॥४५॥

अर्थ–कौन दुःख बड़ा है और कौन सुख भारी है, इसे भी संक्षेपमें विचारकर कहिये।

बड़ दुख कवन–भाव यह कि भगवान्‌के मुखसे सुन चुके हैं कि जो मनुष्य उन्हें नहीं भजता और विषयरत होकर दिन-पर-दिन मन्द होता चला जाता है, वह परलोकमें दुःख उठाता है, यथा—

सो परत्र दुख पावई सिर धुनि धुनि पछिताय।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाय॥

सो दुःख तो कहा, पर बड़ा दुःख कौन है, यह नहीं कहा। उसका विस्तार होता है, पार पाना कठिन हो जाता है, इसलिये बड़ा दुःख पूछते हैं, यह दूसरा प्रश्न है।

कवन सुख भारी–भाव यह कि सुखके लिये भी भगवान्‌ने कहा कि 'जौं परलोक इहाँ सुख चहहू' पर सबसे भारी सुख कौन है, इसे न उन्होंने कहा, और न उनसे किसीने पूछा। अतः यह बात जाननी रह गयी। सुख-दुःख तो सबने उठाया है, पर किसीको पूर्वजन्मका स्मरण

नहीं है, और आपको पूर्वजन्मोंका स्मरण है, आपको अनुभूत दुःख-सुखका स्मरण है, अतः आप बतलाइये, यथा—'बहुत जनमकी सुधि मोहि आई'। यह तीसरा प्रश्न है।

सोउ बिचारी कहहु-भाव यह कि सो अनेक जन्मके अनुभूत सुख-दुःखोंका मिलान करके मनमें ठीक कर लीजिये, जो सुख सबसे भारी ठहरे उसे कहिये।

संछेपहिं-भाव यह कि दुःख-सुख सबके अनुभूत पदार्थ हैं, इनको विस्तारके साथ कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; केवल बड़े दुःख और भारी सुखके निर्देशमात्रसे काम चल जायगा।

संत असंत मरम तुम जानहु।
तिन्हकर सहज सुभाव बखानहु॥

अर्थ-तुम संत असंतके मर्मको जानते हो, सो उनके सहज (पैदाइशी) स्वभावका वर्णन करो।

संत असंत मरम-भाव यह कि स्वयं भगवान्‌ने नारदजीसे कहा कि—

सुनु मुनि साधुनके गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥

सो केवल संतोंके गुण कहे। भरतजीसे संत-असंत दोनोंके गुण कहे, यथा—

संत असंतनके गुन भाखे। ते न परहिं भव जे लखि राखे॥

सो संत और असंत दोनोंके गुणोंका पारावार नहीं है, यथा—

खल अघ अगुन साधु गुनगाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥

अतः इनका मर्म जाननेसे काम चलेगा। क्योंकि साधारण जीव अपेक्षाकृत संत भी हैं असंत भी हैं, मर्म जान लेनेसे दोनोंके गुणोंकी

पहचान हो जावेगी। अतः कल्याणार्थीको उनके त्याग और ग्रहणमें बड़ा सुभीता होगा, यथा—'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥'

तुम जानहु—भाव यह कि तुम असंत भी रह चुके हो और संत तो अब हुई हो, दोनों अवस्थाएँ तुम्हारी आँखके सामने हैं, यथा—

मैं खल मल संकुल मति, नीच जाति बस मोह।
हरिजन द्विज देखे जरौं, करौं विष्णुकर द्रोह॥

तथा—

हारयों करि सब कर्म गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिकी नाईं॥

तिन्हकर सहज सुभाव—भाव यह कि शुभ गुण और दुर्गुण, सुसङ्ग और कुसङ्गके कारण, आया जाया करते हैं, स्थायी नहीं होते, यथा—'उपजहिं बिनसहिं ज्ञान जिमि पाइ सुसंग कुसंग॥' परन्तु सहज स्वभाव जा नहीं सकता, यथा—

बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥
खलहु करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाव अभंगू॥

अतः—

बखानहु—भाव यह कि खल और साधु दोनों बखान करनेयोग्य हैं, 'सुधा सराहिय अमरता गरल सराहिय मीच॥' इन्हींके बखानमें सम्पूर्ण वेद-शास्त्रके सारका बखान है, जितने उपादेय गुण हैं वे सब संतमें हैं और जितने हेय गुण हैं वे सब असंतमें हैं, अतः इनके लिये बखान करनेकी प्रार्थना है। चौथा प्रश्न हुआ।

कवन पुन्य श्रुतिबिदित बिसाला।
कहहु कवन अघ परम कराला॥ ४६॥

अर्थ—वेदविदित विशाल पुण्य कौन-सा है? और कौन परम कराल पाप है।

श्रुतिविदित–भाव यह कि सब साधनोंका मूल पुण्य है। बिना पुण्यके न ज्ञान सम्भव है और न भक्ति। ज्ञानपन्थमें सर्वप्रथम श्रद्धा-रूपी गौके चरनेके लिये जप, तप, व्रत, यम, नियमरूपी घास चाहिये, यथा—

जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥
सो तृन हरित चरै जब गाई।

श्रद्धाके पुण्यकर्मोंसे बिना तृप्त हुए कुछ हो ही नहीं सकता; इसी भाँति भक्तिमार्गमें—

प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति रीती॥

—का उपदेश है। सो दोनों मार्गोंमें वेदविदित पुण्योपार्जन समान है। अतः श्रुतिविदित विशाल पुण्यके लिये पाँचवाँ प्रश्न किया।

कवन पुन्य बिसाल–भाव यह कि दोनों मार्गोंमें भक्तिकी सुलभता दिखलायी, फिर भक्तिकी प्राप्तिमें सुलभता सत्सङ्गद्वारा कही, पर संतका सङ्ग बिना पुण्य-पुञ्जके होता नहीं, अतः पुण्यपुञ्जोपार्जनके लिये विशाल पुण्य पूछते हैं।

कहहु कवन अघ–भाव यह कि पाप करनेवालेको धर्मबुद्धि ही नहीं होती, अतः वह पुण्य करेगा ही नहीं, श्रद्धा गौके लिये चारा ही न मिलेगा, अतः पापीका ज्ञानमार्गमें प्रवेश ही नहीं हो सकता, यथा— 'पाप करत निसि बासर जाहीं। नहि कटि पट नहि पेट अघाहीं॥ हमरे धर्म बुद्धि कस काऊ।' इसी भाँति पापीका भजनमें मन ही नहीं लगता, यथा—'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥' अतः पापसे बचनेके लिये परम कराल पापको जान लेना चाहिये।

परम कराला–भाव यह कि ऐसा भयानक पाप जिससे बचना दुर्घट हो, यथा—'तुम्हहि न ब्यापत काल, अति कराल कारन कवन।' जिससे कोई न बच सके, वही अति कराल है। इसीलिये तद्विषयक छठाँ प्रश्न किया गया।

मानस रोग कहहु समुझाई ।
तुम सर्बज्ञ कृपा अधिकाई ॥

अर्थ–तुम सर्वज्ञ हो, और तुम्हें कृपा भी अधिक है, (सो) मानस रोग समझाकर कहो ।

तुम सर्वज्ञ–भाव यह कि भगवान्‌की कृपासे तुम सब बातोंका भेद अनायास जानते हो; तुम्हें इस बातके लिये भगवान्‌से वर मिला हुआ है, यथा—

भक्ति ज्ञान बिज्ञान बिरागा । जोग चरित्र रहस्य बिभागा ॥
जानब तैं सब ही कर भेदा । मम प्रसाद नहिं साधन खेदा ॥

इसीलिये तुम्हें सब बातोंका अभ्रान्त ज्ञान है, तुम्हारे कहे हुएमें भ्रान्तिको स्थान नहीं है ।

कृपा अधिकाई–भाव यह कि संसारमें कृपाके लिये कारण होता है, यथा—'अवसि काज मैं करिहउँ तोरा । मन तन बचन भगत तैं मोरा ॥' परन्तु कारणरहित कृपा दो को ही होती है, भगवत्‌को या उनके सेवक भागवतको, यथा—'हेतुरहित जग जुग उपकारी । तुम तुम्हार सेवक असुरारी ॥' इसीलिये 'कृपा अधिकाई' कहा ।

मानस रोग–भाव यह कि आपने भक्तिमणिप्रसंगमें कहा कि 'ब्यापहिं मानस रोग न भारी । जेहिके बस सब जीव दुखारी ॥' सो यह मालूम नहीं हुआ कि वे मानस रोग क्या हैं, और कौन-से हैं जो सभीको दुःख दिया करते हैं । रोग तो एक दो कभी-कभी किसीको होते हैं, और सब रोग सबको सदा रहें, यह अद्भुत बात है ।

कहहु समुझाई–भाव यह कि बात समझमें नहीं आती । मल-का कुपित होना ही सब रोगोंका कारण है । शरीरमें जो वात, पित्त, कफ हैं, ये ही विकृत होकर अनेक विकार उत्पन्न करते हैं । वे ही जब एक

साथ होते हैं, तब सन्निपात हो जाता है, रोगी दुर्वाद बकने लगता है। शारीरिक रोगका कारण वात-पित्तका प्रकोप, कुपथ्यसे होता है। रोगोंके लिये चिकित्साशास्त्र बना है। वैद्य दवा देते हैं, रोग उपशमित होता है, रोगी स्वास्थ्यलाभ करके फिर बलवान् हो जाता है। ये सब बातें मनमें कैसे होती हैं ? यह बात समझमें नहीं आती, सो समझाकर कहिये। यह सातवाँ प्रश्न हुआ।

तात सुनहु सादर अति प्रीती।
मैं संछेप कहौं यह नीती ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे तात ! आदर और प्रीतिके साथ सुनो, मैं संक्षेपमें यह नीति कहता हूँ।

तात सुनहु—'तात' शब्द बड़े प्यारका है, यह बड़े, छोटे और बराबर सबके लिये आता है। भुशुण्डिजीने तात सम्बोधन करके शिष्यके प्रति आदर और प्रीति दिखलायी। प्रश्न हुआ था, 'जौ कृपाल मोहि ऊपर भाऊ' ऐसा कहकर। अतः 'तात' शब्दद्वारा सम्बोधन करके उत्तर दिया जा रहा है।

सादर अति प्रीती—भाव यह कि अति प्रीतिसे सुननेसे ही गभीर विषयके निरूपणका धारण हो सकता है, यथा—'सुनहु तात मन मति चित लाई ॥' और आदरके साथ सुननेसे ही सिद्धिकी प्राप्ति होती है, यथा—'सादर सुनहिं ते तरहिं भवसिन्धु बिना जलजान।' अपनी कथा कहते समय भी भुशुण्डिजीने कहा था कि 'तात सुनहु सादर मन लाई' जहाँ कार्यप्रणाली कही जाती है, वहाँ सादर सुननेके लिये अनुरोध किया जाता है। सादर सुननेका मतलब उसी शिक्षाको कार्यमें परिणत करनेका है। यथा—'तात बचन मम सुनु अति आदर।' और जहाँ केवल समझानेके लिये विषयनिरूपण किया जाता है, वहाँ सावधान होकर सुननेको कहते हैं। यथा—'सुनहु सो सावधान हरिजाना।'

यह नीती–भाव यह कि तुम्हारे ये प्रश्न कार्यप्रणाली जाननेके लिये हैं, अतः इनके उत्तरको नीति कहा। महात्मा लोग नीतिसे कभी विचलित नहीं होते, यथा—'संयम नियम नीति नहिं डोलहिं।' अतः कार्यसिद्धिके लिये नीति स्थिर करनेमें ही पण्डिताई है, इसलिये राम-भक्तिके हृदयमें छा लेनेकी नीतिकी ओर इङ्गित करते हैं।

मैं संछेप कहौं–भाव यह कि यह विस्तारमें कहने योग्य विषय है, सो मैं तुम्हारे कथनानुसार संक्षेपमें कहता हूँ। इसे आदर और प्रीतिके साथ सुननेसे ही यथावत् धारण कर सकोगे।

नरतन सम नहि कवनिउँ देही।
जीव चराचर जाचत जेही॥

अर्थ–नरदेहके समान कोई देह नहीं है, जिसे जीव-चराचर माँगा करते हैं।

कवनिउँ देही–भाव यह कि चार खानिके जीव होते हैं–(१) उद्भिज्ज, (२) ऊष्मज, (३) अण्डज और (४) पिण्डज। इन्हींके अवान्तर भेद चौरासी लाख योनियाँ हैं। मायाकी प्रेरणासे, काल, कर्म, गुण और स्वभावसे घिरा हुआ जीव इन्हीं योनियोंमें मर-मरकर जन्मा करता है। यही इसका नाच है, यथा—

> आकर चारि लाख चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
> फिरत सदा मायाकर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥

परन्तु ये सब देह कर्मभोगके लिये हैं, मनुष्यदेह धारण करके जीवने जो-जो कर्म किये हैं, उन्हींको इन योनियोंमें जन्म ले-लेकर भोगता है। फिर भी वे कभी समाप्त नहीं होते, सञ्चितका पहाड़ लगा हुआ है।

नरतन सम–भाव यह कि सञ्चित कर्मोंका पहाड़ भोगनेके लिये मौजूद ही है, फिर भी करुणाकर कभी मनुष्यशरीर दे ही देते हैं। यह

निष्कारण स्नेह करनेवाले भगवान्‌की महान् अनुकम्पा है। नरशरीरके किये हुए कर्मोंसे तो अन्य शरीर मिलते हैं, उन भोगशरीरोंसे कोई कर्म ऐसा नहीं हो सकता जिससे मनुष्यशरीर मिले। अतः इसका मिलना ईश्वरकी कृपापर निर्भर है। सो सब शरीरोंसे नरशरीर दुर्लभ है। यही शरीर साधन-धाम है, यथा—

जेहि पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को।
(विनय०)

जीव चराचर—भाव यह कि जीवके दो भेद हैं, स्थावर और जङ्गम। जो शरीर चल-फिर नहीं सकता, उसे स्थावर कहते हैं, जैसे वृक्ष-पर्वतादि, और जो चल-फिर सकता है वह जङ्गम कहलाता है, जैसे पक्षी, पशु आदि।

जाचत जेही—भाव यह कि नरतनको स्थावर-जङ्गम सभी जीव चाहते हैं। सो चाहना जङ्गममें तो बनता है, स्थावरमें नहीं बनता। पर शास्त्र कहता है कि स्थावर भी अन्तःसंज्ञ होते हैं, भीतरसे उन्हें ज्ञान रहता है, पर वाणीकी कृपा नहीं होनेसे प्रकाशित नहीं कर सकते, यथा—

सीताकर बिलाप सुनि भारी। भये चराचर जीव दुखारी॥

नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ज्ञान बिराग भगति सुभ देनी॥ ४८॥

अर्थ—(नरदेही) ज्ञान, विराग और शुभ भक्तिको देनेवाली नरक, स्वर्ग और मोक्षकी सीढ़ी है।

नरक—लोकोत्तर पाप भोगनेके लिये जो लोक हैं, उन्हें नरक कहते हैं। सबसे विशेष अधोगति छठोंकी होती है। उनके लिये सबसे नीचे अवीचि नामका नरक है। उसके ऊपर क्रमसे महाकाल, अम्बरीष, रौरव,

महारौरव, कालसूत्र और अन्धतामिस्र नामक नरक हैं। ये महा नरक हैं। इनके अतिरिक्त अनेक उपनरक भी हैं।

स्वर्ग—लोकोत्तर पुण्य भोगनेके लिये जो लोक हैं उन्हें स्वर्ग कहते हैं। नरकोंके ऊपर सात पाताल हैं, आठवीं पृथ्वी है। इसके ऊपर ध्रुव-तक ग्रह-नक्षत्रोंसे युक्त अन्तरिक्षलोक है। इसके ऊपर स्वर्ग है। इसके पाँच भेद हैं-(१) माहेन्द्रलोक, (२) प्राजापत्य जिसे महर्लोक कहते हैं, (३) जन, (४) तप और (५) सत्य। पिछले तीन ब्रह्मलोकके अन्तर्गत हैं। यहाँतक सम्प्रज्ञातसमाधिवालोंकी गति है।

अपवर्ग—भाव यह कि असम्प्रज्ञातसमाधिवाले अर्थात् विदेहलय और प्रकृतिलय मोक्षपदमें स्थित हैं। अपवर्गका अर्थ है मोक्ष। मुख्य मोक्षसे अभिप्राय सायुज्यसे है।

निसेनी—भाव यह कि नरदेह नरक, स्वर्ग और मोक्षकी सीढ़ी है। जिस भाँति सीढ़ी लगाकर लोग ऊँचे चढ़ जाते हैं और नीचे भी उतर जाते हैं, उसी भाँति नरदेहसे चाहे नरकमें उतर जाय, चाहे स्वर्ग-पर चढ़ जाय और चाहे मोक्षको प्राप्त हो इसके लिये प्रारब्ध नहीं है, प्रारब्ध सांसारिक सुख-दुःखोंके लिये है। सीढ़ी पाकर भी यदि कोई इच्छापूर्वक नरकमें उतरना चाहे तो शास्त्र और गुरु उसको मना तो करते हैं पर उसके साथ बलात्कार नहीं कर सकते।

ज्ञान विराग भगति सुभ—भाव यह कि कर्मकाण्डसे ही वैराग्यो-दय होता है, यथा—'धर्म ते बिरति (योग ते ज्ञाना)'वैराग्यमें अभय सुख है, इसीसे वैराग्यको ढाल कहा है—ज्ञानसे आत्मसुख मिलता है। यथा—आतम अनुभव सुख सुप्रकाशा। और भक्तिसे परमात्मसुख प्राप्त होता है।

देनी—भाव यह कि जीतेजी वैराग्य, ज्ञान और शुभ भक्तिको देने-वाली और पीछेके लिये नरक, स्वर्ग और मोक्षकी सीढ़ी है।

सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर।
होंहिं बिषयरत मंद मंदतर॥

अर्थ–उस शरीरको धारण करके जो मनुष्य विषयरत होकर मन्द होते जाते हैं, हरिको नहीं भजते।

सो तनु धरि–भाव यह कि ईश्वरकृपा, गुरुकृपा, शास्त्रकृपा और आत्मकृपापर ही सब कल्याणोंका होना निर्भर है। इनमें ईश्वर-कृपा तो तभी हो चुकी जब नरदेह मिली, शेष दो कृपाएँ भी आत्म-कृपापर ही निर्भर हैं। सो यदि अपनेपर ही कोई कृपा न करना चाहे तो बात दूसरी है, नहीं तो नरदेहसे कौन-सा साधन नहीं हो सकता?

जे नर हरि न भजहिं–भाव यह कि जब सीढ़ी हाथ लगी तो उसे सब दुःखोंके हरण करनेवाले भगवान् हरिकी ओर लगानी चाहिये। यही चतुराई है, यही पण्डिताई है, यही पुरुषार्थ है। जिस अभागे मति-मन्दने उधर सीढ़ी न लगायी अर्थात् हरिको न भजा, उसकी मूर्खताका अन्त क्या है?

होंहिं विषयरत–भाव यह कि विषयसुखकी ओर सीढ़ी लगा दी, वह प्रति पर्व (डंडा) नीचे उतरता ही चला जायगा, यथा—'सेवत बिषय बिबर्ध जिमि नित नित नूतन मार'। विषयकी ओर जाने-वालेको कभी सुख नहीं मिलता, कभी-कभी सुखाभास मिलता है, उसीको सुख समझकर वह उसीकी ओर अग्रसर होता चला जाता है।

मंद मंदतर–भाव यह कि वह तो सुखप्राप्तिकी उत्कण्ठासे सुखाभासके पीछे महान् कष्ट झेलता हुआ, और भी घोर विपत्तिमें उलझता हुआ चला जाता है। विषयसेवनसे उसकी बुद्धि और भी दिन-दिन मलीन होती चली जाती है, उसका लौटना असम्भव होता चला जाता है। अन्तमें उतरते-उतरते वह कहाँतक जायगा इसका

ठिकाना नहीं, बहुत सम्भव है कि वह रौरव-महारौरव पार करता हुआ अवीचितक पहुँच जाय।

काँचु किरिच बदले ते लेहीं।
करते डारि परसमनि देहीं ॥४६॥

अर्थ—वे हाथसे स्पर्शमणि (पारस) फेंककर, उसके बदलेमें काँचका टुकड़ा लेते हैं।

परसमनि—भाव यह कि स्पर्शमणिके सम्पर्कसे लोहा सोना होता है, यथा—'पारस परस कुधातु सोहाए' सो रामभजन पारस है, इसके स्पर्शसे खल भी तर जाते हैं। लोहा बिना पारसके सोना हो नहीं सकता। इसी भाँति खल बिना भजनके तर नहीं सकता। अतः न पारसका मूल्य है न भजनका मूल्य है दोनों अमूल्य हैं, यथा—

महाराज रामादरयो धन्य सोई।
गरुअ,गुनरासि,सरबज्ञ, सुकृती, सूर, सील-निधि, साधु तेहि सम न कोई॥
उपल-केवट-कीस-भालु-निसिचर-सबरि-गीध सम-दम-दया-दान-हीने।
नाम लिये राम किये परम पावन सकल, नर तरत तिनके गुनगान कीने॥
व्याध अपराधकी साध राखी कहा, पिंगलै कौन मति भगति भेई।
कौन धौं सोमजाजी अजामिल अधम, कौन गजराज धौं बाजपेई॥
पांडु-सुत, गोपिका, बिदुर, कुबरी, सबरि सुद्ध किये सुद्धता लेस कैसो।
प्रेम लखि कृष्ण किये आपने तिनहुँको, सुजस संसार हरिहरको जैसो॥
कोल, खस, भील, जवनादि खल राम कहि, नीच ह्वै ऊँच पद केहि न पायो।
दीन-दुख-दवन श्रीरवन करुना-भवन, पतित-पावन बिरद बेद गायो॥

(विनय०)

करते डारि देहीं—भाव यह कि जिन्हें पारसका प्रभाव कुछ नहीं मालूम है जो उसका कुछ मूल्य ही नहीं समझते, वे कोई भी वस्तु बदलेमें मिलनेकी आशासे उसे पहले ही फेंक देते हैं। उन्हें यह डर बना रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि देर होनेसे सौदा विगड़ जाय। इस तरह उनके हाथमें आया हुआ पारस व्यर्थ हाथसे निकल जाता है। इसी भाँति भजन अपने हाथकी चीज है, इसके लिये कहीं बाहर दौड़-धूप नहीं करनी है। भजनके लिये केवल अन्तर्मुख होनेकी आवश्यकता है, इसीलिये 'हाथमें' कहा।

काँचु किरिच—भाव यह कि एक तो काँच स्वयं अल्प मूल्यवाला पदार्थ है, उसके टुकड़ेका तो कुछ भी मूल्य नहीं है। बड़ी सावधानीसे उठाकर उसे घरके बाहर फेंका जाता है कि कहीं गड़ जायगा तो महीनों दुःख भोगना पड़ेगा। गँवारोंके लिये उसमें मणि-सी चमकमात्र होती है। इसी भाँति विषयमें सुखके सदृश सुखाभासमात्र होता है, सुख उसमें है ही नहीं, और यदि वह गड़ गया तो महान् दुःखका कारण होता है।

ते लेहीं—भाव यह कि ऐसे लेनेवाले महामूर्ख वे ही हैं, जिन्होंने हरिभजनके बदले विषयका भजन किया। और वे भी वैसे ही मूर्ख हैं जो सांसारिक काम आ पड़नेपर माला फेंककर दौड़ते हैं। लोकमें ऐसे मूर्खकी हँसी होती है, यथा—

ताहि कबहुँ भल कहै कि कोई। गुंजा गहै परसमनि खोई॥

पर ऐसे हँसनेवाले यह नहीं जानते कि भजन छोड़ विषयमें लगकर हम भी वैसी ही मूर्खता कर रहे हैं।

नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।
संत मिलन सम सुख कछु नाहीं॥

अर्थ-संसारमें न तो दरिद्रके समान दुःख है, न संतके मिलने-सा कोई सुख है।

दरिद्र सम दुख-भाव यह कि प्रतिकूल वेदनीयको दुःख कहते हैं। संसारमें छोटी-सी-छोटी सुविधाके लिये कीमत है। खानेके लिये, पीनेके लिये, पहननेके लिये, सोनेके लिये, सुखके लिये, अध्ययनके लिये, प्रतिष्ठाके लिये, रक्षाके लिये, सभी कामके लिये कीमत (मूल्य) चाहिये। दरिद्रको अर्थाभाव है, अतः जीवनधारणानुकूल व्यापार चलानेके लिये उसे साधन नहीं है। अतः उससे बढ़कर दुखी कोई नहीं है। परन्तु ऐसे दरिद्र भी परम सुखी देखे गये हैं, ब्रह्मपद और शिवपद लेनेवाले ऐसे ही दरिद्र रहे हैं, यथा—

तुम सम अधन भिखारि अगेहा। होत बिरंचि सिवहिं संदेहा॥

दरिद्रमें और उनमें भेद इतना ही है कि दरिद्र विषयरत हैं और वे विषय-विमुख विरागरत हैं, मोहके हाथके बाहर हैं। अतः वास्तवमें तो दरिद्र मोह है, यथा—'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा' मोहयुक्त धनी भी कौड़ी-कौड़ीके लिये तड़फड़ाते देखे गये हैं और वैराग्यवान् तो धनधान्यसे भरे घरको सदासे लात मारते आये हैं, यथा—

रमाविलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

जग माहीं-भाव यह कि जगका विस्तार बहुत बड़ा है, अवीचि नरकसे लेकर ब्रह्मलोकतक सब जगत् (परिवर्तनशील) ही है। सो इसमें जहाँ जिस परिमाणमें मोह है वहाँ उस परिमाणमें दुःख है। यह दूसरे प्रश्नका उत्तर हुआ।

संत मिलन सम-भाव यह कि संसार सुखके लिये पागल है, पर संसारमें पूर्ण कुछ भी नहीं, सब कुछ आपेक्षिक है, परिच्छिन्न है, सो यहाँ सुख भी परिच्छिन्न है। परिच्छिन्नसे तृप्ति नहीं होती। अतः जाने या बिना जाने संसार अपरिच्छिन्न सुखको ढूँढ़ रहा है। सुखसागर

राम ही सबके हृदयाराम हैं। वे ही सबके अभीष्टतम हैं। संतोंका मिलना रामके मिलनेका नियतपूर्वरूप है, यथा—

जौ रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम मोहि दरस हठि दीन्हा॥

परिच्छिन्न सुख तो संतोंके मिलनेका अवान्तर फल है। बिना संतके मिले कोई कल्याण हो नहीं सकता, यथा—

मति कीरति गति भूति भलाई। जो जेहि जतन जहाँ जब पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥

संत भगवान्के प्रिय हैं, अतः भगवान्के समान हैं। अतः उनका मिलना हृदयाराम रामके मिलनेके समान है, यथा—

कंचनको मृतिका करि मानत। कामिनि काष्ठ सिला पहिचानत॥
तुलसी भूलि गयो रस एहा। ते जन प्रगट रामकी देहा॥
(वै० सं०)

सुख कछु नाहीं—अल्पमें सुख नहीं, जो भूमा है उसीमें सुख है। संसारके परिच्छिन्न सुखोंमें कोई ऐसा नहीं है जो संतसमागमके सुखके समान* हो, क्योंकि यह सुख भूमा है। संतके समागमके† सुखमें मनुष्य संसार भूल जाता है, और वही सुख भगवत्-प्राप्तिका कारण होकर नित्य हो जाता है। इसीलिये कहा कि 'संत मिलन सम सुख कछु नाहीं'। संतमिलन नरशरीरमें ही ठीक तौरसे होता है। अतएव नरशरीर ही ऐसा है जिसमें अति उच्च कोटिके दुःख और सुखका

---

* मुख देखत पातक हरैं, परसत कर्म बिलाहिं।
बचन सुनत मन मोहगत, पूरब भाग मिलाहिं॥ (वै० सं०)

† अनुभव सुख उत्पति करत, भव भ्रम धरै उठाइ।
ऐसी बानी संतकी, जो उर भेदै आइ॥ (वै० सं०)

अनुभव हो सकता है । अब ऐसे सुख देनेवाले संतोंका मर्म क्या है ? अतः कहते हैं—

पर उपकार बचन मन काया ।

संत सहज सुभाउ खगराया ॥ ५० ॥

अर्थ-हे खगराया ! मनसा वाचा कर्मणा परोपकार करना, संतोंका सहज (पैदाइशी) स्वभाव है ।

खगराया-भाव यह कि आप पक्षियोंके राजा हैं, उड़नेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, सो उड़नेका गुण आपमें सहज है, किसीसे सीखना न पड़ा । इसी भाँति किसीमें कोई गुण स्वाभाविक (पैदाइशी) होता है । सीखा हुआ गुण सहज गुण (स्वभाव) का सामना नहीं कर सकता ।

पर उपकार-भाव यह कि जो अपना उपकार न कर सका, वह पराया उपकार नहीं कर सकता । सब किसीमें परोपकार करनेकी पात्रता नहीं हो सकती । जिन्हें अपना कोई स्वार्थ नहीं है, जो पूर्णकाम हैं, वे ही परोपकार कर सकते हैं । परोपकार ही सब धर्मोंसे बड़ा है ।

वचन मन काया-भाव यह कि मन, वाणी और कर्मका एक रंग होना संतका लक्षण है । मन, वाणी और कर्ममें भेद पड़ना कुटिलता है, यथा—

सरल बरन भाषा सरल सरल अर्थमय बानि ।
तुलसी सरलै संतजन ताहि परी पहिचानि ॥
तनकरि मनकरि वचनकरि काहू दूषत नाहिं ।
तुलसी ऐसे संतजन रामरूप जगमाहिं ॥
(वै० सं०)

संत सहज सुभाउ–भाव यह कि संत पैदा होते हैं, संत बनाये नहीं जाते। जो गर्भज्ञानी हैं, जो पूर्णकाम* हैं, किसी प्रारब्धके शेष रहनेके कारण जिनका जन्म हुआ है, वे ही मनसा वाचा कर्मणा परोपकार करनेकी योग्यता रखते हैं और वे ही संत हैं, उन्हींके लिये भगवान्‌को अवतार धारण करना पड़ता है, यथा—

तुम सारिखे संत प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे॥

जो पहले द्रोही रह चुके हैं, और पीछेसे सत्सङ्गद्वारा जिनकी बुद्धि सुधर गयी और परोपकाररत हुए, वे 'संत समान' हैं, संत नहीं हैं, यथा—

जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना॥

वे संतजन अनायास उपकार ही नहीं करते, बल्कि उसके लिये कष्ट भी उठाते हैं, यथा—

संत सहहिं दुख पर हित लागी।
पर दुख हेतु असंत अभागी॥

अर्थ–संत पराये हितके लिये दुःख सहते हैं, और अभागे असंत पराये दुःखके लिये दुःख सहते हैं।

संत सहहिं दुख–भाव यह कि जो इस जगत्‌में आया है, उसे दुःख भोगना ही पड़ता है, प्रारब्ध किसीके हटाये नहीं हटता, यथा—

---

* जाके मनते उठि गई तिल-तिल तृष्णा चाहि।
मनसा वाचा कर्मना तुलसी बंदत ताहि॥ (वै० सं०)

कह मुनीस हिमवंत सुनु जो विधि लिखा लिलार ।
देव दनुज मुनि नाग नर कोउ न मेटनहार ॥
दुख-सुख जो लिखा लिलार हमरे जाव जहँ पाउब तहीं ।

अतः दुःख संतको भी भोगना पड़ता है और असंतको भी भोगना पड़ता है ।

पर हित लागी–भाव यह कि संत और असंतके हृदयमें भेद है । संतका हृदय इतना कोमल होता है कि वह पराया दुःख देख नहीं सकता, अतः दुःख उठाकर वह उसका प्रतिकार करता है, यथा—

संत हृदय नवनीत समाना । कहा कविन पर कहै न जाना ॥
निज परिताप द्रवै नवनीता । पर दुख द्रवैं सुसंत पुनीता ॥

अतः दूसरेके लिये दुःख उठानेमें उनके दुःखका भोग पूरा हो जाता है । उधर दुःखका भोग भी पूरा हुआ और इधर परोपकारसे परम धर्मका उपार्जन भी चलता रहा ।

असंत अभागी–भाव यह कि असंत अभागी इसलिये है कि इनके भाग्यमें सुख हई नहीं है । जबतक जीते रहे तबतक ईर्षामें जलते रहे, क्योंकि वे किसीका हित देख नहीं सकते, और हित किसी-न-किसीका होता ही रहेगा, यथा—

उदासीन अरि मीत हित सुनत जरैं खल रीति ।
'परहित घृत जिनके मन माखी ॥' 'पर अकाज भट सहसबाहुते ॥'

और जब मरे तो परपीड़कको नरक छोड़कर और स्थान ही कहाँ है ? अतः इनके भाग्यमें सुख ही नहीं । इसलिये 'अभागी' कहा ।

पर दुख हेतु–भाव यह कि असंतों (खलों) का हृदय इतना कठोर होता है कि उन्हें दूसरेके दुःखमें आनन्दानुभव होता है, अतः वे परायेको दुःख देनेमें दुःख उठाते हैं । इस भाँति उनके दुःखसुखका भोग

हो जाता है, और परलोकके लिये दुःखभार भी खूब लद जाता है। अपने स्वार्थकी ओर देखनेवाले संत-असंत दोनों नहीं होते, और अपने-अपने कर्तव्यपालनमें दोनों ऐसे दृढ़ होते हैं कि लोकमें उसकी उपमा नहीं है, यथा—

खल अघ उदधि साधु गुनगाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥

अपने-अपने कर्तव्यपथपर आरूढ़ होनेपर दोनों ही साधारण कष्ट नहीं उठाते; अतः कहते हैं—

भूर्जतरू सम संत कृपाला।
पर हित नित सह बिपति बिसाला॥५१॥

अर्थ—कृपाल संत भोजवृक्षके समान हैं। पराये हितके लिये नित्य विशाल विपत्तियाँ भोगा करते हैं।

संत कृपाला—कोमल चित्त होनेसे कृपाल कहा। संत लोग ऐसे कृपालु होते हैं कि इनका शत्रु-मित्र कोई भी नहीं, सबपर इनकी समान दया रहती है, यथा—

बंदौं संत समान चित हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ॥

कृपाल कहकर संतोंमें स्वाभाविक परम धर्म दिखलाया, यथा—'धर्म कि दया सरिस हरिजाना॥'

भूर्जतरू सम—भाव यह कि—

संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्हि कै करनी॥

यहाँ चार अचेतन पदार्थोंके साथ संतोंका उल्लेख यह बात दिखलानेके लिये है कि परहितका कार्य करनेके लिये इनका भी व्यवहार

अचेतनवत् ही है, ये सुख-दुःखको नहीं गिनते। विटपमें फल दूसरोंके लिये लगते हैं, वृक्ष स्वयं एक फल भी नहीं खाता, नदी अमृत-सा जल लेकर दूसरोंके लिये बहती है, स्वयं एक घूँट भी नहीं पीती, पर्वतकी जो सम्पत्ति है, सो भी दूसरोंके लिये है, पर्वतको उसका उपभोग कुछ भी नहीं है। भुशुण्डिजी कहते हैं कि इन सबोंमें भी भोजवृक्ष दानवीर है, उसकी छाल लोगोंके काम आती है। उसीपर पुस्तकें लिखी जाती हैं, यन्त्र लिखे जाते हैं, पुड़िया बाँधनेके काम आती है। इसकी समता संतोंसे दी जा सकती है।

पर हित नित सह—भाव यह कि संत लोग पराये हितके लिये नित्य विपत्ति सहा करते हैं, कभी दुःखसे ऊबते नहीं। उनका शरीर सर्व-साधारणकी सम्पत्ति हो जाती है।

विपति बिसाला—भाव यह कि जिस भाँति मनुष्योंके शरीरमें चमड़ी (खाल) है, उसी भाँति वृक्षशरीरमें छाल है। सो खाल कढ़ाना सब विपत्तियोंसे भारी है, जिसे भोजवृक्ष नित्य सहा करते हैं। इसी भाँति संत लोग भी भारी-से-भारी विपत्ति परहितके लिये नित्य सहते हैं।

सन इव खल परबंधन करई।
खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई॥

अर्थ—सनकी भाँति खल दूसरोंको बाँधता है, और अपनी खाल कढ़ाकर विपत्ति सहकर मर जाता है।

सन इव खल—भाव यह कि खल भी पराये अपकारके लिये जड़ीभूत रहते हैं, अपने सुख-दुःखका ध्यान उन्हें भी नहीं रहता, उन्हें भी शत्रु-मित्रका विभेद नहीं रहता, यथा—

उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।

शत्रु, मित्र उदासीनका हित सुनते ही खल जल उठते हैं। उनकी उपमा सनके साथ दी गयी है।

परबंधन करई–भाव यह कि सनकी रस्सी बटी जाती है, और उसीसे जीवगण बाँधे जाते हैं और सन किसी काममें नहीं आता। पटुए-की भी रस्सी बनती है पर वह कमजोर होती है, और पटुआ अन्य काममें भी आता है अतः पटुएसे कुछ उपकार भी है, इसलिये पटुआ न कहकर सन कहा। जितने दुःख हैं, उन सबका मूल परबन्धन (परवशता) है, यदि परबन्धन न हो तो कोई दुःख ही नहीं हो सकता। इसलिये और कोई दुःख देना न लिखकर परबन्धन लिखा।

खाल कढ़ाइ बिपति सहि–भाव यह कि सन पानीमें डुबोया जाता है, जब सड़ जाता है, तब निकालकर उसकी छाल अलग करते हैं, और तब कूटकर और बटकर रस्सी बनाते हैं। इसी भाँति खलको कोई जलमें डुबोये, खाल खींचे, मारे और उसकी खाल खींचकर प्राण ले, पर उस खालसे भी यदि किसीको दुःख पहुँच सके तो उसे इस दुर्गतिके साथ मरना भी स्वीकार होता है।

मरई–भाव यह कि परायेके सुख-दुःखके लिये कष्ट सहनेमें संत और असंतमें समानता है। पर खल दूसरेको दुःख देनेमें ही मर जाते हैं और संत परोपकारमें मरते नहीं, उनकी रक्षा परमेश्वरकी ओरसे हो जाती है, परोपकारमें मृत्यु उन्हें भी दुर्लभ है, यथा—

परहित लागि तजैं जे देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥

मरे सकल मरिहैं मरहिं आज कालके बीच।
तुलसी काहू नहिं लही गीधराजकी मीच॥

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी।
अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥५२॥

अर्थ–हे उरगारि ! सुनो, सर्प और चूहेके समान खल निःस्वार्थभावसे दूसरेका अपकार करता है।

सुनु उरगारी–भाव यह कि आप उरगों (सर्पों) के शत्रु हैं, आप उनकी खलताको खूब जानते हैं।

खल पर अपकारी–भाव यह कि परायेकी हानि करनेवाले खल हैं। हानि दो प्रकारकी होती है—(१) अर्थहानि और (२) जीवन-हानि। सो खल यथावसर दोनों प्रकारकी हानि करते हैं, यह उनका स्वभाव है। यह बात नहीं है कि वे किसी प्रयोजनसे ऐसा करते हों। उनका भी मित्र, शत्रु और उदासीनके साथ समान व्यवहार है।

बिनु स्वारथ–भाव यह कि संसारमें लोग स्वार्थके लिये परस्पर उपकार-अपकार किया करते हैं, परन्तु खल स्वार्थरहित अपकार करते हैं, क्योंकि उनका स्वभाव हानि पहुँचानेका है। स्वभावके लिये कारण नहीं खोजना पड़ता। निष्कारण उपकार-अपकारका उदाहरण भोजतरु और सनसे दे आये। भोजतरु और सन अचेतन हैं, सचेतन तो किसी स्वार्थके लिये ही उपकार या अपकारमें प्रवृत्त होता है। पर साधु और खलके उपकार-अपकारमें प्रवृत्त होनेका कारण स्वार्थ नहीं है, स्वभाव है।

अहि मूषक इव–विना स्वार्थके उपकार करनेका उदाहरण चेतन जीवोंमें नहीं मिला, इसलिये उसका उदाहरण गोसाईंजी नहीं दे सके। पर विना स्वार्थके अपकार करनेवालोंका उदाहरण है, इसलिये कहते हैं कि 'अहि मूषक इव'। सर्प किसीको काट खाता है, इसमें उसका कोई स्वार्थ नहीं है, पर जिसे काटा उसकी तो जीवनहानि हो जाती है। मूषक दुशाला काट डालता है, इसमें मूषकका कोई स्वार्थ नहीं है। पर दुशालावालेका बहुमूल्य द्रव्य नष्ट हो जाता है। सर्प और मूषक तो हानि करके बच जाते हैं, पर सबकी हानि करनेवाला खल तो बच नहीं सकता, इसलिये कहते हैं कि—

पर संपदा बिनासि नसाहीं ।
जिमि ससि हति हिमि उपल बिलाहीं ॥

अर्थ—(खल) दूसरोंकी सम्पत्तिका नाश करके स्वयं नष्ट हो जाते हैं, जैसे ओला खेतीका नाश करके स्वयं भी गल जाता है ।

पर संपदा—भाव यह कि अपना अर्थ कुछ न भी हो, फिर भी खलोंमें ईर्षा और कपट अधिक होता है, वे परायी सम्पदा देख नहीं सकते, यथा—

पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इर्षा कपट विसेखी ॥

अतः चाहे मरें चाहे जीयें, पर उसका नाश बिना किये चैन नहीं ।

बिनासि नसाहीं—भाव यह कि दूसरेकी सम्पत्ति तो ले ही बैठेंगे, पीछेसे स्वयं भी मर जायँ तो कोई हर्ज नहीं । इतनी चोट उन्हें दूसरेकी सम्पत्ति देखकर होती है । जो दूसरेकी सम्पत्ति नष्ट करता है, वह स्वयं गल जाता है ।

जिमि ससि हति—भाव यह कि घनघमण्डसे आकाश आवृत हो जाता है, तड़पनेसे दिशाएँ नादित हो उठती हैं और चमकसे संसार भयभीत हो जाता है, तब ओले पड़ने लगते हैं, और खेतीका नाश हो जाता है । इसी भाँति परसम्पदा देखनेसे खलोंको बड़ा दर्प होता है, खूब गरजते हैं, तड़पते हैं, चमकते हैं, और परसम्पदाका नाश करते हैं ।

हिमि उपल बिलाहीं—भाव यह कि खेतीका नाश करनेके लिये स्वर्गसे पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं और स्वयं गल जाते हैं । ठीक इसी तौरपर परसम्पदाका नाश करनेवालोंका नाश करनेके समयमें ही अधःपतन होता है, और पीछेसे वे गल-गलकर मर जाते हैं ।

दुष्ट उदय जग अनरथ हेतू।
जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू ॥५३॥

अर्थ—दुष्टका उदय संसारमें अनर्थका कारण है, जैसे ग्रहोंमें अधम केतुका उदय होता है।

दुष्ट उदय–भाव यह कि ऊपर जितनी बातें कही हैं, वे तो साधारण अवस्थाकी बातें हैं। पर जब दुष्टका उदय होता है तो संसारपर बड़ी मुसीबत आ जाती है। जब-जब संसारपर मुसीबत आयी है, तब-तब उसका कारण दुष्टका उदय ही हुआ है। दुष्टकी जब उन्नति होगी, तब वह अपनी प्रभुताका उपयोग संसारभरको दुःख देनेमें करेगा, यथा—

देखत भीमरूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी ॥
करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया ॥
जेहि बिधि होइ धरम निरमूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला ॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाँव पुर आगि लगावहिं ॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। बेद बिप्र गुरु मान न कोई ॥
नहिं हरि भगति जग्य तप दाना। सपनेहुँ सुनिय न बेद पुराना ॥
जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा।
आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा ॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिय नहिं काना।
तेहि बहुबिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना ॥
बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसापर अति प्रीति, तिनके पापहिं कवन मिति ॥

जग अनरथ हेतू–बिना कारण कार्य नहीं होता। अतः जब

संसारके कर्म खोटे आते हैं, संसारको दुःख भोगना रहता है तभी दुष्टका उदय होता है। दुष्टका उदय होते ही संसारमें त्राहि-त्राहि मच जाती है, यथा—

ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसवर्ती नरनारी॥
आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता॥

....

अतिसय देखि धर्मकै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥
गिरि सर सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही॥
सकल धर्म देखै बिपरीता। कहि न सकै रावन भयभीता॥
धेनुरूप धरि हृदय बिचारी। गई तहाँ जहँ सुरमुनि झारी॥
निज संताप सुनाएसि रोई। काहू ते कछु काज न होई॥

अधम ग्रहकेतु—भाव यह कि पीड़ा करनेवालेको ही ग्रह कहते हैं। जो पिण्ड आकाशमें घूमते दिखायी पड़ते हैं, वे सभी ग्रह हैं, वे सभी पीड़ा देनेवाले हैं पर व्यक्तिविशेपको, समयविशेषमें ही पीड़ा देते हैं, और लोगोंके लिये सुखकर भी होते हैं। इनमें केतु विचित्र हैं। सब ग्रह पूर्वमें उदय होते हैं, पर केतु पश्चिममें उदय होते हैं। इनकी संख्या भी बहुत है। आचार्योंने आकाशमण्डलको २७ भागोंमें विभक्त किया है, और प्रत्येक विभागको तत्रस्थित नक्षत्रोंके नामसे अभिहित किया है, यथा—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि। अतः ग्रहोंका उदय किसी-न-किसी नक्षत्रपर ही होता है, और तदनुसार उनका शुभाशुभ फल भी होता है पर केतु चाहे जिस नक्षत्रपर उदय हों, खोटा ही फल देंगे। देशविशेषके पालकपर ही नक्षत्रविशेषमें उदित होकर चोट करते हैं, अतः देश-के-देशपर आफत ढहाते हैं, इसलिये केतुको अधम ग्रह कहा।

जथा प्रसिद्ध—भाव यह कि दुनिया जानती है, इनकी चाल सब ग्रहोंसे निराली है, ये उलटा ही चलते हैं, इसीलिये इनकी उपमा दुष्टोंसे दी गयी है। दुष्टोंकी भी उलटी चाल होती है, यथा—

चलहिं कुपंथ बेदमग छाँड़े । कपटकलेवर कलिमल भाँड़े ॥
बंचक भक्त कहाइ रामके । किंकर कंचन कोह कामके ॥

केतु जिस भाँति व्यक्तियोंको कष्ट दिया ही करते हैं, पर जब उनका उदय होता है, तब देश-का-देश पीड़ामें पड़ जाता है, उसी भाँति दुष्ट भी यों ही दुःख दिया करते हैं, और यदि कहीं इनका उदय हो गया तब तो देश-के-देशको विपत्तिमें डाल देते हैं ।

संत उदय संतत हितकारी ।
बिस्वसुखद जिमि इंदु तमारी ॥

अर्थ–संतका उदय सदा हितकारी होता है, जैसे चन्द्र और सूर्य संसारको सुख देनेवाले हैं ।

संत उदय–भाव यह कि यहाँपर 'उदय' शब्दमें श्लेष है, संत और असंतके पक्षमें इसका अर्थ सुखसमृद्धि है और ग्रहके पक्षमें इसका अर्थ क्षितिजमें प्रकट होना है । इस संसार-चक्रमें सरलता नहीं है, क्षण-क्षणमें गतिमें परिवर्तन होता है, अतः उदय-अस्त, ह्रास-वृद्धि, जन्म-मरण यहाँ लगा ही रहता है । जिस समय उदय नहीं रहता उस समय भी संत लोग प्राण देकर परोपकार किया करते हैं, पर उदय होनेपर तो परोपकारकी मात्रा बहुत ही बढ़ जाती है ।

संतत हितकारी–भाव यह कि संतोंसे ही संसार धृत है, अतः जबतक संसारको बना रहना है, तबतक संतोंका उदय सदा बना ही रहेगा । दुष्टके उदयके समय भी संतका उदय रहता है, और दुष्टोंके अस्तके समय भी संतोंका उदय रहता है । दुष्टका उदय कभी कदाचित् होता है । दुष्टका उदय संसारके लिये रोग है । ज्यादा दिन ठहर जाय तो संसारका नाश हो जाय । इसीलिये प्रबल दुष्टके उदय होनेपर उसके नाशके लिये अवतार होता है, यथा—

दससीस बिनासन बीस भुजा । कृत दूरि महामहि भूरिरुजा ॥

इसीलिये संत-उदयको सन्तत हितकारी कहा।

इंदु तमारी–भाव यह कि जिस भाँति सूर्य और चन्द्रमाके उदय-से विश्वका घना सम्बन्ध है, उसी भाँति संतोंके उदयसे भी सम्बन्ध है। सूर्य और चन्द्रमासे ही संसारको प्रकाश मिलता है, ताप तथा ठंडक मिलती है, सूर्य और चन्द्रमासे ही समयका विभाग होता है, सूर्य और चन्द्रमा-द्वारा ही संसार चल रहा है, यथा—'जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन'

जिमि सुखद–भाव यह कि संत लोगोंसे भी उसी भाँति संसार-को दिव्य प्रकाश मिलता है, संतोंसे ही विधि-निषेधकी प्रवृत्ति मिलती है, संतोंके ही उदयास्तके तारतम्यसे सत्य, त्रेता, द्वापरादि युगोंका विभाग होता है, संतोंद्वारा ही संसार चल रहा है। संसारमें जो कुछ थोड़ा-बहुत सुख मिल जाता है सो संतोंकी ही कृपाका फल है। संतोंके उदयसे ही 'त्रेता भइ सतजुगकी करनी' युगपरिवर्तन हो जाता है। इसीलिये कहा कि सूर्य-चन्द्रकी भाँति संत सुखद हैं। इन्दु तमारी कहकर यह भी दिखलाया कि संतोंकी संख्या दुष्टोंकी अपेक्षा बहुत कम होती है, पर उनके बिना संसारका काम नहीं चलता। दुष्टोंकी संख्या तो बहुत बड़ी है, पर उनका उदय बहुत दिनोंपर संसारके घोर कर्मोंके उदय होनेपर कुछ दिनोंके लिये कभी हो जाता है। साधुओंका ही प्रकाश तीनों लोकोंमें फैला हुआ है, यथा—'जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन'। सूर्य और चन्द्र दोनोंसे उपमा देनेसे तात्पर्य यह है कि सूर्यसे दिनको जगत्का हित होता है, और चन्द्रमासे रातको, पर संतसे जगत्-का दिनरात हित हुआ करता है, अतः एकके साथ उपमित करनेसे काम नहीं चलता। अथवा देखनेमें चन्द्रके समान प्रियदर्शन होते हैं, उनके दर्शनमात्रसे पापताप दूर होता है, पर उनमें ज्ञान-सूर्यका प्रकाश अहर्निश बना रहता है, जिनके वचनरूपी किरणोंसे मोहान्ध-कारका नाश होता है।

परम धरम श्रुति बिदित अहिंसा ।
पर निंदा सम अघ न गिरीसा ॥५४॥

अर्थ–श्रुतिविदित परम धर्म अहिंसा है, और परनिन्दा के समान सुमेरु-सा पाप नहीं है ।

परम धरम–भाव यह कि सात्त्विकी श्रद्धायुक्त दृढ़ विश्वासके साथ तथा निर्मल मनसे वेदोदित शुभ धर्माचरण करनेसे जिस धर्मका उदय साधकके हृदयमें होता है, उसे परम धर्म कहते हैं । इसका सविस्तर वर्णन ज्ञानदीपकप्रकरणमें हो चुका है ।

श्रुति बिदित–भाव यह कि श्रुतिविदित विशाल धर्मके लिये प्रश्न हुआ था, यथा—'कौन धर्म श्रुति बिदित बिशाला' अतः उसीका अनुवाद करते हुए उत्तर देते हैं । धर्मकी जिज्ञासा करनेवालोंके लिये श्रुति ही परम प्रमाण है । सो परम धर्मके जिज्ञासुके लिये परम प्रमाण देना ही उचित है ।

अहिंसा–सर्वथा-सर्वदा प्राणीमात्रसे द्रोह न करनेको अहिंसा कहते हैं । अहिंसा ही सब यम-नियमोंका मूल है । जाति, देश, काल और समयमें भी यदि इसमें व्यभिचार न हो तो यह महाव्रत हो जाता है । जैसे मछवाहेका मछली छोड़कर और कहीं हिंसा न करना जातिकृत व्यभिचार है । तीर्थमें न मारना देशकृत व्यभिचार है । चतुर्दशी आदि पुण्य तिथिको न मारना कालकृत व्यभिचार है । उपर्युक्त तीनों प्रकारसे हिंसा यदि छूट गयी फिर भी देव-ब्राह्मण-अतिरिक्त और किसीके लिये हिंसा न करना समयकृत व्यभिचार है । सब भूमिमें सब विषयोंमें सर्वथा व्यभिचार न होना ही सार्वभौम अहिंसा है । यही महाव्रत है । हिंसा तीन प्रकारकी होती है— (१) कृता, (२) कारिता और (३) अनुमोदिता । स्वयं करना कृता, दूसरेसे करवाना कारिता और करते हुएका अनुमोदन करना अनुमोदिता हिंसा कहलाती है । इनमेंसे एक-एकके

तीन-तीन भेद हैं। ~~इनमेंसे एक-एकके तीन-तीन भेद हैं।~~ चर्म-मांसके लोभसे की हुई लोभपूर्वक, अपकारीके साथ की हुई क्रोधपूर्वक, धर्मदृष्टिसे की हुई मोहपूर्वक हिंसा है। इनमेंसे भी एक-एकके मृदु, मध्य, तीव्र-भेदसे तीन-तीन भेद हैं। इस प्रकार हिंसाके सत्ताईस भेद हुए। ये स्थूल भेद हैं। सूक्ष्म भेदकी संख्या नहीं है। यह पाँचवें प्रश्नका उत्तर है।

पर निंदा सम-भाव यह कि सच्चे दोषकथनको परिवाद, और झूठे दोषकथनको निन्दा कहते हैं। पराये दोषका कहना ही बड़ा भारी पाप है, ऐसे पापीको ही चुगलखोर कहते हैं, यथा—'पिशुन पराय पाप कहि देहीं' झूठ बोलना सब पापोंसे बड़ा माना गया है। अवीचि नामका सबसे नीचेका नरक झूठोंके ही लिये है। अतः निन्दामें दोनों ही आ गये। निन्दा करनेसे किसीकी कीर्तिमयी देहका भेदन होगा, यदि वह सम्भावित हुआ तो उससे उसको कोटि मरणके तुल्य दारुण दाह होगा, अतः तीव्र हिंसा भी हुई। परनिन्दाके जोड़का दूसरा पाप नहीं, इसीलिये कहते हैं—

अघ न गिरीसा-भाव यह कि असत्य पर्वतकी भाँति भारी पाप है, दूसरे पाप इसके सामने घुँघुँचीके तुल्य हैं। यथा—'नहिं असत्य सम पातकपुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥' वही असत्य जब पर-दोषकथनसे प्रगुणीकृत हुआ तो वह पर्वतराज (सुमेरु) के तुल्य हो गया। अतः परनिन्दा पापोंमें सुमेरु है, कोई महापाप अतिपाप इसके तुल्य नहीं है। यह छठे प्रश्नका उत्तर है।

हरि गुर निंदक दादुर होई।
जन्म सहस्र पाव तनु सोई॥

अर्थ-हरि और गुरुकी निन्दा करनेवाला मेढक होता है और सहस्र जन्मतक वही शरीर पाता चला जाता है।

हरि गुर निंदक-यहाँपर गुरु शब्दसे 'हर' का भी ग्रहण है,

क्योंकि हरिहरनिन्दाका समान पाप कहा गया है। हरि और हर सर्व-देवमय हैं, अतः इनकी निन्दा सुननेका पाप गोघातके समान कहा गया है। गौके शरीरमें सब देवोंका निवास है, इसीलिये गोघातके समान कहा, यथा—

हरि हर निंदा सुनै जो काना। होय पाप गोघात समाना॥

शङ्कर ही त्रिभुवनके गुरु हैं, यथा—

तुम त्रिभुवन गुरु बेद बखाना। आन जीव पामर का जाना॥

जीव जीवका गुरु नहीं हो सकता। शङ्कर ही किसी संतकी जिह्वापर अवस्थान करके दूसरेको उपदेश करते हैं, अतः यथार्थ गुरु वे ही हैं। उस शरीरमें अवस्थान करके शङ्करने कल्याण किया था, इसलिये उस शरीरका अत्यन्त आदर है। सो गुरु शब्दसे शङ्कर और गुरु दोनों-का ग्रहण हुआ। फलतः 'हरि गुरु' कथनसे श्रीपति, शम्भु और संत तीनोंका ग्रहण हुआ, यथा—

संत संभु श्रीपति अपवादा। सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि न त चलिअ पराई॥

संत, शम्भु और श्रीपतिकी कीर्तिका गान करना चाहिये, सो जिसने इसके विपरीताचरण किया, उनके मिथ्या दोषका गान आरम्भ किया, उसके लिये कहते हैं कि—

दादुर होई—भाव यह कि मनुष्यशरीर पाकर उसने कोई मनुष्योचित कार्य नहीं किया, उसकी निन्दासे हरि, हर तथा संतकी तो कोई क्षति नहीं हुई, पर वह व्यर्थका टर्र-टर्र करता रह गया, इसलिये दूसरे जन्ममें मनुष्ययोनि छीन ली गयी और व्यर्थकी टर्र-टर्र करनेवाली मेंढकयोनि उसे मिली।

जन्म सहस्र पाव—यहाँ 'सहस्र' शब्द अनन्तताका द्योतक है। उसने अनन्तकी निन्दा की है, यथा 'जानेसि संत अनंत समाना'। अतः उसे अनन्त कालतक मनुष्ययोनिकी प्राप्ति नहीं होगी। मनुष्य-

योनिसे ही भगवच्चरितगान हो सकता है, यही इस योनिकी विशेषता है, इस विशेषताका इतना बड़ा दुरुपयोग करनेका यह फल है कि सहस्रों जन्मके लिये मनुष्ययोनिसे वह वञ्चित कर दिया गया ।

पाव तनु सोई—भाव यह कि वही मेंढकका शरीर पाता जायगा। मेंढकमें यह विशेषता है कि उसे वही शरीर पुनः-पुनः मिलता रहता है। गरमीके दिनमें ये सूखकर मिट्टीमें मिले रहते हैं, जहाँ वर्षाका पहला जल गिरा कि ये उसी सूखी देहसे फिर पैदा हो जाते हैं । कहा करते हैं कि बाजीगर लोग मेंढकोंको सुखाकर उनकी देहका चूर्ण बनाकर रक्खे रहते हैं, और बरसातका जल भी सुरक्षित रखते हैं । तमाशा दिखानेके समय उस जलमें जहाँ चूर्ण छोड़ा कि मेंढक पैदा होकर टर्राने लगता है। इसीलिये 'पाव तनु सोई' कहा ।

द्विजनिंदक बहु नरक भोग करि ।
जग जनमै बायस सरीर धरि ॥ ५५ ॥

अर्थ—ब्राह्मणकी निन्दा करनेवाले बहुत नरक भोग करके संसारमें कौवेका शरीर धारण करके जन्म लेते हैं ।

द्विजनिंदक—भाव यह कि पूर्व जन्मके कर्मोंके विपाकसे जाति, आयु और भोग प्राप्त होता है । शुभाशुभ कर्मोंके उत्कर्ष और अपकर्षके तारतम्यानुसार जाति, आयु और भोगमें तारतम्य होता है । अपने उत्कर्षके लिये प्रयत्न न करके, द्विजशरीर प्राप्त करनेकी चेष्टा न करके, जो ईर्ष्यावश द्विजकी निन्दा किया करते हैं, वे द्विजनिन्दक हैं । कर्ममार्ग-के दो साधन हैं—ब्राह्मण और गौ। ब्राह्मणमें मन्त्र और गौमें गव्य निहित है । भैंस-बकरीमें भी दूध होता है, क्षत्रिय-वैश्यमें भी मन्त्र है, पर वे यज्ञ-यागादिके कामके नहीं हैं । अतः गौ-ब्राह्मणकी निन्दा प्रकारान्तरसे वेदमार्गकी ही निन्दा हुई ।

बहु नरक भोग करि—ऐसे द्विजनिन्दकोंको बहुत प्रकारके

नरक भोगने पड़ते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने पूज्योंकी निन्दा की। उनकी कीर्तिमयी देहका नाश चाहा। उनके पुण्योपार्जित उत्कर्षको न सहकर गालके वलसे उनके अपकर्षकी चर्चा फैलाकर लोगोंको भी वेदमार्गसे परिभ्रष्ट करना चाहा। मदसे प्रेरित होकर कर्ममार्गके उच्छेदमें दत्तचित्त हुए। अतः उन्होंने नरकके चारों रास्ते—काम, क्रोध, मद और लोभको अपना लिया, यथा—'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरकके पंथ।' अतः उनको बहु नरक भोग मिलना न्यायोचित है।

जग जनमै–भाव यह कि नरक भोगनेके लिये यातनाशरीर मिलता है, जो लोकोत्तर पीड़ासहनके समय टिक सके, यथा—'जानत हौं विधिने दयो यह जातना-सरीर'। नरकभोग समाप्त होनेपर वह यातनाशरीर नष्ट हो जाता है, और उसी नरकभोगके संस्कारानुकूल उसे संसारमें जन्म लेना पड़ता है। जिस भाँति पात्रमेंसे घी निकाल लेने-पर भी उस पात्रमें घीका संस्कार रहता है, उसी भाँति पुण्यपाप-का भोग समाप्त होनेपर भी उनका संस्कार रह जाता है। उसी संस्कारो-चित योनिमें फिर जन्म होता है।

वायस सरीर धरि–भाव यह कि द्विजनिन्दकोंको अपना बड़ा भारी पक्ष रहता है, उसके आगे वे वेदशास्त्रका अनादर करते हैं, और स्वयं नवीन धर्मशास्त्रकर्त्ता बननेका दावा कर बैठते हैं, जातिपाँति तोड़ डालनेकी अनेक चेष्टाएँ करते हैं, यथा—

सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहु पच्छी चंडाला॥

सत्य वचनपर विश्वास नहीं करते, कौएकी तरह डरा करते हैं कि कहीं ऋषियोंने वेदशास्त्र ब्राह्मणोंके लाभके लिये तो नहीं बनाया, यथा—

सत्य वचन बिस्वास न करई। बायस इव सबहीते डरई॥

वे अपनी कार्यसिद्धिके लिये अनेक प्रकारका छल करते हैं, उत्कट रागद्वेषसे उनका हृदय मलिन रहता है, विद्वान् ब्राह्मणोंपर तथा

स्वयं अपने पूर्वपुरुषोंपर भी उन्हें प्रतीति नहीं होती, यथा—'छली मलीन न कतहुँ प्रतीती'। वायसगुणसम्पन्न होनेसे उन्हें वही शरीर मिलता है।

सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी।
रौरव नरक परहिं ते प्रानी॥

अर्थ—जो अभिमानी प्राणी देवता और वेदके निन्दक हैं, वे रौरव नरकमें पड़ते हैं।

सुर श्रुति निंदक—वेद ही आदिशास्त्र है, वेदके ज्ञानसे ही संसारमें प्रकाश है, जितने प्रचलित मत हैं उनमेंसे यदि वेदोदित धर्म निकाल लिया जाय तो उनमें कुछ भी नहीं रह जाता, अतः वे सब वेदोपजीवी हैं। उस परमेश्वरके आदि उपदेशकी जो निन्दा करता है, वह श्रुतिनिन्दक है। वेदप्रतिपाद्य देवता लोग ही इस संसारके अधिकारी (ईश्वरसे नियुक्त अफसर) हैं, चारों ओरसे विश्वकी रक्षा किया करते हैं, यथा—

रवि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥

जे अभिमानी प्रानी—भाव यह कि ऐसे वेद और देवोंकी निन्दा अधम अभिमानी ही कर सकता है। जिस सूर्यके अनुग्रहसे वह देखता है, जिस चन्द्रके अनुग्रहसे मनन करता है, जिस पवनके अनुग्रहसे उसके शरीरमें श्वास चलता है, जिस कुबेरकी कृपासे उसे धन प्राप्त है, जिस अग्निकी कृपासे उसे वाणी मिली है, जिस कालीकी कृपासे उसका जीवन है, जिस यमके अनुग्रहसे अबाधित जीवन व्यतीत कर रहा है, उन्हीं देवताओंकी निन्दा करनेवाले, और जिस ज्ञानसूर्यसे उसे ज्ञानप्रकाश मिल रहा है, उसकी भी निन्दा करनेवालेको सिवा रौरव नरकके और स्थान कहाँ है?

ते रौरव नरक परहिं—यहाँ रौरव शब्द उपलक्षण है, रौरव,

महारौरव, कालसूत्र, अन्धतामिस्र तथा अवीचि सबका बोधक है। अवीचि अन्तिम नरक झूठोंके लिये है, वहाँतक उसे जाना ही है, अतः रौरवसे आरम्भ करके अवीचिमें स्थिर होता है, वहाँसे निकलनेकी अवधि ग्रन्थकार नहीं देते।

होहिं उलूक संत निंदारत।
मोह निसा प्रिय ज्ञान भानुगत ॥५६॥

अर्थ–संतकी निन्दामें लगे हुए उल्लू (घूक) होते हैं, उन्हें ज्ञानभानुके अस्त होनेपर जो मोहनिशा होती है, वही प्यारी है।

संत निंदारत–जो इतने बड़े उपकारी हैं, जिनके रामचरितामृतकी वर्षा करनेसे जगत् प्लावित हो रहा है, जिनके सद्गुणोंसे संसारमें मङ्गल है, उनकी निन्दामें जो खल लगे हुए हैं वे संतनिन्दारत हैं। भाव यह कि संतोंका यश किसीके रोके नहीं रुकता, पर वे उसके रोकनेमें भी कुछ उठा नहीं रखते, दिनरात यत्नशील रहते हैं।

ज्ञान भानुगत–भाव यह कि ज्ञान सूर्य हैं, इनके रहते अविद्या-निशा आ नहीं सकती। सो यह अभागा संतोंके विरुद्ध हो गया। संतका ही ज्ञान भानु है और उन्हींके वचनप्रकाशसे हृदयकली विकसित होती है, यथा '(जासु) ज्ञान रवि भव निसि नासा। बचन किरिन मुनि कमल विकासा ॥' इसे संतोंके वचन नहीं रुचते, इसीलिये 'ज्ञान भानुगत' कहा।

मोह-निसा-प्रिय–यह अविद्यान्धकारमें ही रहना चाहता है, वही इसे प्रिय है, और संत उसके नाशक हैं, इसीसे उसे संतोंसे द्रोह है। संतोंका कुछ कर तो सकता नहीं, अतः निन्दा ही करता फिरता है, लोकमतको उनके विरुद्ध खड़ा करनेका प्रयत्न करता है।

होहिं उलूक–भाव यह कि जो जैसा चाहता है, वैसा ही वह हो जाता है, यथा—'जाकर जापर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू ॥' संतनिन्दक प्रकाश नहीं चाहता, अन्धकार चाहता है, इसीलिये उसे उलूककी योनि मिलती है। मानसिक जगत्‌में जिसे ज्ञान और अज्ञान कहते हैं, वही स्थूल जगत्‌में यथासंख्य प्रकाश और अन्धकार है। इस भाँति उलूकयोनि-प्राप्तिको दण्ड भी कहा जाता है, पर वस्तुतः यह संतनिन्दकके चाहे हुए कर्मका वास्तविक परिणाम है। इसी भाँति मनुष्ययोनि पाकर जिसने वस्तुतः बुरी वस्तु चाही वह अपने हाथ नरकमें सीढ़ी लगाकर उतर गया। यह उसके कर्मका वास्तविक परिणाम है, कोई दूसरा उसे दण्ड देने नहीं गया।

सबकर निंदा जे जड़ करहीं।
तेन्ह चमगादुर होइ अवतरहीं ॥

अर्थ–जो अज्ञानी सबकी निन्दा करते हैं, वे चमगीदड़ होकर नीचे गिरते हैं।

सबकर निंदा–भाव यह कि हरि, गुरु, द्विज, सुर, श्रुति और संत इनमेंसे एक-एककी निन्दा करनेवालेकी गति पृथक्-पृथक् कहकर, अब सबकी निन्दा करनेवालेकी गति कहते हैं। सबकी निन्दा करनेवालेमें उपर्युक्त चारों प्रकारके निन्दकोंके दोष मौजूद हैं।

जे जड़ करहीं–भाव यह कि उसे चेतनोपयोगी शरीरमात्र किसी भाँति मिल गया है, पर है यह बड़ा भारी जड़, उसकी सोलहों आने प्रवृत्ति जड़ताकी ओर है, वह आत्मघाती है, यथा—

ते जड़ जीव निजात्मघाती। जिन्हहि न रघुपति कथा सोहाती ॥

तेन्ह अवतरहीं–उनका पतन होता है, अथवा वे मनुष्यदेहकी सीढ़ी लगाकर स्वयं अधम पक्षीयोनिमें उतरते हैं। जब किसीको निन्दा

करते देखो तब इन चौपाइयोंसे ठीक कर लो कि ऐसा निन्दक किस योनिमें उतरनेके लिये सीढ़ी लगाये है।

चमगादुर होइ—भाव यह कि चमगादुर देहमें ही उपर्युक्त चारों निन्दकोंकी प्रवृत्ति चरितार्थ हो सकती है। चमगादुर मेंढककी भाँति सदा व्यर्थ शब्द किया करता है, कौएकी भाँति छली, मलिन और अविश्वासी होता है, मुखसे ही मलत्याग करता है, उलटा लटका रहता है, इस भाँति जीते ही नरक भोगता है, उल्लूकी भाँति उसे अन्धकार ही प्रिय है, अतः सबकी निन्दा करनेवालेको चमगादड़की योनि मिलती है। पापियोंके मुकुटमणि होनेसे उनके जन्मको अवतार कहा। छटे प्रश्नका उत्तर समाप्त हुआ।

सुनहु तात अब मानस रोगा।
जिन्हते दुख पावहिं सब लोगा॥५७॥

अर्थ—हे तात! अब मानस रोगोंको सुनो, जिनसे सब लोग दुःख पाते हैं।

सुनहु तात—भाव यह कि 'मानस रोग कहहु समुझाई' इस अत्यन्त आवश्यक सातवें प्रश्नका, जिसका भवसागरसन्तरणसे सम्बन्ध है, उत्तर दे रहे हैं, इसलिये श्रोताको पुनः सावधान कर रहे हैं।

अब मानस रोगा—भाव यह कि सूक्ष्म शरीरके रोगोंको अब कहता हूँ। थोड़ेमें समझानेके लिये शारीरिक रोगोंसे उनकी तुलना करता जाऊँगा। पूर्व संवाद ज्ञानभक्तिभेदप्रकरणमें ही इन सातों प्रश्नोंके बीज हैं।

सात्विक श्रद्धा धेनु सोहाई। जौं हरि कृपा हृदय बस आई॥

सुननेपर यह प्रश्न चित्तमें उठा कि दुर्लभ गतिके साधनके उपयुक्त कौन शरीर है?

तब फिर जीव विविध बिधि पावै संसृति क्लेस।

सुननेसे यह दूसरा प्रश्न उठा कि बड़ा दुःख कौन है। गरुड़जी पक्षियोंके राजा हैं, राजाओंका सीमापर बहुत ध्यान रहता है, अतः सातों प्रश्न सीमासम्बन्धी ही किये। 'तथा मोच्छसुख सुनु खगराई' से यह तीसरा प्रश्न उठा कि 'कौन सुख भारी है?' 'सो बिनु संत न काहू पाई' से चौथा प्रश्न उठा कि संत-असंतका स्वभाव कैसा होता है? 'परम धर्ममय पय दुहि भाई' से पाँचवाँ प्रश्न उठा कि परमधर्म क्या है? उसीके सम्बन्धसे छठा प्रश्न उठा कि कौन अघ परम कराल है, और 'ब्यापहिं मानस रोग न भारी' कहनेसे यह प्रश्न उठा कि मानस रोग क्या हैं? यह प्रश्न श्रोताके मनमें पहले ही उठा था, पर प्रश्नके क्रमके अनुसार अब उत्तर देते हैं।

जिन्हते दुख पावहिं—भाव यह कि कोई एक शारीरिक रोग किसीको होता है पर सभी मानस रोग न्यूनाधिक मात्रामें सबको होते हैं। अतएव सब रोग मिलकर सबको दुःख देते हैं।

सब लोगा—भाव यह है कि सबके मानसिक शरीरकी दशा बड़ी भयावह है। शूल अलग उठा हुआ है, दाद और खुजली अलग खुजा रहे हैं, ग्रहोंद्वारा उन्माद हो रहा है, क्षयीकी खाँसी अलग जोर बाँधे हुए हैं, कुष्ठसे शरीरकी घोर दुर्गति है, डमरुआ और नहरुआने अलग पैर पसार रक्खा है, पेट अलग बढ़ा चला जा रहा है। यह दशा न्यूनाधिक सभीकी है।

मोह सकल ब्याधिनकर मूला।
तेहिते पुनि उपजै बहु सूला॥

अर्थ—सब व्याधियोंका मूल मोह है, उसीसे अनेक प्रकारके शूल उठते हैं।

सकल ब्याधिनकर मूला—भाव यह कि व्याधियाँ तो अनेक हैं, पर मूल सबका एक है। यहाँ 'सब व्याधियोंसे तात्पर्य' शारीरिक

और मानसिक दोनों प्रकारकी व्याधियोंसे है। रोगविज्ञान (१) निदान, (२) पूर्वरूप, (३) रूप, (४) उपशय और (५) सम्प्राप्तिसे होता है। यहाँपर यथासाध्य निदान, रूप और उपशय कहा जायगा, पूर्वरूप और सम्प्राप्तिका अनुमान कर लेना पड़ेगा।

मोह–भाव यह कि सम्पूर्ण मानसिक रोगोंका मूल अज्ञान है, और सम्पूर्ण शारीरिक रोगोंका मूल प्रज्ञापराध है, सो प्रज्ञापराध भी अज्ञानके ही अन्तर्गत है, अतः सब व्याधियोंका मूल 'मोह' ही हुआ।

पुनि तेहिते–भाव यह कि प्रज्ञापराधसे मिथ्याहार-विहारका सेवन होता है, और उससे आठ प्रकारके शूल होते हैं। इसी भाँति अज्ञानसे विषयमें प्रवृत्ति होती है, और उस प्रवृत्तिसे मानसिक शूल उत्पन्न होते हैं।

उपजै बहु सूला–भाव यह कि शारीरिक शूलकी तो गिनती कर ली गयी कि आठ प्रकारके होते हैं पर मानसिक शूलोंकी गिनती नहीं हो सकती।

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥५८॥

अर्थ–काम वात है और अपार लोभ कफ है और क्रोध नित्य छाती जलानेवाला पित्त है।

काम वात–भाव यह कि यह स्थूल शरीर वात, पित्त और कफसे ही धृत है, परन्तु ये ही वात, पित्त, कफ जब साम्यावस्था छोड़कर कुपित हो जाते हैं, तो शरीरमें रोग उत्पन्न करते हैं, इसी भाँति यह मानसिक शरीर भी काम (राग), क्रोध (द्वेष) और लोभ (तृष्णा) से धृत है, परन्तु ये ही काम, क्रोध, लोभ जब उचित बर्तावको त्यागकर दुष्ट होते हैं, तो अनेक मानसिक रोगके कारण होते हैं। इनमें कामकी उपमा वातसे दी गयी है। पित्त पङ्गु है, कफ पङ्गु है, वातमात्र गतिशील है। यह जहाँ-जहाँ पित्त-कफको ले जाता है, वहीं ये बादलकी भाँति

जाकर चर्या करने लगते हैं। इसी भाँति मानसिक शरीरमें काम है, यही क्रोध और लोभका नेता है।

कफ लोभ अपारा—कफको अपार कहा, क्योंकि इसका पार देही-को नहीं लगता, अन्तमें कफ ही प्राणवियोगका हेतु होता है, मरणासन्न अवस्थामें कफ घेर लेता है, और फिर उसे मनुष्य नहीं उल्लंघन कर सकता। इसी भाँति मानसिक शरीरमें लोभ है, लोभका भी पार नहीं है, अनेक ब्रह्माण्डका प्रभुत्व भी मिल जाय तो भी तृप्त नहीं होता। लोभसे ही मनका पतन होता है। लोभ पापका बाप कहा गया है।

क्रोध—सुखप्राप्तिमें बाधा पड़नेसे क्रोध होता है। क्रोधको अग्नि कहा गया है। सचमुच क्रोधी आगबबूला हो उठता है, शरीर जलने लगता है, भ्रम होता है, मूर्छा होती है, बहुत बड़े-बड़े उपद्रव क्रोधमें होते हैं।

पित्त नित छाती जारा—पित्त भी अग्नि है। यह कुपित होकर कलेजेमें दाह उत्पन्न करता है, शरीर जलने लगता है, भ्रम होता है, मूर्छा होती है, जबतक पित्तका वेग है तबतक छाती जलती ही रहेगी। अतः जिस भाँति स्थूल शरीरमें पित्त है, उसी भाँति मानसिक शरीरमें क्रोध है।

प्रीति करहिं जौ तीनिउ भाई।
उपजै सन्निपात दुखदाई॥

अर्थ—यदि तीनों भाई प्रीति करें, तो दुखदायी सन्निपात उत्पन्न होता है।

तीनिउ भाई—भाव यह कि ये तीनों वात, पित्त, कफ भाई हैं, उसी शरीरमें रहते हैं, पर तीनों प्रीति नहीं करते। अकेले ही रोग उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं, या दो-दो मिलकर रोग उत्पन्न करते हैं अर्थात् वातपित्तप्रधान, कफपित्तप्रधान, वातकफप्रधान होकर रोग उत्पन्न करते हैं।

प्रीति करहिं–भाव यह कि यदि आपसमें प्रीति करके तीनों प्रधान हो जायँ तो मनुष्य कालवश हो जाता है। इसी भाँति कोई कामी, कोई क्रोधी और कोई लोभी होता है। किसीमें काम-क्रोध दोनों बढ़ जाते हैं, किसीमें क्रोध-लोभ, किसीमें काम-लोभ हो जाता है। यदि काम-क्रोध-लोभ तीनों बढ़ें तो मानसिक शरीरका पतन अनिवार्य है।

दुखदाई सन्निपात उपजै–तीनोंके प्रीति करनेपर अभिन्यास सन्निपात पैदा होता है। यह महा दुःखदायी है, प्राण लेकर ही छोड़ता है, किसी एक दोषके न्यून रहनेपर बचनेकी आशा रहती है। सन्निपातमें प्रलाप भी होता है। ठीक यही गति मानसिक सन्निपातका भी है, यथा–

सन्निपात जल्पसि दुर्बादा। भएसि कालबस सठ मनुजादा।

> बिषय मनोरथ दुर्गम नाना।
> ते सब सूल नाम को जाना॥ ५९॥

अर्थ–विषयके अनेक दुर्गम मनोरथ ही शूल हैं, उनके नाम कौन जान सकता है?

नाना विषय मनोरथ–यद्यपि विषय पाँच माने गये हैं—(१) शब्द, (२) स्पर्श, (३) रूप (४) रस और (५) गन्ध, पर एक-एकके सहस्रों भेद हैं। विषय-भेदसे मनोरथके भी असंख्य भेद हो गये हैं।

दुर्गम–भाव यह कि एक विषयकी प्राप्तिसे सन्तोष नहीं होता, मनोरथ बना ही रहता है, तिसपर ऐसे-ऐसे अप्राप्य विषयोंका मनोरथ उठता है, जो सर्वथा असाध्य हैं। ये मनोरथ ही शूल हैं। तृप्ति होती नहीं, चाह बढ़ती जाती है, बाधाओंकी कमी नहीं रहती।

ते सब सूल–भाव यह कि एक भी मनोरथ सुखदायी नहीं। सबके सब दुःखदायी हैं। मनोरथ ही दुःखरूपमें परिणत हो जाते हैं।

यद्यपि वातकृत शूल, कफकृत शूल, पित्तकृत शूलके पृथक्-पृथक् लक्षण हैं, पर सबोंका प्रभु वात ही है। इसी भाँति सूक्ष्म शरीरमें भी कामकृत मनोरथ, क्रोधकृत मनोरथ, लोभकृत मनोरथ पृथक्-पृथक् हैं, फिर भी सबका प्रभु काम ही है।

नाम को जाना—भाव यह कि संख्यामें इतने अधिक हैं कि न इनका पृथक् नाम कोई रख सका, और न कोई स्मरण ही कर सकता है। जब नाम ही नहीं रक्खे गये तो कोई कैसे जान सकता है?

ममता दादु कंडु इरषाई।
हरष बिषाद गरह बहुताई॥

अर्थ—ममता दाद और ईर्षा खुजली है, हर्ष और विषाद बहुत-से ग्रह हैं।

ममता दादु—ममताको दद्रुरोग (दाद) कहा है। दद्रु-मण्डल* लाल होता है और उसमें खाज होती है। इसकी गिनती क्षुद्र कुष्ठमें है। इसके खुजानेमें बड़ा सुख मिलता है, जितना खुजाया जाय उतनी ही खुजानेकी इच्छा बढ़ती जाती है। पीछेसे बड़ा कष्ट होता है। शरीरके मलसे उत्पन्न जूँ, लीख आदिसे यह दद्रुमण्डलवाली फुनसी होती है।

ममताकी भी यही दशा है। ममता भी मनकी क्षुद्र दुष्टता है। ममताके संघर्षमें बड़ा सुख मिलता है, और बढ़ता ही जाता है पर अन्त-में बड़ा कष्ट होता है। शरीरसे उत्पन्न बाल-बच्चे तथा सम्बन्धियोंमें ममता होती है इसीलिये ममताको दद्रुरोग कहा।

कंडु इरषाई—कण्डूमें† छोटी-छोटी बहुत-सी फुनसियाँ होती हैं,

---

* सकण्डूरागपिटिकं दद्रुमण्डलमुद्गतम्। (माधवनिदान)

† नामतो विंशतिविधाः बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः।
तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः॥

उनसे स्राव भी होता है, खुजली होती है, दाह होता है। यह भी क्षुद्र कुष्ठ है, जूँ और लीख इसके भी कारण हैं। दाद और खुजलीमें भेद यह है कि खुजलीमें छोटी फुनसियाँ बहुत होती हैं। पर उनका कोई मण्डल नहीं होता, दादमें मण्डल होता है। खुजलीमें दाह होता है, दादमें नहीं होता *।

दूसरेके उत्कर्षको न सहना ही ईर्षा है। ईर्षाके विषयोंकी कमी नहीं इसीसे छोटी-छोटी फुनसियोंकी भाँति मानसिक शरीरमें विकार होता है, और उन विकृत स्थलोंसे मलस्राव होता है। ममतावाली वस्तुएँ अपने गोल (मण्डल) की हैं, ईर्षावाली नहीं हैं इसलिये ईर्षा (कण्डु) में मण्डल नहीं होता। ईर्षामें दाह होना तो स्वाभाविक ही है। इस लिये ईर्षाको कण्डु कहा।

हरष विषाद गरह बहुताई—इष्टप्राप्ति या इष्टप्राप्तिकी आशासे हर्ष और इष्टके वियोग तथा वियोगके भयसे विषाद होता है। हर्ष-विषाद भी मनोविकारविशेष हैं। हर्ष और विषादमें मनुष्य उन्मत्त हो जाता है। इसीलिये इनकी उपमा ग्रहकी बहुताईसे दी है।

वैद्यकमें देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, पिशाच, राक्षसादि बहुत-से ग्रह कहे हैं†, जो उन्माद उत्पन्न करते हैं, किसी ग्रहमें मनुष्य हर्षित होता है और किसीमें विषादयुक्त होता है, पर है उन्माद ही। जिस भाँति उन्मादमें मनुष्य उत्तम, मध्यम, निकृष्ट चेष्टाएँ ग्रहोंकी प्रकृतिके अनुसार

बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिक्षाश्च नामतः।
द्विधा ते कोठपिडिकाः कण्डूगण्डान् प्रकुर्वते॥ (माधवनिदान)

* सूक्ष्मा बह्व्यः पीडकाः स्राववत्यः वामेत्युक्ताः कण्डुमत्यः सदाहाः।
(माधवनिदान)

† देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि।
गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ॥ इत्यादि
(माधवनिदान)

करता है, पर वे सब चेष्टाएँ उन्मत्तचेष्टा ही हैं। इसी भाँति उत्तम, मध्यम, अधम इष्टानुसार हर्ष-विषादकी अनेक चेष्टाएँ होती हैं, पर वे सब चेष्टाएँ उन्मत्तचेष्टाकी भाँति परिणाममें दुःख देनेवाली हैं। इसी-लिये हर्ष-विषादको ग्रहकी बहुतायत कहा।

परसुख देखि जरनि सोइ छई।
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई ॥६०॥

अर्थ-पराये सुखको देखकर जो जलन होती है, उसे क्षयी रोग (समझिये) और दुष्टता तथा मनकी कुटिलता कुष्ठ रोग है।

परसुख देखि जरनि-भाव यह कि जिससे पराया सुख देखा न जाय, देखते ही जिसे जलन पैदा हो, उसे समझिये कि बड़े दुःखमें फँस गया, क्योंकि यह तो संसार है, किसीको सुख किसीको दुःख बना ही रहता है, और वह सुख देखकर जला करता है, इसलिये ऐसा कोई समय ही नहीं हो सकता जब कि उसे जलन न रहे। इस जलनसे उसके सद्‌गुणोंकी दिन-रात हानि होनी आरम्भ हो जाती है और अन्तमें सभी सद्‌गुणोंसे रहित हो जानेपर उसका घोर पतन हो जाता है।

सोइ छई-ऐसे जलनेवालेको समझ लीजिये कि राजयक्ष्मा (क्षयी) की बीमारी हो गयी, उसे सदा ज्वर बना रहता है, अनेक उपद्रव उठ खड़े होते हैं, और अन्तमें प्राण लेकर ही छोड़ती है। इसीलिये पर-सुख देखि जरनिको क्षयी कहा। क्षयी छः प्रकारकी होती है। शत्रु भी छः ही माने गये हैं इसलिये क्षयीका छः प्रकार होना युक्तियुक्त है।

कुष्ट-यह रोग सब रोगोंसे विशेष घृणित है। इससे शरीर ही बिगड़ जाता है। कुष्ठीको कोई पास नहीं बैठने देता, उसके शरीरसे दुर्गन्धि आती है।

दुष्टता मन कुटिलई—मनका दोषयुक्त होकर सरलताका त्याग करना, अर्थात् मनमें दूसरी बात और वाणी तथा कर्मसे दूसरी बात प्रकाशित करना कुटिलता है। भाव यह कि कुटिलता ही कुष्ठ है। कुटिलका दुर्नाम हो जाता है, कोई उसके साथ व्यवहार नहीं चाहता, उसका पतन बड़े दुःख और दुर्नामके साथ होता है। इसलिये कुटिलता-को कुष्ठ रोग कहा। कुष्ठीका संसर्ग करनेसे दूसरोंको भी यह बीमारी हो जाती है।

अहंकार अति दुखद डमरुआ।
दंभ कपट मद मान नहरुआ॥

अर्थ—अति दुःख देनेवाला अहंकार डमरुआ रोग है (और) दम्भ, कपट, मद और मान नहरुआ है।

अहंकार अति दुखद—भाव यह कि अहंकारसे बड़ा दुःख होता है। उसका रूप बेढंगा हो जाता है। उसकी शकल देखनेसे लोगोंको चिढ़ होती है। रोग बढ़ जानेसे प्रत्येक व्यवहारमें उसे बड़े-बड़े कष्ट होते हैं।

डमरुआ—पं० भगवतीप्रसादमिश्रजी भदैनी काशीनिवासी एक अनुभवी वृद्ध वैद्य हैं। उनका मत है कि डमरुआ गलगण्ड रोग है। 'निबद्धश्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले' यह गलगण्डका लक्षण है। बँधा हुआ शोथ जो गलेमें मुष्ककी भाँति लटकता है, उसे गलगण्ड कहते हैं। मुष्कका सादृश्य डमरूसे है, उसकी भाँति होनेसे इस रोगको डमरुआ कहे जानेकी बहुत सम्भावना है। लक्षण भी मिलता है। गलगण्डके रोगीको सूई चुभानेकी भाँति पीड़ा होती है, उसका रूप अभिमानी-सा हो जाता है, उसको देखनेसे लोगोंको चिढ़-सी मालूम होती है। रोग बढ़ जानेसे श्वास लेनेमें पीड़ा होती है। इसलिये अहंकारको 'डमरुआ' कहा।

दंभ कपट मद मान–ढकोसला, छल, गरमी, ऐंठ ये सब परस्पर सम्बद्ध होकर एक सूत्रमें परिणत हो जाते हैं। रोगीकी प्रगतिसे इनका प्रकाश हो जाता है। ये बढ़ते ही जाते हैं, बड़े यत्नसे इनकी रक्षा करनी पड़ती है, यदि भङ्ग हुआ तो बड़ा भारी दुःख होता है।

नहरुआ–यह रोग राजपूतानेकी ओर होता है। इसे स्नायुज कहते हैं। दोष कुपित होकर शोथपूर्वक पैरमें घाव करते हैं। उस घावमेंसे अनेक कीट एकत्रित होकर सूत्राकारमें बाहर निकलते हैं और बढ़ते जाते हैं, बड़े यत्नसे उस सूत्रकी रक्षा की जाती है। यदि किसी प्रकार टूट जाय तो बड़ा अनर्थ करता है। इसीलिये 'दंभ कपट मद मान नहरुआ' कहा।

तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी।
त्रिबिध ईषना तरुन तिजारी ॥६१॥

अर्थ–अति भारी उदरवृद्धि ही तृष्णा है, और तीनों एषणाएँ तिजारी हैं।

तृस्ना–विषय-प्राप्तिकी प्यासको तृष्णा कहते हैं। यह प्यास मिटती नहीं, दिनपर दिन बढ़ती जाती है। शरीर घटता जाता है, बल क्षीण हुआ जाता है, पर तृष्णाकी वृद्धि नहीं रुकती। इसी भाँति जिसको उदररोग हो जाता है, उसका शरीर घटने लगता है, बल क्षीण होने लगता है, पर उदर बढ़ता ही जाता है। उदरकी अति वृद्धि हो जानेपर इतिश्री होती है।

त्रिबिध ईषना–भाव यह कि एषणा तीन हैं, यथा—

सुत वित लोक ईषना तीनी। किनकर मति इन्ह कृत न मलीनी॥

तरुन तिजारी–भाव यह कि शुरू-शुरूमें जब तिजारी आती है तो बड़े वेगसे बड़ा जाड़ा देकर आती है, पीछे उसका वेग क्रमशः कम होने लगता है। इसलिये तरुण तिजारी कहा। तिजारी जल्दो छूटती

नहीं, एक दिन अन्तर देकर आती है। इसके तीन भेद शास्त्रकारोंने माने हैं। इसी भाँति सूक्ष्म शरीरमें एषणा बड़े वेगसे आती है, और बड़ी जड़ता उत्पन्न करती है। इसका छूटना महा कठिन है। बीच-बीचमें शान्त भी हो जाती है, पर फिर आ जाती है। सुत, वित और लोकभेदसे इसके भी तीन प्रकार हैं।

जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका।
कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका ॥६२॥

अर्थ-मत्सर और अविवेक दोनों प्रकारके ज्वर हैं, कहाँतक कहूँ अनेक कुरोग हैं।

जुग विधि ज्वर*-भाव यह कि ज्वरके दो भेद हैं—(१) माहेश्वर और (२) वैष्णव†। इन दोनोंके अवान्तरभेद बहुत हैं, यथा—माहेश्वर ज्वरके आठ भेद हैं—(१) वातज्वर, (२) पित्तज्वर, (३) कफज्वर, (४) वातपित्तज्वर, (५) वातकफज्वर, (६) पित्तकफ-ज्वर, (७) सन्निपात और (८) आगन्तुज।

वैष्णव ज्वरके पाँच भेद हैं—(१) सतत, (२) संतत, (३) अन्येद्यु, (४) तृतीयक और (५) चतुर्थक। इन भेदोंके भी उपभेद हैं। वैष्णव ज्वरको विषम ज्वर कहते हैं। पहिले माहेश्वर ज्वर रुद्रकोप-से उत्पन्न हुआ। फिर उससे भी बली पीछेसे वैष्णव ज्वर श्रीकृष्णसे उत्पन्न हुआ। यह ज्वर धातुगत होता है।

मत्सर अबिबेका-भाव यह कि जिस भाँति स्थूल शरीरमें ज्वर और विषम ज्वर होता है, उसी भाँति सूक्ष्म शरीरमें अविवेक और

---

* देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली।
ज्वरः प्रधानं रोगाणामुक्तो भगवता पुरा॥

† दोषोल्पोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः।
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम्॥

मात्सर्य* है। जिस भाँति ज्वर देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रज और बली है, उसी भाँति अविवेकसे भी देहेन्द्रिय-मनको ताप पहुँचता है, यथा-पर मत्सर† स्वभावगत होकर संतत ताप पहुँचाया करता है, इसीसे इसकी उपमा विषम ज्वरसे दी गयी। इसी भाँति यदि विचार किया जाय तो सम्पूर्ण भेदोपभेद, अवान्तरभेदोंके साथ जिस भाँति शारीरिक ज्वरका विस्तार वैद्यकशास्त्रमें है वैसे ही विस्तारके साथ मानसिक ज्वरोंके भेद कहे जा सकते हैं।

कहँ लगि कहौं-भाव यह कि समझनेके लिये इतना बहुत है। निदान सब रोगोंका एक ही है, और उपशय भी मुझे एक ही कहना है, दिग्दर्शनके लिये ग्यारह रोगोंका परिचय भी दे दिया। अब इस विषयको तूल देना व्यर्थ है।

कुरोग अनेका-भाव यह कि सुरोग तो मैंने कहा नहीं, क्योंकि उन्हें आगे चलकर कहना है, केवल कुरोग कहना था, वे भी बहुत हैं। जिसकी दवा न हो वही कुरोग है, यथा—

एहि कुरोगकर औषध नाहीं।

दो०—एक व्याधिबस नर मरहिं ए असाधि बहु व्याधि।
पीडहिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि॥

अर्थ-एक व्याधिके वशमें पड़ जानेसे आदमी मर जाता है, ये तो असाध्य व्याधियाँ हैं, और अनेक हैं। ये सदा जीवोंको पीड़ा दिया करती हैं फिर जीव समाधिको कैसे प्राप्त हो?

एक व्याधिबस-भाव यह कि व्याधिकी तीन दशाएँ होती हैं—सुसाध्य, कष्टसाध्य और असाध्य। सो मनुष्य तभीतक जीता है, जबतक व्याधिके वशमें नहीं आ गया। व्याधिके वशमें आ जानेपर फिर नहीं

* सब प्राणियोंमें असहिष्णुताको मात्सर्य कहते हैं।

† परोत्कर्षासहिष्णुता।

बचता, इसलिये सुसाध्य व्याधिको भी छोटी न माननेके लिये आदेश है, यथा—

रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि।

इसी भाँति एक भी मानस व्याधि उपेक्षणीय नहीं है।

नर मरहिं—भाव यह कि एक शारीरिक रोगके वशमें पड़ जानेसे रोगी जिस भाँति मर जाता है, उसी भाँति एक मानसिक रोग भी प्रमादके लिये यथेष्ट है, क्योंकि सच्ची मृत्यु तो प्रमाद है।

ए असाधि बहु व्याधि—भाव यह कि सन्निपात, शूल, उदर, क्षयादि उत्पत्तिसे ही असाध्य हैं और स्थूल शरीरमें तो इन सबोंका साथ ही समागम दुर्घट है, पर मानसिक शरीरमें ये सब एक साथ ही होते हैं।

संतत पीडहिं जीव कहँ—जीवोंको सदा पीड़ा दिया करते हैं, अर्थात् उदारावस्थामें सदा बने रहते हैं। कहना नहीं होगा कि भिन्न-भिन्न रोगोंकी पीड़ाओंमें भी विचित्रता है।

सो किमि लहै समाधि—समाधि निर्विकार चित्तसे ही साध्य है। समाधि ही मनकी स्वस्थता है। जो मन संतत अनेक प्रकारकी पीड़ाओंसे विकल है, उसे स्वस्थता कहाँ?

दो०—नेम धर्म आचार तप ज्ञान जज्ञ जप दान।
भेषज पुनि कोटिन नहीं रोग जाहिं हरिजान॥

अर्थ—नियम, धर्म, आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप, दान (इत्यादि) करोड़ों दवाएँ हैं, पर हे हरियान! रोग नहीं जाते।

नेम धर्म आचार तप—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानको नियम कहते हैं। श्रुति, स्मृति, सदाचारके अनुकूल बर्तावको आचार कहते हैं। स्वधर्मानुष्ठानको तप

कहते हैं। समदर्शित्वको ज्ञान कहते हैं। देवताओंके लिये द्रव्यदानको यज्ञ कहते हैं। मन्त्रके बार-बार पाठको जप कहते हैं। अपना स्वत्व हटाकर दूसरेके स्वत्वके स्थापनको दान कहते हैं। ये सब मानसिक रोगके औषध हैं। शौचसे स्वाङ्गजुगुप्सा और दूसरेसे असंसर्ग होता है। सन्तोष-से अनुत्तम सुख लाभ होता है। तपसे अशुद्धिका क्षय होता है। स्वाध्यायसे इष्ट देवताका दर्शन होता है। ईश्वरप्रेमसे समाधिकी सिद्धि होती है। धर्मसे अभ्युदय निःश्रेयस होता है। आचारसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। ज्ञानसे मोक्ष होता है। यज्ञसे स्वर्ग मिलता है। जपसे सिद्धि होती है। दानसे दुर्गतिका नाश होता है।

भेषज पुनि कोटिन—भाव यह कि इतने ही औषध नहीं, सम्पूर्ण वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, तन्त्र, दर्शन सब इन्हीं औषधोंसे भरे पड़े हैं। दुःखकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति सबका ध्येय है। इस ध्येयमें महा नास्तिकको भी बोलनेका कोई अवसर नहीं है।

हरिजान—भाव यह कि आप साक्षात् हरिके यान हैं, आपको स्वयं यह रोग हुआ तो औरोंकी गणना ही क्या है?

रोग नहीं जाहिं—भाव यह कि दवा करनेसे सम्भवतः दब जाते हैं। पर निर्मूल नहीं होते, फिर उभड़ आते हैं और जब रोग ही नहीं गये तब दवा कैसी? अतः वे औषध अकिञ्चित्कर हैं।

> एहि बिधि सकल जीव जग रोगी।
> सोक हर्ष भय प्रीति बियोगी॥

अर्थ—इस विधिसे संसारके सब जीव रोगी हैं, (सबको) शोक, हर्ष, भय प्रीति और वियोग है।

सकल जीव जग—भाव यह कि ये रोग केवल मनुष्योंमें ही नहीं हैं, जितने पशु-पक्षी-कीट-पतङ्ग हैं, सभी इन रोगोंसे दुखी हैं।

भेद इतना ही है कि वे रोगकी चिकित्साका यत्न भी नहीं कर सकते और मनुष्यशरीर तो इस यत्नके लिये मिला ही है।

एहि विधि रोगी–भाव यह कि सन्निपातमें दुर्वाद भी कर रहे हैं, शूल भी हो रहा है, खाज भी उठ रही है, उन्माद भी है, क्षयीकी खाँसी अलग चल रही है, कुष्ठ अलग दुःख दे रहा है, नहरुआ अलग हुआ है, गलगण्डसे सिर तना जा रहा है, उदरवृद्धिसे हिलना कठिन है, ज्वरका वेग ऊपरसे है, चैन किसे कहते हैं, जानता ही नहीं।

हर्ष सोक भय प्रीति वियोगी–भाव यह कि इस दुर्दशामें भी एकरसता नहीं, कभी हर्षसे उछल पड़ता है, कभी शोकसागरमें डूब जाता है, कभी भयभीत हो उठता है, कभी प्रेममें आ जाता है और कभी वियोगमें हाय हाय करता है, यथा—

दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ मन जरत त्रिविध ज्वर करत फिरत बौराई॥
कबहुँ जोगरत भोगनिरत सठ हठ वियोग बस होई।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई॥
कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ पंडित विडम्बरत कबहुँ धरमरत ज्ञानी॥
कबहुँ देख जग धनमय रिपुमय कबहुँ नारिमय भासै।
संसृति सन्निपात दारुन दुख बिनु हरिकृपा न नासै॥
संजम जप तप नेम धरम ब्रत बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास भवरोग रामपद प्रेमहीन नहिं जाई॥

(विनय०)

मानसरोग कछुक मैं गाए।
हहिं सबके लखि बिरलेन्ह पाए॥ ६२॥

अर्थ–कुछ (तो) मानसरोग मैंने गाकर कहे, (ये) हैं तो सबको (पर) विरलोंहीने देख पाया है।

कछुक मैं गाए–भाव यह कि वर्णन तो मैंने थोड़े ही रोगोंका किया, परन्तु विस्तारके साथ किया, संक्षेपमें विस्तारसे वर्णन करनेकी विद्या शायद गोस्वामीजीको ही आती थी। बहुत बड़े-बड़े विषयोंको इन्होंने रूपकमें ऐसा बाँध दिया है कि विस्तृत वर्णनके साथ वे उन्हीं रूपकोंमें बँधे पड़े हैं। जितना ही उपमा उपमेयके गुण, क्रिया, स्वभाव और सम्बन्धका विचार करते जाइये उतना ही उस विषयका विस्तार होता चला जाता है।

मानसरोग–भाव यह कि 'सुनहु तात अब मानस रोगा' से जिस विषयका उपक्रम किया था, अब 'मानस रोग कछुक मैं गाए' कहकर उसीका उपसंहार कर रहे हैं।

हहिं सबके–भाव यह कि 'जिनते दुख पावैं सब लोगा' का यह संक्षिप्त अनुवाद है। रोगके अस्तित्वका प्रमाण दुख पाना ही है, और सब लोग दुःख पा रहे हैं, इसलिये सबको हैं।

लखि बिरलेन्हि पाए–भाव यह कि मानसरोगमें ही यह विशेषता है कि रोगीको यह पता भी नहीं चलता कि हम रोगसे दुखी हो रहे हैं, वह दुःखके कारणको बाहर खोजता है, यथा—

अनविचार संसार महा रमणीय भयंकर भारी।

ऐसा कोई विरला ही होगा जिसने लख पाया हो कि हमको रोग है, इसीसे दुखी हो रहे हैं।

जाने ते छीजहिं कछु पापी।
नास न पावहिं जन परितापी॥

अर्थ–जान जानेसे (ये) पापी कुछ छीजते हैं, पर (ये) जन परितापी नाशको नहीं प्राप्त होते।

जन परितापी पापी–भाव यह कि जिनका हिंसापर अतिप्रेम है, जो जन परितापी हैं, वे ही पापी हैं, यथा—

हिंसापर अति प्रीति तिनके पापहिं कवन मिति ॥

काम, क्रोधादिकी हिंसापर अत्यन्त प्रीति है, ये सबको पीड़ित किया करते हैं, न चाहनेपर भी ज़बरदस्ती पाप करा ही देते हैं। इसीलिये इन्हें खल भी कहा है।

जाने ते कछु छीजहिं–भाव यह कि ये मित्रके रूपमें आकर सद्गुणोंका हरण करते हैं। इन्हें लोग शत्रुरूपसे नहीं जानते, इसीसे इन्हें चोर भी कहा है, यथा—'मत्सर मान मोह मद चोरा' सो इनके स्वरूपकी पहचान हो जानेपर चोरी कम हो जाती है। ये अद्भुत रोगरूप हैं, जो दवासे तत्कालके लिये दबमात्र जाते हैं, पर जाते नहीं, और पहचाने जानेपर दुर्बल हो जाते हैं। जब मनुष्य जान लेता है कि काम, क्रोधादि व्याधि हैं, तब काम, क्रोधादिके बलात् आ जानेपर भी उनपर अहितकर भावना होनेसे उनका वेग क्षीण हो जाता है, तनु अवस्थाको प्राप्त होते हैं।

नास न पावहिं–भाव यह कि अस्मिता (अभिमान), राग (काम), द्वेष (क्रोध), अभिनिवेशकी चार अवस्थाएँ होती हैं—(१) प्रसुप्त, (२) तनु, (३) विच्छिन्न और (४) उदार। जब चेतमें ये शक्तिमात्रसे रहते हैं अर्थात् बीजभावसे अवस्थान करते हैं तब प्रसुप्त कहलाते हैं, यथा—'मनहु बीररस सोवत जागा।' प्रतिपक्ष भावनाके मारे हुए तनु अवस्थाको प्राप्त होते हैं, यथा—

बालि परमहित जासु प्रसादा। मिलेउ राम तुम समन बिषादा ॥

गायब हो-होकर फिर-फिर प्रकट होनेको विच्छिन्न अवस्था कहते हैं, यथा—

राम बचनु सुनि कछुक जुड़ाने। कहि कछु लखन बहुरि मुसुकाने ॥

विषयमें लब्धवृत्तिकको उदार कहते हैं, यथा—

परम क्रोध मीजहिं सब हाथा।

सो ये नेम, धर्म, आचार, तपसे विच्छिन्न हो जाते हैं, पहचाने जानेसे तनु हो जाते हैं, योगावस्थामें प्रसुप्त हो जाते हैं, पर प्रक्षीण नहीं

होते । यह पाँचवीं अवस्था है । जब बीज जल जाय और विषयवारि पानेपर भी अङ्कुरित न हो, तब उनको प्रक्षीण कहते हैं ।

विषय कुपथ्य पाय अंकुरे ।
मुनिहु हृदय का नर बापुरे ॥६४॥

अर्थ—मुनिके हृदयमें भी (ये) विषय कुपथ्य पाकर अंकुरित हो उठे, मनुष्य बेचारे क्या हैं ?

मुनिहु हृदय—भाव यह कि मुनि ज्ञाननिधान हैं । उनकी ज्ञानाग्निसे क्लेश दग्धबीज-से हो गये हैं, और मुनिका हृदय भी विषयरससे रूखा होनेके कारण ऊसर-सा है; यथा—

ब्रह्मचर्यव्रतरत मतिधीरा । तुमहि कि करै मनोभव पीरा ॥

विषय कुपथ्य—भाव यह कि जिस भाँति कुपथ्यसेवनसे व्याधि उत्पन्न होती है और कुपथ्यसे ही बढ़ती है, उसी भाँति मानसरोगके लिये विषय ही कुपथ्य है, इसीसे मानसरोग बढ़ते हैं ।

पाय अंकुरे—भाव यह कि जो ज्ञाननिधान मुनि हैं, उनके लिये समझा गया था कि क्लेश प्रक्षीण हो गये हैं । पर इस बातके उदाहरण सौ-पचास नहीं, बल्कि अनेक हैं कि जहाँ प्रक्षीण समझे गये थे वहाँ भी वे प्रसुप्तमात्र थे । विषयकुपथ्यको पाते ही वे अङ्कुरित हो उठे । अब उन्हें प्रक्षीण कैसे समझें ? यथा—

देखि रूप मुनि बिरति बिसारी । बड़ी बार लगि रहे निहारी ॥

राम कृपा नासहिं सब रोगा ।
जौं इहि भाँति बनै संजोगा ॥

अर्थ—यदि इस भाँति संयोग जुट जाय (तो) रामकृपासे सब रोग नष्ट हो जाते हैं ।

जौ बनै–भाव यह कि तब सिद्धि निश्चित है, ज्ञानमार्गकी भाँति संयोग बन जानेपर भी सिद्धि अनिश्चित नहीं है, यथा—

अस संजोग ईस जौ करई। तबहु कदाचित सो निरुअरई॥

क्योंकि ज्ञानमार्गमें विषय बाधक हैं, कामक्रोधादि केवल प्रसुप्त रहते हैं, विषय पाते ही जाग उठते हैं, यथा—

जागयौ मनोभव मुएउ मन।

इहि भाँति संजोगा–भाव यह कि रोगनिवृत्तिके साधन—(१) वैद्य, (२) अधिकारी रोगी, (३) संयम, (४) औषध और (५) अनुपान—यदि इकट्ठे हो जायँ। पहले सद्वैद्य नहीं मिलते, मिले तो रोगी मनस्वी मिला। दोनों ठीक होनेपर संयमका ठिकाना न हो सका। संयम भी किया तो पहाड़से संजीवनी मूलि कौन लाये ! सब ठीक हुआ तो अनुपान न जुटा। और किसी एकके भङ्ग होनेसे सिद्धि अनिश्चित हो जाती है, परन्तु यदि बन जाय तो सब रोग नष्ट हो जायँ।

रामकृपा–भाव यह कि रामकृपा होनेपर भी तीन कृपाकी और आवश्यकता है—(१) गुरुकृपा, सो यहाँ सद्वैद्य सद्गुरु है; (२) शास्त्रकृपा—वेद-पुराण पावन पर्वत हैं, इन्हींमें सञ्जीवन मूरि मिलती है, सो शास्त्रकृपासे संजीवन मूरिकी प्राप्ति होती है यहाँ वही औषध है, और (३) आत्मकृपा—इसके बिना कुछ हो ही नहीं सकता। वैद्यके वचनपर विश्वास, संयम और अनुपान तो आत्मकृपापर ही निर्भर है। यह सब होनेपर रामकृपाकी पात्रता आती है। नहीं तो रामकृपामें तो घाटा नहीं है। रामकृपासे ही नरदेह मिली है, और रामकृपाकी अनुकूल वायु बराबर चल रही है, आत्मकृपा बिना उससे कोई लाभ उठानेवाला नहीं है।

नासहिं सब रोगा–भाव यह कि सूर्यनारायणकी कृपा बराबर होती चली जाती है, पर रूईका गट्ठा न जला। सूर्यकान्तमणि और जलानेवाला दोनों इकट्ठे हो जायँ तो गट्ठा जला जलाया ही है। इसी

भाँति सूर्यनारायणकी भाँति रामकृपा बराबर होती चली जाती है, कोई आत्मकृपावाला सूर्यकान्तमणि लेकर अक्स डालकर जलाने आवे तो ये क्लेश जले जलाये ही हैं।

सब रोगोंकी जड़ मोह है। इसके नाश होनेपर सब रोग आपसे आप नष्ट हो जाते हैं। अतएव उपर्युक्त तीन कृपाओंके साथ रामकृपा होनेसे मोह नष्ट हो जाता है, क्लेश प्रक्षीण हो जाते हैं।

सदगुरु बैद बचन बिस्वासा।
संजम यह न बिषयकै आसा॥६५॥

अर्थ–सद्गुरु वैद्यके वचनपर विश्वास हो और संयम यह है कि विषयकी आशा न हो।

सदगुरु–भाव यह कि जिसके वचनसे मोहका नाश हो वही सद्गुरु है, यथा—'महा मोह तमपुंज जासु बचन रबिकर निकर'। अर्थात् श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ही सद्गुरु है। केवल ब्रह्मनिष्ठ होनेसे वह अपना काम चला सकता है, गुरु होनेकी योग्यता है, फिर भी श्रोत्रिय न होनेसे वह संशयका नाश नहीं कर सकता, यथा—

बंदौं प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना॥

विना गुरुके अज्ञानका नाश नहीं हो सकता, और विना उसके नाशके भवसिन्धुको पार करना असम्भव है, यथा—

गुरु बिनु भवनिधि तरै कि कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥

गुरु बिनु होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु।

बैद–भाव यह कि जिस भाँति वैद्य रोगीके रोगको पहचानकर उसकी अवस्थाके अनुसार औषधका विधान करता है, उसी भाँति सद्गुरु शिष्यके मानसिक रोगोंका तारतम्य समझकर तदनुसार मन्त्र, ध्यानादिकी व्यवस्था करता है। वैद्यके यदि निदानमें चूक हुई तो

उपयुक्त औषध नहीं दे सकेगा । अतः सद्वैद्यकी ही चिकित्सा करनी चाहिये । यहाँ सद्गुरु ही सद्वैद्य है । सो सद्गुरुके पास जाकर प्रार्थना करे । यथा—

तव मैं कह्यौं कृपानिधि तुम सर्वज्ञ सुजान ।
सगुन ब्रह्म अवराधन, मोहि कहो भगवान ॥

वचन बिस्वासा—भाव यह कि गुरुका लक्षण कहकर अधिकारी शिष्यके विषयमें कहते हैं । शिष्यको गुरुके वचनपर विश्वास होना चाहिये, क्योंकि 'कौनिहु सिद्धि न बिनु बिसवासा' बिना विश्वासके कोई सिद्धि हो ही नहीं सकती । यदि विश्वास न हुआ तो गुरु करना ही व्यर्थ है ।

संजम यह—भाव यह कि रोगके अनुसार वैद्य संयमका विधान करते हैं । रोगी निर्बल है तो उसका स्नान रोक दिया जाता है, किसी रोगीका नियत समयके लिये भोजन रोक दिया जाता है, अनेक प्रकारसे पथ्य कराया जाता है । सो मानसिक रोगीके लिये यही संयम है कि वह विषयकी आशा न करे । क्योंकि विषय ही कुपथ्य है, उसकी आशा रखनेवाला आरोग्यताके सुखसे वञ्चित रहेगा । रोगी विषयकी आशा छोड़कर भगवान्की आशा करे, यथा—

है तुलसीके एक गुन अवगुननिधि कह लोग ।
एक भरोसो रावरो राम रीझिबे जोग ॥
(दोहावली)

न बिषयकै आसा—विषयकी आशा रखनेसे चित्तवृत्ति विषयकी ओर रहेगी, रामकी ओर नहीं हो सकेगी । अतः कोई दवा काम नहीं कर सकेगी । विषयकी आशा त्यागते ही चित्त सिमिटकर भगवान्की ओर आ जावेगा । अतः विषयकी आशा त्यागना ही यहाँ संयम है । फिर तो दवा देनेकी देर है, असर होते देर नहीं लगेगी ।

रघुपति भगति सजीवनि मूरी।
अनूपान श्रद्धा अति रूरी॥

अर्थ–रघुपतिभक्ति ही संजीवनी बूटी है, और अति सुन्दर श्रद्धा ही अनुपान है।

सजीवनि मूरी–भाव यह कि सजीवनि मूरि पावन पर्वतपर मिलती है; उसे सब वैद्य नहीं पहचानते, सद्वैद्य ही पहचानते हैं। यह मूरि असाध्य रोगोंका प्रशमन करनेमें समर्थ है। रोगोंके लिये अवधि है, जिसका उल्लंघन कर जानेपर रोग असाध्य हो जाते हैं। सो ये मानसिक रोग न जाने कितने जन्मके हैं। ये सब-के-सब असाध्यरूपसे ही मनमें अवस्थित हैं। सिवा सजीवनि मूरिके अन्य कोई औषध इनको दूर करनेमें समर्थ नहीं है। इस मूरिके भी सजातीय और स्वगत भेद हैं। किस रोगीपर किसका प्रयोग किया जायगा, इस बातका निर्णय सद्वैद्य ही करेगा और उसीके पास सब प्रकारकी संजीवनी बूटीका संग्रह होना सम्भव है।

रघुपति भगति–भाव यह कि सगुण ब्रह्म रामकी संजीवनी भक्ति वेद-पुराणरूपी पावन पर्वतोंपर मिलती है। सद्वैद्य सद्‌गुरु ही जानते हैं। रामरहस्य उपनिषद्‌में विस्तारके साथ वर्णन है। अनेक प्रकारके मन्त्र हैं और प्रत्येक मन्त्रके ध्यान पृथक्-पृथक् कथित हैं। और भी उपनिषदों तथा पुराणोंमें मन्त्र तथा ध्यानोंका वर्णन है, अनुष्ठान-विधि कथित हैं, उन्हींके पास इन सबका संग्रह है। वे ही जानते हैं कि कौन-सा मन्त्र किस प्रकृतिके पुरुषके लिये अनुकूल होगा। सिवा संजीवनि मूरि रघुपति-भक्तिके और कोई उपाय ऐसे मानसिक रोगीके हृदयमें मरी-सी पड़ी हुई भक्तिको जीवनदान करनेमें समर्थ नहीं है। काम-क्रोधादि रोगोंसे ग्रस्त मनुष्यको मन्दाग्नि होती है, उसे नवधा भक्तिकी ओर रुचि ही नहीं होती, भक्ति-चिन्तामणिकी ओर वह कब जाने लगा? अतः पहले उसे

नीरोग करके उसकी अग्नि बढ़ानी चाहिये, जिसमें वह भोजनरूपी नवधा भक्तिका सेवन करने लगे। तब कुछ दिनोंमें साधु-सङ्गति करते-करते रामकथाश्रवण करते-करते उसे भक्ति-चिन्तामणिकी भी प्राप्ति हो जायगी। इस समय उसे संजीवनी भक्ति राममन्त्रदीक्षाकी आवश्यकता* है, यथा—

राम मंत्र मोहि द्विज वर दीन्हा। सुभ उपदेस बिबिध बिधि कीन्हा।

सो मन्त्रदीक्षा तथा शुभ उपदेश गुरुकृपा है, उन उपदेशोंपर विश्वास करनेसे शास्त्रकृपा भी हो जाती है, नीरोग होनेके लिये तन-मन-धनसे प्रयत्न करना ही आत्मकृपा है। मन्त्रजप करने तथा रामपर दृढ़ विश्वास रखनेसे रामकृपा भी हो जायगी; तब रोग नष्ट हो जायँगे।

अनूपान श्रद्धा अति रूरी—अति रूरी श्रद्धाका अर्थ है शुद्ध सात्त्विकी श्रद्धा। शुद्ध सात्त्विकी श्रद्धाके साथ दीक्षाग्रहण तथा अनुष्ठान ही अनुपान है। अनुपान ही औषधके प्रभावको यथेप्सित कार्य करनेमें प्रवृत्त करता है।

एहि बिधि भले ही रोग नसाहीं।
नाहि त जतन कोटि नहिं जाहीं ॥६६॥

अर्थ—इस विधिसे सुभीतेके साथ रोग नष्ट होते हैं, नहीं तो कोटि यत्नसे भी नहीं जाते।

एहि बिधि—भाव यह कि असाध्य रोगोंसे ग्रसित मन भक्ति करनेमें सर्वथा असमर्थ है। अतः रोगोंके दूर करनेके लिये उसे सद्गुरु-द्वारा राममन्त्रकी दीक्षा लेनी चाहिये, गुरुके उपदेशपर विश्वास करके चलना चाहिये, विषयकी आशा त्याग देनी चाहिये, सात्त्विकी श्रद्धाके साथ अनुष्ठान करना चाहिये, यही विधि है।

---

* बेगि बिलंब न कीजिये, लीजिय उपदेस।
महा मंत्र सोइ जपिये, जेहि जपत महेस॥ (वि० प०)

भले ही रोग नसाहीं–भाव यह कि यह सुकर साधन है, इससे भलीभाँति रोग नष्ट हो जाते हैं। 'भले ही' देहली-दीपक न्यायसे रोगके साथ रहकर साधनसौकर्यका अर्थ देगा, और नसाहींके साथ रहकर निर्मूल नाशका अर्थ देगा। अन्य साधन दुष्कर हैं, और उनसे रोग निर्मूल भी नहीं होते।

नाहि त जतन कोटि नहिं जाहीं–भाव यह कि श्रोत्रिय ब्रह्म-निष्ठकी दी हुई दीक्षा अमोघ है। उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता भगवान् शङ्करसे दीक्षा पाकर ही काशीमें जीवकी मुक्ति होती है, यथा—

कासी मरत जन्तु अवलोकी। जासु नामबल करौं असोकी॥

सात्त्विकी श्रद्धाके साथ दीक्षानुसार अनुष्ठान करनेसे काम-क्रोधादि नष्ट होते हैं, भक्ति जाग उठती है। भक्तिके जाग उठनेपर फिर काम-क्रोधादिसे भय नहीं रह जाता। भक्तके सामने सदा सगुण ब्रह्मकी दिव्यातिदिव्य कल्याणमयी मूर्त्ति रहती है, स्थूल विषय उसे नहीं जँचते। अतः विषयद्वारा काम-क्रोधका बल चल जाता है।

जानिअ तब मन बिरुज गोसाईं।
जब उर बल बिराग अधिकाई॥

अर्थ–तब मनको नीरोग समझना जब हृदयमें विराग-का बल बढ़े, हे गोसाईं!

गोसाईं–भाव यह कि आप स्वामी हैं; आपके मनका नीरोग होना सेवकोंको इष्ट है। अतः मैं मनके नीरोग होनेकी पहचान आपको बतलाये देता हूँ। इसीसे आप अनर्थसे बच सकेंगे, नहीं तो मनके रोगी होनेका पता किसीको नहीं चलता।

तब मन बिरुज जानिअ–भाव यह कि जबतक रोग है तभीतक

निर्बलता है; रोगके हटनेपर बल आनेमें देर नहीं लगेगी । सो बलका बढ़ना ही रोग हटनेका असाधारण लक्षण है ।

बल बिराग–भाव यह कि शरीरका बल और हृदयका बल ये दो पृथक् वस्तुएँ हैं । बड़े भारी बलवान्का हृदय निर्बल हो सकता है, और बड़े निर्बलका भी हृदय सबल हो सकता है । हृदयका बल वैराग्य है । यही परमबल है । अकेले वैराग्य मोहका नाश करनेमें समर्थ है, यथा–

प्रबल बैराग्य दारुन प्रभंजन तनय बिषय बन दहनमिव धूमकेतू ।

(विनयपत्रिका)

उर अधिकाई–भाव यह कि साधारण वैराग्यके बिना तो मानसिक रोगी रोगसे छूटना ही नहीं चाहेगा । वह दीक्षा लेनेके लिये क्यों प्रवृत्त होगा ? सो वह प्रारम्भिक वैराग्य स्वधर्माचरणसे होता है उसके होनेपर मनुष्यको भगवत्-धर्ममें अनुराग होता है । तब दीक्षादि प्रक्रिया चलती है । यथा—

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती । निज निज धर्म निरत श्रुतिरीती ॥
तेहिकर फल पुनि बिषय बिरागा । तब मम धर्म उपज अनुरागा ॥

सो स्वधर्माचरणके बिना तो न ज्ञान ही हो सकता है न भक्ति ही। अतः यहाँपर 'अधिकाई' का अर्थ यह है कि वह प्राथमिक वैराग्य जब पुष्ट हो तब समझना चाहिये कि रोग नष्ट हो रहा है । यदि दीक्षापूर्वक अनुष्ठानसे वैराग्य नहीं बढ़ा तो समझ लेना चाहिये कि अभी रोग बना है, अनुष्ठान ठीक नहीं हो रहा है ।

सुमति छुधा बाढ़ै नित नई ।
बिषय आस दुर्बलता गई ॥६७॥

अर्थ–सुमतिरूपी भूख नित्य नयी बढ़ने लगी और विषयाशारूपी दुर्बलता चली गयी !

सुमति छुधा–भाव यह कि जिस भाँति भौतिक शरीरमें भूख है, उसी भाँति मानसिक शरीरमें सुमति है। यही भजनके लिये जलन पैदा करती है, और यही भजनका परिपाक करके विरागरूपी बल बढ़ाती है। सञ्जीवनी भक्ति कुमतिका नाश करके सुमति बढ़ाती है, और ज्यों-ज्यों सुमति बढ़ती है त्यों-त्यों भजनके लिये अधिक जलन पैदा होती है, और भजनका पाक होकर वैराग्य-बल बढ़ता है।

बाढ़ै नित नई–रोगीके रोगविनिर्मुक्त होनेपर भूख बड़ी जोरसे लगती है, नित्य प्रति उसका भोजन बढ़ता चला जाता है, और जबतक उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं हो जाता तबतक यही दशा रहती है। इसी भाँति मानसिक रोग नष्ट होनेपर भजनकी ओर मन दौड़ता है, विषयसे मन हटता चला जाता है, जबतक कि मन स्थिर होकर रामचरणोंमें नहीं लग जाता।

बिषय आस दुर्बलता–भाव यह कि 'विषयकी आशा' तो संयमके समयसे ही छोड़ रक्खी थी, पर वह गयी नहीं थी, उसे हटानेके लिये प्रयत्न करना पड़ता था। अब वैराग्य बल बढ़नेसे वह आप-से-आप चली गयी। मनका बल वैराग्य है, और दुर्बलता विषयकी आशा है। यही दुर्बलता सब रोगोंका घर है।

बिमल ग्यान जल जब सो नहाई।
तब रह रामभगति उर छाई॥

अर्थ–निर्मल ज्ञान जलसे जब वह (रोगी) नहाता है, तब रामभक्ति उसके हृदयमें छा जाती है।

बिमल ग्यान जल–भाव यह कि संशयरहित ज्ञान ही गुरुके उपदेशका फल है, यथा—

होइ न बिमल बिबेक उर गुरुसन किये दुराव।

यह निर्मल ज्ञान संतके हृदयमें रहता है, यथा—'संत हृदय जस निर्मल बारी।'

जब सो नहाई-भाव यह कि जबतक भजन करते-करते मनमें प्रबल वैराग्य न हो जाय तबतक निर्मल ज्ञानका वह अधिकारी ही नहीं है। 'वह' से अभिप्राय यहाँ रोगी जीवसे है, यथा—

एहि विधि सकल जीव जग रोगी। सोक हर्ष भय प्रीति वियोगी॥

रोगीके लिये नहाना अपथ्य है; इसी भाँति विषयी जीवके लिये ज्ञान हानिकारक है। पहले वह कुछ अच्छा होनेपर गरम जलमें अंगोछा भिगोकर शरीर पोंछ लेता था, पर अब भलीभाँति रोगविनिर्मुक्त तथा पुष्ट देखकर वैद्यने उसे रोगविनिर्मुक्त स्नान कराया, अर्थात् गुरुजीने ज्ञानोपदेश किया। ज्ञानोपदेशसे उसका मल, शोक, हर्ष, भय, प्रीति, वियोग सब मिट गया; यथा—

सोक निवारेउ सबन्हकर, निज विज्ञान प्रकास।

ज्ञानका कथन, श्रवण, आनन्दपुलक यही नहाना है, यथा—

कहहिं सुनहिं हर्षहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥

तब रढ़ रामभगति उर छाई-तब सिद्धिभक्ति हृदयमें छा जाती है। छा जानेका अर्थ है बसना, यथा—'रहिहौं निकट सैलपर छाई।' अर्थात् तब रामभक्ति हृदयमें घर कर लेती है। और जब भक्ति बस गयी तब मायाकी प्रभुता नहीं चलती। ज्ञानीके हृदयमें ही भक्तिका निवास रहता है। सङ्कीर्ण हृदयमें भक्ति नहीं रहती। भक्ति होनेमें ही परमानन्द है, यथा—

सेवत साधु द्वैत भय भागै। श्रीरघुबीर-चरन लय लागै॥
अनुराग सों निज रूप जो जगते बिलच्छन देखिये।
संतोष, सम, सीतल, सदा दम, देहवंत न लेखिये॥
निरमल, निरामय, एकरस, तेहि हरष-सोक न ब्यापई।
त्रैलोक-पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥

जो तेहि पंथ चलै मन लाई । तौ हरि काहे न होहिं सहाई ॥

पावै सदा सुख हरि-कृपा, संसार आसा तजि रहै ।
सपनेहुँ नहीं दुख द्वैत-दरसन, बात कोटिक को कहै ॥
द्विज, देव, गुरु, हरि, संत बिनु संसार-पार न पाइये ।
यह जानि तुलसीदास त्रासहरन रमापति गाइये ॥

(विनय०)

सिव अज सुक सनकादिक नारद ।
जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद ॥ ६८ ॥

अर्थ—शिव, ब्रह्मा, शुक, सनकादि (और) नारद, जितने मुनि ब्रह्मविचारमें विशारद हैं ।

सिव अज-भाव यह कि वेदप्रतिपादित देवता शिव, सबके गुरु, आदि ज्ञानदाता, यथा—

तुम त्रिभुवन गुरु बेद बखाना । आन जीव पामर का जाना ॥

ब्रह्मदेव, भवसागरके रचयिता, जिनका लिखा किसीके मेटे नहीं मिटता, यथा—

बंदौ बिधि पद रेनु भवसागर जेहि कीन्ह जहँ ।
संत सुधा ससि धेनु प्रगटे खल बिष बारुनी ॥
························जो बिधि लिखा लिलार ।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार ॥

सुक सनकादिक—शुकदेवजी व्यासजीके गर्भज्ञानी पुत्र थे, जिनके आनेपर उनके पिता व्यास, पितामह पराशर, वृद्ध प्रपितामह वसिष्ठ भी ज्ञानज्येष्ठ होनेके कारण उनका सम्मान करते थे । सनकादिसे सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार चारों भाइयोंसे अभिप्राय है । शुक, सनकादि, सिद्ध, मुनि, योगी तथा जीवन्मुक्त थे, यथा—

सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी । नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी ॥

नारद–ब्रह्मदेवके पुत्र, जिनका वचन कभी अन्यथा नहीं हो सकता था, यथा—

बरु पावक प्रगटै ससि माहीं। नारद बचन अन्यथा नाहीं॥

जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद–भाव यह कि 'शिव अज शुक सनकादिक नारद' प्रसिद्ध ब्रह्मविचारविशारद हैं। यदि इतना ही कहकर रहने दिया जाता तो सन्देह उठता कि सम्भव है, अन्य ब्रह्म-विचारविशारदोंसे इनका मत-भेद हो, अतः कहा कि ये ही नहीं जितने मुनि ब्रह्मविचारमें पण्डित हैं, वे सब। अर्थात् इस विषयमें कहीं मतभेद नहीं है।

सबकर मत खगनायक एहा।
करिअ राम-पद-पंकज नेहा॥

अर्थ–हे खगनायक! सबका यही मत है (कि) रामके चरणकमलोंमें प्रेम करना चाहिये।

एहा सबकर मत–भाव यह कि शङ्कर, ब्रह्मदेव, शुकदेव, सनकादि, नारदादि जितने ब्रह्मविशारद मुनि हैं, उन सभीका यह मत है—

शङ्करमत—यथा—

बहुरोग बियोगन्हि लोग हए। भवदंघ्रि निरादरके फल ए॥
एहिते तव सेवक होत मुदा। मुनि त्यागत जोग भरोस सदा॥

ब्रह्मदेवमत—यथा—

धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥

सर्वमत—यथा—

सुक सनकादि प्रह्लाद नारदादि कहै, रामकी भगति बड़ी बिरत निरत॥
(विनय॰)

खगनायक–सम्बोधनसे भाव यह कि आप पक्षियोंके राजा हैं, राजाओंके यहाँ सबके मतका विशेष आदर होता है।

राम-पद-पंकज—भाव यह कि राम आनन्दसिन्धु हैं, राम सुखकी राशि हैं। उसी आनन्द-सिन्धुके बिन्दुसे शङ्कर तथा ब्रह्मदेवकी प्रभुता है, यथा—

जेहि सुख सुधासिंधु सीकरते, सिव बिरंचि प्रभुताई।

(विनय०)

सगुण निर्गुणमें कोई भेद नहीं है, यथा—

जो गुनरहित सगुन सो कैसे। जल हिम उपल बिलग नहि जैसे॥
एक दारुगत देखिय एकू। पावक जुग सम ब्रह्म बिबेकू॥

नेहा करिअ—भाव यह कि उनके चरणकमलोंमें प्रेम करनेसे सब सुख तुरन्त सुलभ होते हैं। अतः उन्हींके चरणोंमें प्रेम करना चाहिये, यथा—

राम चरन अभिराम कामप्रद तीरथराज बिराजै।
संकर हृदय भगति भूतलपर प्रेम अछयबट भ्राजै॥
स्याम बरन पद पीठ अरुन तल, लसति बिसद नखश्रेनी।
जनु रबिसुता सारदा सुरसरि मिलि चली ललित त्रिबेनी॥
अंकुस कुलिस कमल धुज सुन्दर भँवरतरंग बिलासा।
मज्जहिं सुर सज्जन मुनिजन मन मुदित मनोहर बासा॥
बिनु बिराग जप जाग जोग ब्रत बिनु तप बिनु तनु त्यागे।
सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभु पद प्रयाग अनुरागे॥

(गीतावली)

भक्तिको सुखका असाधारण कारण अन्वय मुखसे कहकर, अब उसी बातको व्यतिरेक मुखसे कहते हैं—

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं।
रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥ ६६॥

अर्थ–वेद, पुराण (और) सब ग्रन्थ कहते हैं कि रघुपतिकी भक्तिके विना सुख नहीं है।

श्रुति पुरान सब ग्रंथ–भाव यह कि श्रुति स्वतः प्रमाण है, पुराण आर्षग्रन्थ होनेसे परतः प्रमाण है, और भी ग्रन्थ काव्यादि जो पाखण्डवादी नहीं हैं, वे सब सद्ग्रन्थ हैं, यथा—

जिमि पाखंड विवादते लुप्त होहिं सदग्रंथ।

सो यहाँ सब ग्रन्थसे सब सद्ग्रन्थ ही अभिप्रेत हैं।

कहाहीं–भाव यह कि सब एक स्वरसे कहते हैं। पहले कह आये हैं कि सभी आप्तोंका मत है कि रामपदपंकजमें प्रेम करना चाहिये, और अब कह रहे हैं कि सब 'आप्तवाक्य' का भी यही अभिप्राय है कि विना हरिभक्ति सुख नहीं।

रघुपति भगति विना–भाव यह कि विना सगुण ब्रह्मकी आराधनाके अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती। कर्मकाण्डसे स्थूल मलकी निवृत्ति होती है; पर सूक्ष्म मल ध्यानसे नष्ट होता है। ध्यान सगुण ब्रह्मका ही होता है; अतः विना सगुण ब्रह्मकी उपासनाके सूक्ष्म मल नहीं जा सकता; और जबतक चित्त मलिन है, तबतक आनन्दका प्रतिबिम्ब ठीक नहीं पड़ सकता, और न शान्त होकर अपनेमें स्थित हो सकता है। अतः योगानन्द नहीं मिल सकता।

सुख*नाहीं–भाव यह कि आनन्दके पाँच भेद हैं—(१) योगानन्द, (२) आत्मानन्द, (३) अद्वैतानन्द, (४) विद्यानन्द

* यहाँ पाँच बार सुखका निषेध किया है, यथा—(१) सुख नाहीं, (२) जीव न लह सुख, (३) न जीव सुख पावै, (४) सुख पाव न कोई और (५) न भव तरिअ। दूसरेमें तीन दृष्टान्त, फिर तीसरेमें तीन दृष्टान्त, चौथेमें एक और पाँचवेंमें दो दृष्टान्त दिये हैं। यहाँपर वेदान्तकथित पाँचों आनन्द विना माने अर्थ नहीं बनता।

और (५) विषयानन्द । सो योगानन्द विना रघुपतिकी भक्तिके नहीं हो सकता ।

कमठ पीठ जामहिं बरु बारा ।
बन्ध्यासुत बरु काहुहिं मारा ॥

अर्थ-(चाहे) कछुएकी पीठमें बाल जमे (चाहे) बाँझका बेटा किसीको मारे ।

कमठ पीठ-भाव यह कि कछुएकी पीठमें हड्डी-ही-हड्डी होती है, उसमें बाल नहीं जम सकता । जिस जीवको कछुआ कहते हैं, उसकी पीठ देह होनेसे मिथ्या आत्मा है । जिसमें भेद हो और मालूम न पड़े (दिखायी न दे) वह मिथ्या आत्मा है । यहाँ शरीरोंमें और आत्मामें भेद है, परन्तु दिखायी नहीं पड़ता, इसलिये शरीर मिथ्या आत्मा है ।

जामहिं बरु बारा-बाल चमड़ेमेंसे निकलता है, हड्डीसे नहीं—कछुएकी पीठ हड्डी है, उसमेंसे बाल चाहे निकल पड़े, अर्थात् इस प्रकारकी अनहोनी हो जाय । भाव यह कि कछुएको यों ही बाल नहीं होता फिर पीठपर कैसे हो सकता है । इसी भाँति मिथ्या आत्मासे सुख नहीं हो सकता ।

बन्ध्यासुत-भाव यह कि पुत्र गौण आत्मा है । जिसमें भेद स्पष्ट हो और गुण मिले उसे गौण आत्मा कहते हैं । जैसे 'यह बालक सिंह है' यहाँपर बालक और सिंहका भेद स्पष्ट है, परन्तु क्रौर्य-शौर्यादि गुण मिलते हैं । इसी भाँति पुत्र गौण आत्मा है । सो पुत्र होनेसे फिर स्त्री वन्ध्या नहीं कहला सकती, अतः वन्ध्याको पुत्र ही नहीं हुआ ।

बरु काहुहिं मारा-भाव यह कि जब पुत्र नहीं हुआ तो उसने मारा कैसे ? उसका मारना महा असम्भव है । इसी भाँति गौणात्मासे भी सुख पाना महा असम्भव है, यथा—

सुत बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबहीते ।

(विनय०)

फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला ।
जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला ॥७०॥

अर्थ-(चाहे) आकाशमें अनेक प्रकारके फूल फूलें, पर जीव हरिके प्रतिकूल सुख नहीं पाता।

नभ फूलहिं-भाव यह कि नभ मुख्यात्मा कहते हैं, इसी लिये नभसे उपमा दी। नभ और मुख्यात्मा (साक्षी) में निर्लेपता साधारण धर्म है। विषय प्रिय है और वह (आत्मा) प्रियतम है। पुत्र, मित्र, कलत्र, धनादि प्रिय हैं, पर साक्षी आत्मा सबसे प्रिय है, उसके लिये होनेसे ये भी प्रिय होते हैं। उसमें परिणाम होना आकाशमें फूल फूलनेके समान असम्भव है।

बरु बहुबिधि फूला-भाव यह कि अन्तःसाक्षी राम ही हैं, यथा—'प्रगट कीन्ह चह अन्तर साखी।' उसका एक परिणाम भी असम्भव है, अनेक प्रकारके परिणाम क्या होंगे?

हरि प्रतिकूला-भाव यह कि संसारके अधिष्ठानको हरि कहते हैं, यथा—'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई।' उसके प्रतिकूल होनेका तात्पर्य यह है कि उसकी ओर मन न लगाकर दूसरी ओर लगाना अर्थात् बहिर्मुख होना।

जीव न लह सुख-भाव यह कि तीनों आत्मा जीवके रूप हैं—(१) मिथ्यात्मा, (२) गौणात्मा और (३) मुख्यात्मा। मिथ्यात्मा कभी सुखद नहीं होता और न गौणात्मा सुख दे सकता है; सो ये भी चाहे सुखद हो जायँ, पर हरिके विमुख होनेसे जीवको सुख नहीं होता। क्योंकि बहिर्मुखको तो मुख्यात्मासे भेंट ही नहीं होती, उसे सुख हो तो

कहाँसे हो ? इससे यह कहा कि भक्तिविहीनको आत्मानन्द भी नहीं मिलता ।

तृषा जाइ बरु मृगजलपाना ।
बरु जामहि सससीस बिषाना ॥

अर्थ-(चाहे) मृगजलपानसे तृषा (प्यास) चली जाय (और चाहे) खरगोशके सिरमें सींग जम जाय ।

मृगजल-भाव यह कि मरुभूमिमें जब दुपहरिया चमकती है, तो वहाँ तरंग-प्रवाहके सहित नदीका भान होता है । जहाँ तीन कालमें जल नहीं, वहाँ पानी-ही-पानी नजर आता है । प्यासे मृग तो जल पीनेके लिये उधर दौड़ते हैं, और आशापाशमें बँधे हुए थकावट और प्याससे मर जाते हैं । इसीलिये इस मरुमरीचिकाको मृगजल कहते हैं । मायाकी उपमा इसी मृगजलसे दी जाती है । मायामें भी इसी भाँति आनन्दकी मिथ्या प्रतीति होती है, वस्तुतः इसमें आनन्द नहीं, यह दुःखरूपा है, आनन्दाभिलाषी इसीमें आनन्दप्राप्तिका प्रयत्न करते-करते दुःख पा-पाकर मर जाते हैं, कभी सुख नहीं मिलता । इस दृष्टान्तसे मायाको दुःखरूपा, मिथ्या और जड कहा । मरुमरीचिकामें जलकी भाँति ब्रह्ममें मायाके भ्रमको विवर्त्तवाद कहते हैं, यथा—

तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ ।
निज सहज अनुभव रूप खल तू भूलि अब आयो कहाँ ॥

पाना तृषा जाइ—भाव यह कि मिथ्या जलके पानसे प्यास नहीं जाती । एक तो मरुमरीचिकामें जल नहीं, फिर पीना बन नहीं सकता, और उसपर उससे तृप्ति कहना महा असम्भवको सम्भव मानना है ।

सससीस बिपाना—भाव यह कि बड़े बड़े पाँच नखवालोंको तो सींग होती ही नहीं, खरगोशको कहाँसे होने लगी ? खरगोशको न सींग है और न होगी और न प्रतीत होती है, अतः खरगोशको सींग

होना मिथ्या ही नहीं, बल्कि असत् है। यही अजातवाद है। ब्रह्मलीन विज्ञानीके लिये जगत् तीन कालमें शशविषाणकी भाँति हुआ ही नहीं और न प्रतीत होता है।

बरु जामहि–भाव यह कि जिसमें जो वस्तु स्वभावसे प्राप्त नहीं है उसमें वह वस्तु नहीं होती। अतः खरगोशको सींग होना नितान्त असम्भव है। इससे मायाको असत् कहकर अजातवाद कहा।

अंधकारु बरु रबिहि नसावै।
रामबिमुख न जीव सुख पावै ॥७१॥

अर्थ–(चाहे) अन्धकार सूर्यका नाश कर दे, पर रामके विमुख होकर जीव सुख नहीं पाता।

अन्धकार* रबिहि–भाव यह कि अन्धकार कोई वस्तु नहीं है, प्रकाशाभावको ही अन्धकार कहते हैं। इसी भाँति अज्ञान कोई वस्तु नहीं है, ज्ञानाभावको ही अज्ञान कहते हैं। पर व्यवहारमें अन्धकार भी भाव पदार्थ है, वास्तव है। परन्तु यह बात निर्विवाद है कि प्रकाश आनेपर अन्धकारका ऐसा नाश होता है कि कहीं उसका लेश भी नहीं रह जाता। अन्धकारका नाश करनेमें दीप और चन्द्र भी समर्थ हैं, पर इन्हें ऐसा करनेमें आयास होता है। सूर्यको अन्धकारका नाश करनेमें आयास नहीं होता; यथा—'उदय भानु बिनु श्रम तमनाशा।' जहाँ सूर्य है वहाँ रात्रिका लवलेश भी नहीं है, अन्धकार कभी सूर्यके सामने जानेमें भी समर्थ नहीं है।

बरु नसावै–भाव यह कि नियम यह है कि सूर्य अन्धकारका नाश अनायास करते हैं। सो अन्धकारका सूर्यको नष्ट करना असम्भवसे भी असम्भव है।

---

* लोकदृष्टिसे माया वास्तवी है, शास्त्रदृष्टिसे असत् है, और युक्तिसे मिथ्या (अनिर्वचनीया) है। चाहे जिस दृष्टिसे मायाकी उपासना करे, सुख नहीं मिल सकता।

राम विमुख जीव–भाव यह कि राम सच्चिदानन्द सूर्य हैं, और मोह (अविद्या) अन्धकार है। अतः रामके विमुख होकर जीव असत्, अचित् और निरानन्द मायामें जा पड़ेगा। जो मिथ्या है, असत् है, उसकी गिनती नहीं, गिनती सच्ची वस्तुओंकी होती है। अतः राम अद्वैत हैं, यथा—

अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरामि नरभूप रूपं।

अतः रामसे विमुख जीव द्वैतरूपी दुःखमें आ पड़ता है, यथा—

द्वैतरूप तमकूप परौं नहि अस कछु जतन विचारो।

न सुख पावै–भाव यह कि मृगजल, शशशृङ्ग तथा मोहान्धकारमें पड़े हुए जीवको सुख मिलना महा असम्भव है। तिसपर भी यदि वह रामके विमुख हुआ तब तो कभी भी सुखकी आशा नहीं की जा सकती। उसे अद्वैतानन्द कभी नहीं मिल सकता।

हिमते अनल प्रकट बरु होई।
विमुख राम सुख पाव न कोई ॥७२॥

अर्थ-(चाहे) पालासे अग्नि प्रकट हो (पर) रामविमुख कोई सुख नहीं पाता।

हिमि ते अनल–भाव यह कि पालाका स्वभाव ठण्ढा है, और अग्निका स्वभाव गरम है। अग्निका स्वभाव पालेसे विलक्षण है। अतः पाला अग्निके समीप नहीं जाता, यथा—

तात अनलकर सहज सुभाऊ। हिमि तेहि निकट जाइ नहि काऊ।

अनलसे जलकी उत्पत्ति हुई है, और जलकी जड़ीभूतावस्था ही हिम है। सो हिमसे अग्नि नहीं प्रकट हो सकती।

प्रकट बरु होई–भाव यह कि चाहे ऐसी असम्भव घटना भी घट जाय। हिमका स्वभाव जड़ है, यथा 'जड़ता जाड़ विषम उर

लागा।' अतः यहाँ जड़ मायाकी उपमा हिमसे दी है। इससे विलक्षण स्वभाववाली अग्निकी उपमा चेतनसे दी गयी है। चेतन सुखरूप है, माया दुःखरूपा है। सो दुःखरूपा मायासे चाहे सुख मिल जाय।

परमात्मा और आत्माके बीचमें पड़कर मायाने ही दोनोंको अलग कर रक्खा है, अर्थात् शरीर त्रितयात्मक होकर इसने आत्माको जीव, और नामरूपात्मिका होकर निर्गुणको सगुण बना रक्खा है, यथा—ब्रह्म जीव बिच माया जैसी। सो योगसे माया और आत्माका विवेक हो जानेसे द्वैतभय भाग जाता है, और दुःखाभाव, कामाप्ति, कृतकृत्यता तथा कृतार्थता होती है, यही विद्यानन्द है। सो मायासे विद्यानन्द-सुखका उत्पन्न होना असम्भव है।

विमुख राम-भाव यह कि रामके सम्मुख होनेपर (योगसे) ही विद्यानन्दकी आशा हो सकती है। जो रामसे भी विमुख हो गया, उसके किये तो योग होगा ही नहीं, वह माया-ब्रह्मका विवेक ही नहीं कर सकता।

सुख पाव न कोई-भाव यह कि उसका विद्यानन्द सुख पाना और भी अधिक असम्भव है। 'कोई' कहनेका भाव यह कि उसे योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द, अथवा विद्यानन्दमेंसे कोई भी नहीं मिलता। अथवा 'सुख' का विशेषण न मानकर 'पाव' का कर्त्ता माना जाय तो यह अर्थ होगा कि चाहे कोई कैसा ही समर्थ हो, कैसा ही साधक हो, वह सुख नहीं पा सकता।

दो०—बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धान्त अपेल॥

अर्थ—जलका मन्थन करनेपर चाहे घी निकले, बालूसे चाहे तेल निकले, पर बिना हरिभजन संसार-तरण नहीं हो सकता, यह अटल सिद्धान्त है।

बारि मथे–भाव यह कि अब विषयानन्द शेष रहा, उसीके बारेमें कहते हैं। सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियाँ ही सुख-दुःख-मोहात्मिका होकर शान्ता, घोरा और मूढा नामसे अभिहित होती हैं। वैराग्य, क्षान्ति, औदार्यादि शान्त वृत्तियाँ हैं, तृष्णा, स्नेह, राग, लोभादि घोर वृत्तियाँ हैं, और सम्मोह, भयादि मूढ़ वृत्तियाँ हैं। इनमेंसे निर्मलताके कारण शान्तामें ब्रह्मका सुखांश भी प्रतिविम्बित होता है, और घोरा-मूढामें केवल सत्तांश और चिदंश ही प्रतिविम्बित होता है। अतः घोरा-मूढामें सुख नहीं। यहाँ जलकी उपमा घोरा वृत्तिसे दी गयी है, क्योंकि जलका प्रच्यवनशील स्वभाव होता है।

बरु होइ घृत–भाव यह कि घोरावृत्तिसे चाहे जैसा काम लिया जाय, उसका मन्थन कर दिया जाय पर उससे सुख नहीं निकल सकता, क्योंकि जो जिसमें रहता है, उद्योग करनेपर भी वही निकलता है। घोरा-वृत्तिमें सुखांशकी झलक भी नहीं है, अतः उससे सुख होना असम्भव है।

सिकता ते बरु तेल–भाव यह कि सिकताके स्थूलतर होनेके कारण उसे मूढा वृत्तिसे उपमित किया। तिलमें तेल पहलेसे रहता है, अतः उसे पेरनेसे तेल निकलता है, बालूमें नहीं होता है, इसीलिये उसे पेरनेसे तेल नहीं निकलता। इसी भाँति घोरा वृत्तिसे भी सुख मिलना असम्भव है। सो घोरा और मूढ़ा वृत्तियोंसे यों ही सुख मिलनेवाला नहीं, बिना भजनके तो और भी असम्भव है।

बिनु हरि भजन न भव तरिअ–भाव यह कि शान्ता वृत्तिसे निस्सन्देह क्षणिक सुख मिल जाता है, और वह भी इसी कारणसे कि उसमें सच्चिदानन्द रामकी एक झलक (प्रतिविम्ब) पड़ जाती है, पर उस सुखसे कोई उपकार नहीं होता, पूर्ण सुख अथवा भूमा सुख तो भवसन्तरण करनेपर ही मिलेगा। सो यह क्षणिक सुख ही तो जीवको संसारमें बझाये हुए है, इससे भवसन्तरण नहीं हो सकता। अतः शान्ता वृत्तिको स्थिर करनेके लिये हरिभजन करना होगा, इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं।

यह सिद्धान्त अपेल–भाव यह कि ज्ञानकी सिद्धिमें भी व्यभिचार है, साधनभक्तिसे सुलभताके साथ ज्ञानसिद्धि हो सकती है। अतः उस सिद्धान्तको 'अपेल' नहीं कहा, यथा—'कह्यौं ज्ञान सिद्धांत बुझाई'। पर भक्ति नहीं हटायी जा सकती है, उसे हटानेपर सब साधन ही व्यर्थ पड़ जाते हैं, इसीलिये कहते हैं कि 'यह सिद्धान्त अपेल'।

दो०—मसकहिं करै बिरंचि प्रभु, अजहिं मसक ते हीन।
अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रबीन॥

अर्थ–प्रभु मच्छरको ब्रह्मा बनाता है, और ब्रह्माको मच्छर-से भी छोटा कर देता है, ऐसा विचारकर संशयरहित हो जानकार लोग रामको भजते हैं।

मसकहिं बिरंचि–भाव यह कि चेतन जीवोंमें ब्रह्मदेवकी अपेक्षा कोई बड़ा नहीं है ये ही सबके स्रष्टा हैं और जड़ जीवोंमें सबसे छोटा मच्छर समझा जाता है। गूलरके भीतर रहनेवाले जन्तुको भी मच्छर कहते हैं, और गूलरके फलकी उपमा ब्रह्माण्डसे दी गयी है, यथा—

ऊमरितरु बिसाल तब माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥

इस भाँति ब्रह्मदेवके सृष्ट जीव मच्छर कहे गये हैं।

प्रभु करै–भाव यह कि प्रभु 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' हैं। ऐसे समर्थ हैं कि मच्छरको ब्रह्मदेव बनाते हैं। जीव ही उन्नति करता-करता ब्रह्मदेवपदको प्राप्त करता है। इसमें सन्देह नहीं कि जो इस समय ब्रह्मदेव हैं, वह किसी समय मच्छर अवश्य थे, प्रभुने रीझकर उन्हें ब्रह्मपद दिया, यथा—

बिधिहिं बिधिता हरिहिं हरिता, हरहिं हरता जिन दई।
सो जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई॥

यह उदाहरण 'कर्तुं समर्थः' का हुआ।

अजहिं मसक ते हीन–भाव यह कि मच्छरसे बहुत छोटे-छोटे

जीव हैं जो दिखायी नहीं पड़ते, इससे उनका नाम न देकर 'मसक ते हीन' कहा। सम्भव है कि आज जो मच्छर है वह किसी समय ब्रह्मा रह चुका हो। क्योंकि ब्रह्मपदसे भी पतन शास्त्रोंमें सुना गया है। 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन' 'ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।' यह 'अकर्तुं समर्थः' का उदाहरण है।

अस बिचारि–भाव यह कि अनन्त कालसे इस संसारमें पड़े दुर्गति सह रहे हैं, दुःखनिवृत्तिका उपाय करते ही मर रहे हैं, पर आजतक न मुक्ति ही हुई न भक्ति ही मिली। अतः समर्थका आश्रय-ग्रहण ही अब एकमात्र उपाय है। और श्रीरघुनाथजी-सा समर्थ कोई नहीं, उन्हींके आश्रयग्रहणसे बेड़ा पार है। यथा—

कौन जोनि जनम्यौं जेहि नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं॥
हार्यौं करि सब कर्म गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिंकी नाईं॥

तजि संसय–भाव यह कि संशय छोड़नेकी वस्तु है। सब प्रकारका समाधान कर देनेपर भी यदि मनुष्य स्वयं संशय न हटावे तो वह बना ही रहता है। इसीलिये शङ्कर भगवान्‌ने कहा, 'तजि संसय भजु राम पद।'

प्रबीन रामहि भजहिं–भाव यह कि प्रवीणता रामको भजनेमें है। यदि चतुर प्रवीण होकर भी किसीने संसारको ही भजा तो उसकी चतुराई और जानकारी कहाँ रही? यथा—

झूठो है झूठो है झूठो सदा सब संत कहंत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करंत हहा है॥
जानपनीको गुमान बड़ो, तुलसीके बिचार गँवार महा है।
जानकीजीवन जान न जान्यौं तौ जान कहावत जान्यौ कहा है।

विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥

अर्थ-मैं तुमसे निश्चित बात कहता हूँ; मेरी बातें अन्यथा नहीं होतीं। जो नर हरिको भजते हैं, वे अति दुस्तरको तर जाते हैं।

तें विनिश्चितं वदामि-पूर्वके दोहेमें जिस बातको व्यतिरेक मुखसे कहा था, उसीको अब अन्वय मुखसे कहते हैं। पहिले दोहेमें कहा था कि 'बिनु हरि भजन न भव तरिअ', इसमें कहते हैं कि निश्चय तर जाते हैं। 'मैं निश्चित बात कहता हूँ' यह कहकर अपना विश्वास इस सिद्धान्तपर दिखलाया।

न अन्यथा वचांसि मे-यह सन्देह न हो कि कही हुई और बातें निश्चित नहीं थीं, इसलिये कहते हैं कि मेरे वचन अन्यथा होते ही नहीं, अर्थात् सब कहा हुआ यथार्थ है, पर निरूपण करनेमें तर्क तथा प्रमाणसे काम लेना पड़ता है, इस समय निर्णीत अर्थ कहता हूँ। यहाँ भुशुण्डिजी अभिमान नहीं करते हैं, शिष्यमें विश्वास उत्पन्न करनेके लिये यथातथ्य कह रहे हैं। सब हिन्दीमें कहकर सिद्धान्त संस्कृतमें कर रहे हैं।

ये नरा हरिं भजन्ति-भाव यह कि नरशरीर भवसागरके लिये बेड़ा है, यथा—'नर तन भवसागर कहँ बेरो'। सो सब बेड़े पार नहीं लगते बीचमें ही डूबते हैं; जो हरिको भजते हैं वे ही बुद्धिमान् हैं।

तेऽतिदुस्तरं तरन्ति-भाव यह कि उन्हींका बेड़ा पार है।

ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहत जड करनी॥

—कहकर जिस प्रसंगको उठाया था, उसीकी समाप्ति यह कहकर करते हैं कि 'जो हरिको भजते हैं वे ही दुस्तर समुद्रको पार करते हैं।'

पञ्चम प्रसङ्ग

परिशिष्ट

कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा।
व्यास समास स्वमति अनुरूपा॥

अर्थ—हे नाथ (मैंने) अनूप हरिचरित अपनी मतिके अनुसार विस्तार और संक्षेपसे कहा।

कहेउँ नाथ—से उत्तरकी समाप्ति दिखायी। हरि-चरित कहनेके बाद भगवान्‌का माहात्म्य, भगवत्-रहस्य, स्वकीय चरित, ज्ञानभक्तिरहस्य तथा अखिल संशयनिरसनके बाद कहते हैं कि 'हरिचरित्र' कहा। भाव यह कि हरिचरित्रके अन्तर्गत ही ये सब बातें हैं। हरिचरित्र वेदमार्गसंस्थापनके लिये होता है, अतः वेदोदित सम्पूर्ण बातें स्वयं करके उपदेशद्वारा जगत्‌के सामने जीते-जागते रूपमें रख दी जाती हैं, यथा—

जेहि कहत गावत सुनत समुझत परम पद नर पावई।

भागवतचरितमें भी भगवद्गुणानुवाद ही रहता है । अतः भुशुण्डिजीका चरित भी भगवत्-चरितके अन्तर्गत है । श्रीरामचरितमानसमें एक भगवत्-चरित्र और पाँच भागवत-चरित्र हैं—यथा—(१) उमाचरित, (२) शंभुचरित, (३) भरतचरित, (४) हनुमत्-चरित और (५) भुशुण्डिचरित । अतः इन सबके अन्तमें कहते हैं कि 'कहेउँ नाथ' ।

हरिचरित अनूपा—भाव यह कि जगत्से विलक्षण रामका नाम, रूप, लीला और धाम सभी अनूप हैं ।

(१) नाम, यथा—

विधिहरिहरमय बेद प्रान सो । अगुन अनूपम गुन निधान सो ॥

(२) रूप, यथा—

निरखत सादर रूप अनूपा । तृप्ति न मानत मनु सतरूपा ॥

(३) लीला—कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा ।

(४) धाम, यथा—

साधु सभा अनुपम अवध सकल सुमंगल मूल ।

हरिने रामावतारमें जो चरित किया सो वस्तुतः अनूप है; कहीं किसी अवतारमें ये बातें नहीं पायी जातीं । यथा—

तीयसिरोमनि सीय तजी जेहि पावककी कलुपाई दही है ।
धर्मधुरंधर बंधु तज्यो, पुरलोगनिको बिधि बोलि कही है ॥
कीस निसाचरकी करनी न सुनी न बिलोकी न चित्त रही है ।
राम सदा सरनागतकी अनखौही अनैसी सुभाय सही है ॥
कौसिक बिप्रबधू मिथिलाधिपके सब सोच दले पल माहैं ।
बालि दसानन बन्धु कथा सुनि सत्रु सुसाहिब सील सराहैं ॥
ऐसी अनूप कहैं तुलसी रघुनायककी अगुनी गुन गाहैं ।
आरत दीन अनाथनको रघुनाथ करैं निज हाथकी छाहैं ॥

व्यास समास—चरितमें कहीं-कहीं विस्तारसे कहा है, और कहीं-कहीं संक्षेपसे कहा है। विस्तारसे, यथा—

पुनि सिसु चरित कहेसि मन लाई।

बालचरित कहि बिबिधि बिधि मन महँ परम उछाह॥

संक्षेपसे, यथा—

तेहि हेतु मैं नृपमेस सुतकर चरित संछेपहिं कहा॥
एहि लागि तुलसीदास इनकी कथा कछु एक है कही॥

स्वमति अनुरूपा—भाव यह कि हरिचरित ही ऐसा है कि वह स्वमति-अनुसार ही कहा जा सकता है, सर्वतोभावसे कहनेमें सभी असमर्थ हैं, यथा—

जस रघुपति लीला अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥

चारों घाटके वक्ताओंने अन्तमें यही स्वीकार किया है। पश्चिम घाटके वक्ता स्वयं शङ्करजी कहते हैं, 'मति अनुरूप कथा मैं भाषी' दक्षिण घाटके वक्ता याज्ञवल्क्यजी कहते हैं, 'रघुपति कृपा जथा मति गावा' उत्तर घाटके वक्ता भुशुण्डिजी कहते हैं, 'व्यास समास स्वमति अनुरूपा' पूर्वघाटके वक्ता गोस्वामीजी तो पहले ही कह आये कि—

कहँ रघुपतिके चरित अपारा। कहँ मति मोर निरत संसारा॥

....

मति अनुहारि सुबारि गुनगन [गनि] मन अन्हवाइ।
सुमिरि भवानी संकरहिं कह कबि कथा सुहाइ॥

श्रुति सिद्धांत इहै उरगारी।
राम भजिय सब काम बिसारी॥७३॥

अर्थ—हे उरगारि! वेदोंका यही सिद्धान्त है कि सब काम भुलाकर रामको भजे।

सब काम बिसारी—भाव यह कि कामका अर्थ सुख है और हिन्दीमें काम कार्यको भी कहते हैं, अतः श्लेष मानकर यहाँ दोनों अर्थ ग्रहण किया जाता है। जबतक दूसरे-दूसरे सुख याद हैं, तबतक भजन नहीं हो सकता। दूसरे सुख सीठे लगें तब राम मीठे लगते हैं। जबतक दूसरे कार्यकी ओर चित्त लगा हुआ है तबतक रामभजन क्या होगा? मन तो उस काममें लगा रहेगा, तब भजन कौन करेगा? भजनके लिये अन्य सुख और कार्यको जान-बूझकर भुलाना चाहिये। भूलना चाहें तो अवश्य भूल जाते हैं, और यदि याद रखना चाहें तो नहीं भूल सकते। अतः भुलाना अपने हाथकी बात है।

राम भजिय—भाव यह कि विषयसे मन फेरकर ऐसा भगवान्में लगावे कि सचमुच विषय और कार्य सब विस्मृत हो जावें, यथा—

> **प्रगट बखानत राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥**
> **तुलसी भूलि गये रस एहा।**

ऐसे भूलनेवालेका कामकाज भगवान्को याद रहता है, यथा—

> **करौं सदा तिनकर रखवारी। जिमि बालकहिं राख महतारी॥**

उरगारी—भाव यह कि आप सर्पोंके शत्रु हैं, संशयसर्पसे भी वेदोदित सिद्धान्तद्वारा अपनी रक्षा कीजिये। वेदोंके सिद्धान्त सुननेपर वेदानुयायीके हृदयसे शङ्का दूर होकर दृढ़ निश्चय हो जाना ही प्राप्त है।

इहै श्रुति सिद्धांत—भाव यह कि वेदोंका यही निर्णय है। पहले ज्ञानसिद्धान्तसे भजनकी उपादेयता दिखलायी, यथा—'कह्यो ज्ञान सिद्धांत बुझाई।' तत्पश्चात् भक्तिसिद्धान्तसे दिखलायी, यथा—

> **बिनु हरिभजन न भव तरिय, यह सिद्धांत अपेल॥**

अब श्रुतिसिद्धान्तसे भी वही दिखलाते हैं। भगवान्के सिंहासनारूढ़ होनेपर पृथक्-पृथक् वेदोंने स्तुति की, तत्पश्चात् सबने एक स्वरसे नित्य सगुण रूपका मनसा वाचा कर्मणा भजन करनेका ही वृत्तान्त कहा, यथा—

जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
ते कहहु जानहु नाथ हम तौ सगुन जस नित गावहीं॥
करुना दया प्रभु सद्‌गुनाकर देव यह बर माँगहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥

प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही।
मोहिसे सठपर ममता जाही॥

अर्थ–रघुपति (ऐसे) प्रभुको छोड़कर किसकी सेवा करें, जिसकी मुझ-जैसे शठपर ममता है।

सठपर ममता जाही–भाव यह कि शठ सेवक महादुःखदायी है, उसपर ममता नहीं हो सकती। वह तो मालिकके लिये साक्षात् शूलसम है, यथा—

सेवक सठ नृप कृपिन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी॥

जिसपर ममता होती है उसके दोषपर मनुष्य दृष्टि नहीं डालता, उसकी रुचि रखकर काम करता है। यही गति रामचन्द्रकी शठ सेवकों-पर है, यथा—

सठ सेवककी प्रीति रुचि रखिहैं राम कृपालु।
उपल किये जलजान जेहि सचिव सुमट कपि भालु॥

मोहिसे–भाव यह कि भुशुण्डिजी अपनेको सब शठोंसे बड़ा मानते हैं, यह भुशुण्डिजीका कार्पण्य है। इस कार्पण्यकी भक्तिशास्त्रमें बड़ाई है, यथा—

गुन तुम्हार समझहिं निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥

प्रभु रघुपति–भाव यह कि सेवन करनेयोग्य प्रभु राम ही हैं, राममें ही स्वामीके सब गुणोंका उत्कर्ष है, यथा—

सेइये सुसाहिब रामसो ।
सुखद सुसील सुजान सूर सुचि, सुंदर कोटिक काम सो ॥
सारद सेस साधु महिमा कहैं, गुनगन-गायक साम सो ।
....
जाके भजे तिलोक-तिलक भये, त्रिजग जोनि तनु ताम सो ।
तुलसी ऐसे प्रभुहिं भजै जो न ताहि बिधाता बाम सो ॥
(विनय०)

तजि सेइअ काही—भाव यह कि उनके ऐसा भी कोई दूसरा प्रभु होता तो उन्हें छोड़कर उसीको भजते । यहाँ तो उनके समान ही कोई नहीं बढ़कर कहाँसे मिलेगा ? यथा—

तो सों प्रभु जो पै कहूँ कोउ हो तो ।
तौ सहि निपट निरादर निसिदिन, रटि लटि ऐसो घटि को तो ॥
कृपा-सुधा-जलदान माँगिबो कहौं सो साँच निसोतो ।
....
जितो दुराव दासतुलसी उर क्यों कहि आवत ओतो ।
तेरे राज राय दसरथके, लयो बयो बिनु जोतो ॥
(विनय०)

तुम्ह बिग्यानरूप नहिं मोहा ।
नाथ कीन्हि मोपर अति छोहा ॥ ७४ ॥

अर्थ—तुम विज्ञानरूप हो (तुम्हें) मोह नहीं है । नाथने मुझपर बड़ा छोह किया ।

तुम्ह बिग्यानरूप—तुम वेद*मय हो, महाज्ञानी हो, यथा—

गरुड़ महा ग्यानी गुनरासी । हरि सेवक अति निकट निवासी ॥

ज्ञानीके ही सम्मुख मोह नहीं ठहरता, यथा—'(जासु) ग्यानरबि भव निसि नासा ।' तो विज्ञानरूप महाज्ञानीके सम्मुख कैसे ठहरेगा ?

* सामध्वनिशरीरस्त्वं वाहनः परमेष्ठिनः (मात्स्ये)

नहिं मोहा—'मोहा' बहुवचन कहनेसे संशय मायादिका भी ग्रहण होगा, यथा—

तुम्हहिं न संसय मोह न माया । मोपर नाथ कीन्ह तुम्ह दाया ॥

गरुड़जीके उपदेशके प्रारम्भमें यह चौपाई कही गयी थी । अब उपदेशकी समाप्तिमें फिर भी वही बात कहते हैं ।

नाथ कीन्हि मोपर अति छोहा—भाव यह कि भुशुण्डिजीका इतना उपदेश देनेपर भी यही भाव बना हुआ है कि गरुड़जीने मोहके बहाने, यहाँ आकर मेरे ऊपर बड़ी दया की, मुझे बड़ाई दी । यही संतका लक्षण है; यथा—

कोमल बानी संतकी स्रवै अमृतमय आइ ।
तुलसी ताहि कठोर मन सुनत मैंन होइ जाइ ॥

पूँछेहु रामकथा अति पावनि ।
सुक सनकादि संभु मनभावनि ॥

अर्थ—(तुमने) अति पावनि रामकथा पूछी, जो शुक, सनकादि और शम्भुकी मनभावनी है ।

पूँछेहु रामकथा—भाव यह कि तुम समझते थे कि मुझे मोह था, पर मेरी समझमें वह मोह नहीं था, वह विद्या थी, यथा—

प्रभुसेवकहिं न ब्याप अबिद्या । प्रभुप्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या ।

क्योंकि जिसे रामकथाकी पूछ है, उसे मोह कहाँ । इसीलिये मैं कहता हूँ कि—

तुम बिज्ञानरूप नहिं मोहा ।

अति पावनि—भाव यह कि जिसे मोह होता है वह अपावन बात पूछता है, यथा—

होहिं विप्रबस कवनि बिधि कहिय कृपा करि सोइ ।
तुम तजि दीनदयाल प्रभु हितू न देखौं कोइ ॥

और तुमने अति पावन बात पूछी, जिससे त्रैलोक्यका मङ्गल हो, अतः तुम्हें मोह नहीं था यथा—

त्रैलोक्य पावन सुजस सुर मुनि नारदादि बखानि हैं ।

सुक सनकादि संभु मनभावनि—भाव यह कि जो बात शुक-सनकादि-शम्भुको अच्छी लगती है, वही तुम्हें भी अच्छी लगी । इतने बड़े महापुरुषोंकी रुचिसे तुम्हारी रुचि एक थी, कैसे कहें कि तुम्हें मोह था । जिसे मोह होता है, उसकी रुचि बिगड़ जाती है, उसे कटु वस्तु कटु नहीं मालूम होती, यथा—

काम-भुजंग डसत जब जेही । बिषय-निंब कटु लगत न तेही ।

यहाँतक गरुड़के मोह न होनेका समर्थन करके, अपने ऊपर दया करनेका प्रमाण देते हैं—

सतसंगति दुर्लभ संसारा ।
निमिषि दंड भरि एकौ बारा ॥७५॥

अर्थ—संसारमें निमिष, दण्डभर, एक वार भी सत्संगति दुर्लभ है ।

सतसंगति—भाव यह कि संतका सङ्ग मोक्षका रास्ता है । संतका सङ्ग होते ही मोक्षका रास्ता पकड़में आ जाता है । इसीलिये कहा है कि—

संत संग अपवर्ग कर कामी भवकर पंथ ।
कहहि नाथ कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ ॥

दुर्लभ संसारा—भाव यह कि दुःखमय संसार दुखियोंसे भरा पड़ा है, यहाँ सुखरूप संतोंका मिलना दुर्लभ है, यथा—

विरलै विरलै पाइये मायात्यागी संत।
तुलसी कामी कुटिल कलि केकी काक अनंत॥

तथा—

पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृतिकर अंता॥

निमिष दंडभरि एकौ बारा—भाव यह कि भगवद्दर्शनकी भाँति भागवतदर्शन भी अमोघ है, कभी व्यर्थ नहीं जाता। चाहे उनका संग एक दण्डके लिये अथवा एक निमिषके लिये ही जीवनमें एक बार हो जाय, यथा—

मुख देखत पातक हरैं, परसत कर्म बिलाहिं।
बचन सुनत मन मोहगत पूरबभाग मिलाहिं॥
मलयाचल हैं संतजन तुलसी दोष बिहून।
निज संगी निज सम करत, दुर्जन मन दुख दून॥

अतः आप-जैसे संतका इतने समयके लिये आकर मुझे दर्शन देना कितनी बड़ी दया है।

देखु गरुड निज हृदय बिचारी।
मैं रघुबीर भजन अधिकारी ?॥

अर्थ—हे गरुड़जी, हृदयमें विचारकर देखो, (क्या) मैं रघुवीर-भजनका अधिकारी हूँ ?

गरुड—सम्बोधनका भाव यह कि आप भगवान्‌की विभूति* हैं, पक्षियोंके राजा हैं, और मैं पक्षियोंमें चाण्डाल हूँ। भजनका प्रताप है कि आपने स्वयं आकर मुझे दर्शन दिया।

मैं रघुबीर भजन अधिकारी ?—भाव यह कि भजन करना

* वैनतेयश्च पक्षिणाम्।—(गीता)

मुखसे कह देना सुगम है, करना बड़ा कठिन है, योगी* ही यथार्थ भजन कर सकता है, यथा—

> रघुपति-भगति करत कठिनाई ।
> कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई ॥
> जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी ।
> सफरी सनमुख जलप्रवाह सुरसरी बहै गज भारी ॥
> ....
> सकल दृस्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी ।
> सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिशय द्वैतवियोगी ॥
> सोक मोह भय हरष दिवस-निसि देस-काल तहँ नाहीं ।
> तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निरमूल न जाहीं ॥

निज हृदय विचारी देखु—भाव यह कि क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच भूमिकाएँ चित्तकी हैं। इनमेंसे मूढ़ तो तमोगुणके समुद्रेकसे निद्रावृत्तिवाले होते हैं। क्षिप्तमें रजोगुण बहुत होता है, इससे वे बहुत चञ्चल होते हैं। विक्षिप्तमें भी विक्षेप होनेसे भक्तिकी योग्यता नहीं होती। रह गये एकाग्र और निरुद्ध, इन्हींमें भक्तिकी योग्यता है। सबसे भयभीत रहनेवाले मन्दमति कागको वह अधिकार कैसे हो सकता है, जो मनुष्यको भी दुर्लभ है।

सकुनाधम सब भाँति अपावन ।
प्रभु मोहिं कीन्ह बिदित जगपावन ॥ ७६ ॥

अर्थ-(मैं) महा असगुन, सब भाँतिसे अपवित्र (हूँ) (सो) प्रभुने मुझे प्रख्यात जगपावन बना दिया।

सकुनाधम—जिस वृक्षके ऊपर काग हो, उसके नीचेसे लोग नहीं जाते। अपने घरपर उसे बैठने नहीं देते। कागका बोलना

---

* निरोधरूपा च।—(नारदभक्तिसूत्र) 'भक्ति निरोध (योग) रूप है।'

अशुभ समझा जाता है। कागको कोई छूता नहीं, कागका मैथुन देखना बड़ा भारी अनिष्टका द्योतक है।

सब भाँति अपावन–भाव यह कि जाति अपावन, यथा—'(सपदि होउ) पक्षी चंडाला,' आहार अपावन यथा—

बायस पलिअहि अति अनुरागा। होइ निरामिष कबहुँ कि कागा॥

बुद्धि अपावन, यथा—'महामंदमति कारन कागा।' स्वभाव अपावन, यथा 'छली मलीन न कतहुँ प्रतीती।' रुचि अपावन, यथा—

इहाँ न विषय कथा रस नाना।
तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥

करणी अपावन, यथा—

तुलसी देवलदेवको लागै लाख करोर।
काग अभागे हगि भर्यौ महिमा भई कि थोर॥

विदित जगपावन–भाव यह कि सच्चे भावसे छल छोड़कर जो भगवान्‌का होकर रहता है, वही जगपावन है, यथा—

सो सुकृती सुचिमंत सुसंत, सुजान सुसीलसिरोमनि स्वै।
सुर तीरथ तासु मनावत आवत, पावन होत है ता तन छ्वै॥
गुनगेह सनेहको भाजन सो, सबहीं सो उठाइ कहौं भुज द्वै।
सतिभाय सदा छल छाड़ि सबै तुलसी जो रहै रघुबीरको ह्वै॥

(कविता०)

उन जगपावनोंमें मैं विदित हुआ। कहाँ मैं सुमेरुके नीलशैलका रहनेवाला और कहाँ दूर दक्षिणमें भारतवर्षका कैलास पर्वत, वहाँतक मेरी प्रसिद्धि हुई, यथा—

गिरि सुमेर उत्तर दिसि दूरी। नील सैल इक सुंदर भूरी॥

प्रभु मोहिं कीन्ह–भाव यह कि मुझे तो भजनका अधिकार नहीं, पर प्रभुने मुझे अपना लिया, उनके अपनानेका यह महत्त्व है, यथा—

तबसे मोहि न व्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥

दो०—आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन।
निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन॥

अर्थ—आज मैं धन्य हूँ, अति धन्य हूँ, गोकि सब भाँति हीन हूँ (क्योंकि) अपना जन जानकर रामने संतसमागम दिया।

आजु—भाव यह कि एक ही दिनमें सब कथा हुई, और रामचरितमानस पूरा हुआ, क्योंकि भुशुण्डिजी कथाकी समाप्तिपर 'आज' कह रहे हैं अर्थात् संतसमागमका काल उसी एक दिनको माना। सो इतनी बड़ी कथाका सविधि श्रवण और कथन एक दिनमें कैसे समाप्त हुआ? सो एक दिन भी नहीं, दिनके चौथे भागमें! क्योंकि भुशुण्डिजीने तीन पहरका कृत्य करके चौथे पहरमें ज्यों ही कथा प्रारम्भ की कि गरुड़जीका आगमन हुआ, और रात्रि होनेसे पहले कथा समाप्त करके समागमकाल 'आज' निर्धारित कर रहे हैं। सो अर्थापत्ति* प्रमाणसे यह मालूम होता है कि एक महायुग (कृत+त्रेता+द्वापर+कलि) का भुशुण्डिजीका एक दिन होता था, क्योंकि युगधर्मानुसार ही वे प्रत्येक प्रहरमें कृत्य करते देखे जाते हैं। कृतयुगमें ध्यान-धर्म है, यथा—

कृतजुग सब ज्ञानी बिज्ञानी। करि हरिध्यान तरैं भव प्रानी।

सो भुशुण्डिजी उस समय ध्यान करते थे, यथा—'पीपर तरु तर ध्यान सो धरई'। त्रेतामें यज्ञ-धर्म है, यथा—

त्रेता बिबिधि जज्ञ नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं॥

सो भुशुण्डिजी भी उस समय यज्ञ करते थे, यथा—'जाप जज्ञ पाकर तर करई'। द्वापरमें पूजा-धर्म है, यथा—

---

* पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते। देवदत्त मोटा है दिनको नहीं खाता। अतः बलसे इस अर्थकी प्राप्ति हुई कि रातको खूब खाता है, यही अर्थापत्ति प्रमाण है।

द्वापर करि रघुपतिपद पूजा । नर भव तरहिं उपाउ न दूजा ॥

सो भुशुण्डिजी उस समय पूजा करते थे, यथा—

आम छाँह कर मानस पूजा । तजि हरिभजन काज नहिं दूजा ॥

और कलियुगमें हरिगुणगान धर्म है, यथा—

कलिजुग केवल हरिगुन गाहा । गावत नर पावहिं भव थाहा ॥

सो भुशुण्डिजी उस समय हरिगुण गान करते थे, यथा—

बट तर सो कह कथाप्रसंगा । आवैं सुनैं अनेक विहंगा ॥

भगवान् आदित्यके आने-जानेसे कालका निर्धारण होता है। जिसकी जितनी बड़ी आयु है, उसका दिन भी अपेक्षाकृत उतना ही बड़ा होता है। मनुष्यका दिन २४ घंटेका होता है और पितरोंका दिन मनुष्यमानसे एक महीनेका होता है, देवताओंका दिन छः महीनेका होता है। ब्रह्मदेवका दिन १४ मन्वतरोंका होता है। और भुशुण्डिजीका कल्पान्तमें नाश नहीं होता, यथा—'जासु नास कल्पान्त न होई'। नीलगिरिपर कथा कहते-कहते जिसे सत्ताईस कल्प हुए, उसका दिन २४ घंटेका मानवमानसे नहीं हो सकता। अतः यही सिद्ध होता है कि भुशुण्डिजीका दिन एक चतुर्युगीका होता था। इस हिसाबसे भुशुण्डि-जीकी आयु उस समय ($\frac{१०००}{३६०}$×२७)=७५ वर्षसे ऊपर थी। एक हजार चतुर्युगीका कल्प होता है, और सत्ताईस कल्प भुशुण्डिजीको कथा कहते बीता था। सो एक कल्प भुशुण्डिजीके $\frac{१०००}{३६०}$ वर्षके तुल्य होता है। अतः सत्ताईस कल्प ७५ वर्षके बराबर होगा। अब यह बात निस्सन्देह है कि गरुड़जीको कथा सुनानेके समय भुशुण्डिजीकी अपने मानसे कम-से-कम ७६ वर्षकी आयु थी।

इसीसे यह भी अनुमित होता है कि गरुड़जी पूरे द्वापरभर मोहमें पड़े थे। क्योंकि त्रेताके अन्तमें रामावतार होता है, सो युद्धके समय व्यालपाशमें बँधे देखकर गरुड़जीको मोह हुआ, वहाँसे नारदके

यहाँ गये, उन्होंने ब्रह्मलोक * भेजा, वहाँसे कैलास आये । कैलाससे नीलगिरि गये । इसीमें द्वापर बीत गया । कलियुगके प्रारम्भमें भुशुण्डि-जीसे समागम हुआ । यथा—

कथा अरंभ करै सोइ चाहा । ताही समय गयउ खगनाहा ॥

अतः भुशुण्डिजीके एक प्रहरमें कथा होना भलीभाँति सम्भव है ।

धन्य मैं धन्य अति–भाव यह कि एक तो सत्सङ्गमें समय व्यतीत होनेसे धन्य हुआ, यथा 'धन्य घरी सोइ जेहि सतसंगा' दूसरे रामका दिया हुआ सत्सङ्ग मिला, इससे अति धन्य हुआ, यथा—

संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही । चितवहिं रामकृपा करि जेही ॥

जद्यपि सब बिधि हीन–भाव यह कि लोक-वेद सब विधिसे नीच हूँ, यथा—

लोक बेद सबही बिधि नीचा । जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा ॥
राम कीन्ह आपन जबहीते । भयेउँ भुवन-भूषन तब ही ते ॥

निज जन जानि–भाव यह कि रामने मुझे मनसा वाचा कर्मणा अपना दास समझा । ऐसेको ही 'हरिजन' कहा जाता है; यथा— 'जाना मन क्रम बचन यह कृपासिन्धुके दास' । हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी ।'

राम मोहि संत समागम दीन–भाव यह कि भुशुण्डिजी समझ गये थे कि गरुड़जीको मोह नहीं हुआ है, रामसे प्रेरित किया

* रेवतराजा ब्रह्मलोकमें कन्याके लिये उपयुक्त वरकी जिज्ञासाके लिये गये, वहाँ गान होता था, क्षणभर ठहरे, तबसे मर्त्यलोकमें युगपरिवर्तन हो गया; जिन वरोंको मनमें रखकर गये थे, उनके वंशमें कोई न रह गया, अतः उस कन्याका बलरामजीसे ब्याह हुआ ।

व्यापी हुई है, कभी अभिमान किया था, उसीको दूर करनेके लिये कृपानिधिने मेरे पास भेजा है, यथा—

होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥

और मुझे इनके समागमसे अलभ्य लाभ हुआ, यथा—

गिरिजा संतसमागम सम न लाभ कछु आन।

सब साधनकर सुफल सुहावा। राम लषन सिय दरसन पावा॥
तेहि फलकर फल दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा॥

दो०—नाथ जथामति भाखेउँ राखेउँ नहिं कछु गोय।
चरित सिंधु रघुनायक थाह कि पावै कोय॥

अर्थ—हे नाथ! मैंने अपनी मतिके अनुसार कहा, कुछ छिपाया नहीं। रघुनायकके चरित-सिन्धुका कौन पार पा सकता है?

नाथ जथामति भाखेउँ—भाव यह कि तुम यह न समझना कि इतना ही रामचरित है। राम अनन्त हैं, उनके गुण अनन्त हैं, अतः उनकी कथाके विस्तारका भी अन्त नहीं है, यथा—'राम अनंत अनंत गुन अमित कथा विस्तार॥' अतः यही रीति है कि अपनी बुद्धिके अनुसार भगवान्‌के गुणोंका गान किया जाय; यथा—

निज निज मति सब हरिगुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं॥

राखेउँ नहिं कछु गोय—भाव यह कि महात्मा लोग गूढ़-तत्त्वका वर्णन नहीं करते, परन्तु आर्त अधिकारीसे छिपाते भी नहीं, यथा—

गूढ़ौ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥

सो कहीं आपको यह न सन्देह हो कि कुछ गूढ़ तत्त्व भुशुण्डिजीने

छिपा रक्खा इसलिये कह दिया कि 'राखेउँ नहि कछु गोय' अर्थात् मेरी इतनी ही जानकारी है।

चरित सिंधु रघुनायक–भाव यह कि कोटि कल्पमें भी गाये नहीं जा सकते, इसका वारपार है ही नहीं, यथा—

हरि अनंत हरिकथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता॥
रामचंद्रके चरित सोहाये। कल्प कोटि लगि जाहिं न गाये॥

थाह कि पावै कोय–भाव यह कि न तो पारावार है, और न थाह है, अर्थात् अपार विस्तार है, और गहिराई भी अथाह है। नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ, चारों रामचरित्रमें पाये जाते हैं, और चारों-का इतना अधिक उत्कर्ष है कि वहाँतक किसीकी बुद्धि पहुँच नहीं सकती, इसीसे अथाह कहा, यथा—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥

सुमिरि रामके गुनगन नाना। पुनि पुनि हरख भुसुंडि सुजाना॥

अर्थ–रामके नाना गुणगणोंका स्मरण करके बार-बार सुजान भुशुण्डिजी हर्षित हुए।

रामके नाना गुनगन–भाव यह कि चाहे जलराशिकी बूँदें गिनी जा सकें, और पृथिवीके रजकण गिने जा सकें, पर रामके गुणगण नहीं गिने जा सकते। वे असंख्य हैं और अनुपम हैं, यथा—

बैरिहु राम बड़ाई करहीं। आदर विनय मिलनि मन हरहीं॥
जल-सीकर महिरज गनि जाहीं। रघुपतिगुन नहि बरनि सिराहीं॥

सुमिरि–भाव यह कि प्रभुके गुणगण ही ऐसे हैं कि उनका स्मरण होनेपर सहृदय बिना हर्षित हुए रह नहीं सकते, यथा—

रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरुपाय ।
तुलसी जाहि न पुलक तन सो जग जीवत जाय ॥

भुसुंडि सुजाना–भाव यह कि भुशुण्डिजी गुणग्राहक हैं, वाणी, भक्ति, भणिति, मति और गतिकी उन्हें पहचान है, यथा—'मैं गुणग्राहक परम सुजाना ।'

पुनि पुनि हरख–भाव यह कि भुशुण्डिजीको यह समझकर कि—

निज जन जानि राम मोहि संतसमागम दीन्ह ।

रामके गुणगण स्मरण आ गये, और उनके हृदयमें आनेसे अति सुख हुआ, यथा—

चले जात सिव सती समेता । पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता ॥

महिमा निगम नेति करि गाई ।
अतुलित बल प्रताप प्रभुताई ॥ ७७ ॥

अर्थ–निगम (वेद) ने न इति कहकर महिमा गायी है, (रघुराईका) वल प्रताप प्रभुताई अतुलित है ।

महिमा–भाव यह कि ऐसी महिमा (बड़ाई) है कि जो कोई बड़ा होता है वह उन्हीं रामकी बड़ाईसे बड़ा होता है, यथा—

जो बड़ होत सो राम बड़ाई ।..............................
जासु अंस उपजैं बिधि नाना । संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना ॥

निगम नेति करि गाई–भाव यह कि रामकी महिमाका गान वेद करता है, और नेति कहकर गान करता है । नेति नेतिका अर्थ है न स्थूल न सूक्ष्म । अर्थात् ऐसी अपूर्व महिमा है कि वेद भी निषेध मुखसे वर्णन करता है, इदमित्थं कहकर शृंगिग्राही न्यायसे कुछ नहीं कह सकता ।

अतुलित बल—भाव यह कि जिस भाँति रामकी महिमाका अन्त नहीं, उसी भाँति उनके बलकी भी नाप-जोख नहीं, क्योंकि जिसे जो कुछ बल है, वह उन्हींके बलका लवलेश है, यथा—

सुनु रावन ब्रह्मांडनिकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोष समेत गिरि कानन॥
धरै जो बिबिध देह सुरत्राता। तुमसे सठन सिखावन दाता॥
हरकोदंड कठिन जेहि भंजा। तेहि समेत नृप दल मद गंजा॥
खरदूषन त्रिसिरा अरु बाली। हते सकल अतुलित बलसाली॥

जाके बल लवलेसते, जितेउ चराचर झारि।
तासु दूत मैं जाकर हरि आनेउ प्रिय नारि॥

अतुलित प्रताप प्रभुताई—भाव यह कि सामर्थ्य होनेसे ही प्रताप होता है। पर प्रताप बलसे अलग काम करता है, समर्थ बलका प्रयोग कहीं-कहीं किया करता है, परन्तु उसका प्रताप रातदिन जहाँ वह नहीं है वहाँ भी काम करता रहता है, यथा—

काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै रामकर द्रोही॥
सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥
अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिं पाई॥

सिव अज पूज्य चरन रघुराई।
मोपर कृपा परम मृदुलाई॥

अर्थ—रघुराईके चरण शिव-ब्रह्मासे पूज्य हैं, (फिर भी) मुझपर परम कृपा और परम मृदुता है।

रघुराई चरन—भाव यह कि इन चरणोंने सदा भक्तोंके लिये कष्ट उठाया है, जिन चरणोंमें चक्रवर्तीके चिह्न हैं, उन चरणोंमें भक्तोंके

लिये वन-वनमें घूमते हुए काँटे गड़े, ऐसी कृपा किसीके चरणोंमें नहीं, यथा—

ध्वज कुलिस अंकुस कंजयुत वन सहत कंटक किन लहे ।
पदकंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे ॥

सिव अज पूज्य—भाव यह कि दोनों चरणोंकी एक देव पूजा नहीं कर सकते, एककी शंकर पूजा करते हैं और एककी ब्रह्मदेव । दोनों-की पूजा तो केवल जनकनन्दिनी करती हैं । यथा—

कौशलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ
जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ ।

मोपर कृपा परम मृदुलाई—भाव यह कि महिमा ऐसी, बल ऐसा, प्रताप ऐसा, पूजा ऐसी और कोमलता ऐसी कि मुझ कागपर इतनी कृपा की कि मोहमिससे अपने पार्षद पक्षिराट् गरुड़को भेजकर मुझे बड़ाई दी, यथा—

एहि दरबार दीनको आदर रीति सदा चलि आई ।
(विनयपत्रिका)

मुझे सत्संग दिया यह प्रभुकी परम कृपा है और मोहके मिससे संतको ही मेरे यहाँ कथा सुननेको भेज दिया, यह मृदुता है, जिसमें मुझे मालूम भी न हो कि मेरे ऊपर कृपा हो रही है ।

अस सुभाउ कहुँ सुनौं न देखौं ।
केहि खगेस रघुपति सम लेखौं ॥ ७८ ॥

अर्थ—ऐसा स्वभाव न कहीं सुना जाता है न देखा जाता है; हे खगेश ! किसे रघुपतिके समान माना जाय ?

अस सुभाउ—भाव यह कि ऐसे बड़े स्वामी होकर ऐसा शील-संकोच केवल श्रीराममें ही दिखायी पड़ता है, यथा—

प्रभु तरु तर कपि डारपर ते किय आपु समान ।
तुलसी कहूँ न रामसे साहिब सील निधान ॥

कहुँ सुनौं न देखौं—भाव यह कि पुराण, इतिहास सुना, उनमें भी कहीं ऐसे स्वभावका पता नहीं चलता, यथा—

निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै ।

और न देखनेमें ही कहीं ऐसा स्वभाव आता है, यथा—

सिसुपन तें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ ।
कहत राम-बिधु-बदन रिसौंहैं सपनेहुँ लख्यो न काउ ॥
....

सिला पाप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ ॥
दई सुगति सो न हेरि हरख हिय चरन छुएको पछिताउ ।
भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गये ताउ ।
छमि अपराध छमाइ पाइ परि इतौ न अनत समाउ ॥
कह्यो राज बन दियो नारि बस, गरि गलानि गये राउ ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तन मरम कुघाउ ॥
....

निज करुना करतूति भगतपर चपत चलत चरचाउ ।
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ ॥

(विनयपत्रिका)

खगेश—भाव यह कि आप भी राजा हैं। सेवकका धर्म ही है कि राजाकी सेवा करे, राजाके लिये प्राण दे, पर राजा सेवकका ऋणी किसी दशामें नहीं होता, और इधरका हाल सुनिये—

कपिसेवा बस भये कनौडे कह्यो पवनसुत आउ ।
देबेको न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ ॥

रघुपति सम लेखौं—भाव यह कि दूसरा कोई ऐसा दीनदयाल है ही नहीं, अतः उनके समानके लिये जिज्ञासा ही रह गयी, यथा—

देव कौन दूसरो दीनको दयालु ।
सीलनिधान सुजान-सिरोमनि सरनागत-प्रिय प्रनत-पालु ॥
को समर्थ सर्बग्य सकल प्रभु सिव-सनेह-मानस मरालु ।
को साहिब किये मीत प्रीतिबस खग निसिचर कपि भील भालु ॥

साधक सिद्ध बिरक्त उदासी ।
कबि कोबिद कृतग्य संन्यासी ॥

अर्थ—साधक, सिद्ध, वैराग्यवान्, उदासीन, कवि, शास्त्रज्ञ, कृतज्ञ और संन्यासी ।

साधक सिद्ध—भाव यह कि जो अणिमादि सिद्धिके लिये यत्नशील हैं और जिन्हें सिद्धि प्राप्त हो चुकी है, यथा—

यथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान ।
कौतुक देखहिं सैल बन भूतल भूरि निधान ॥

साधक-सिद्धके ग्रहणसे विषयी जीवोंका भी ग्रहण हो चुका, सिद्धि भी दिव्य भोग होनेसे विषय ही है, अतः ये तो भवसन्तरणके लिये प्रयत्न करनेवाले ही नहीं हैं ।

विरक्त उदासी—भाव यह कि सुख ही जीवमात्रका ध्येय है, संसारसुखको तभी मनुष्य छोड़ सकता है, जब उससे बड़ा सुख दृष्टिगोचर हो, यथा—'जेहि लागि विरागी अति अनुरागी' और जिसने बलपूर्वक विषयोंका त्याग किया और कोई सुख सामने नहीं है, उसका वैराग्य टिक नहीं सकता । जिसने घरबारकी ममता छोड़ दी हो उसे उदासीन कहते हैं । रावणादि तपस्वी थे, पर उदासीन नहीं थे । किसीको शत्रुमित्र न माननेवाले उदासीनका मन निरवलम्ब हो जाता है, अतः उसे सिवा भगवच्चरणोंमें चित्त लगानेके कोई चारा नहीं है । यदि उसने न लगाया तो उसकी भी उदासीनता टिक नहीं सकती, उसकी मनःप्रवृत्ति शीघ्र ही विषयकी ओर हो जायगी ।

कवि कोविद—भाव यह कि कवि और विवेकियोंकी एक ही दशा है, इनकी चित्तवृत्ति यदि भगवच्चरणोंमें न लगी, तो उनकी कवित्व-शक्ति और विवेकका प्रयोग सांसारिक विषयोंमें ही होता रहेगा।

कृतज्ञ संन्यासी—भाव यह कि कृतज्ञता और संन्यासका भक्तिसे बड़ा गाढ़ा सम्बन्ध है। पहले अपने ऊपर राग देखनेसे जो प्रेम होता है उसे अनुराग कहते हैं। भगवान्‌के कृत देखनेसे भगवान्‌के प्रति अनुराग होगा, यथा—

उर आनइ रघुपति कृत जेते। सेवहिं ते जे अपनपौ चेते॥

और यथार्थ संन्यासी तो रामानुरागी ही हो सकता है, यथा—

रमाबिलास राम अनुरागी। तजत वमन इव नर बड़भागी॥

जोगी सूर सुतापस ज्ञानी।
धर्मनिरत पंडित बिज्ञानी॥ ७९॥

अर्थ—योगी, शूर, अच्छे तपस्वी, धर्मात्मा और विज्ञानी पण्डित।

जोगी सूर—योगी अर्थात् अविद्यारात्रिमें जागनेवाले। अविद्या-रात्रिमें ज्ञानसूर्य छिपा हुआ है, पर वे सोते नहीं, बेखबर नहीं होते। विषयमें लिपटे रहना ही सोना है, और उससे वैराग्य होना जागना है, यथा—

जानिअ तबै जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा॥

सो मन कहीं न लगनेसे निद्रा आती है, अतः जागनेके लिये काम चाहिये, यथा—'नाम जीह जपि जागहिं जोगी'। इधर भजन बंद हुआ उधर निद्रा आयी।

मरणको तृण समझनेवाले शूर हैं। इनके दोनों हाथ मोदक रहता है, जीवें तो राज्य भोगें, मरें तो स्वर्ग लें, यथा—'सनमुख मरन बीरकै

सोभा'। परन्तु स्वर्गसे निश्चय पतन होता है। अतः प्राण देनेपर भी संसारी ही रह गये। यही शूरता यदि भगवान्‌के लिये हो तो जीने और मरने दोनों अवस्थाओंमें मुक्ति करतल है, यथा—

तजौं प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहू हाथ मुद मोदक मोरे॥

सुतापस ज्ञानी—उपवासादि व्रत करनेको तप कहते हैं, यथा—'बारि अहार मूलफल त्यागे।' यही तप यदि भगवत्-प्रीत्यर्थ न हुआ तो विषय-प्रीत्यर्थ होगा, यथा—'हम काहूके मरहिं न मारे।' ज्ञानीका तो भक्ति प्राण ही है, वे तो राम ब्रह्मको ही सबमें समान देखा करते हैं।

धर्मनिरत—अपने-अपने वर्णाश्रमधर्ममें निरत वेदपथपर चलनेवाले ही धर्मनिरत हैं, यथा—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलैं सदा सुख पावैं नहिं भय सोग न रोग॥

पंडित बिज्ञानी—भाव यह कि परमार्थ जाननेवालेको पण्डित कहते हैं यथा—'तुम पण्डित परमारथ ज्ञाता' ऐसे पण्डितोंमें जो ब्रह्मलीन हो उसे विज्ञानी पण्डित कहते हैं, और 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा' सो पण्डित विज्ञानी तो राम ब्रह्ममें लीन रहते हैं, अतः वे तो एक क्षण अलग रह ही नहीं सकते। धर्मनिरत तो प्रभुके अनुशासन वेदके माननेसे प्रभुके सेवक ही ठहरे, यथा—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

तरैं न बिनु सेए मम स्वामी।
राम नमामि नमामि नमामी॥

अर्थ—मेरे स्वामीकी बिना सेवा किये नहीं तर सकते (अतः) रामको बारंबार नमस्कार है।

बिनु सेए मम स्वामी—भाव यह कि भजन करनेसे भगवान्

प्रसन्न होते हैं, यथा—'भजत कृपा करिहैं रघुराई', और बिना उनकी कृपाके माया नहीं छूटती, यथा—

ज्ञानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार।
केहिकर लोभ बिडंबना कीन्ह न एहि संसार॥
....
ब्यापि रहेउ संसारमहँ मायाकटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥
सो दासी रघुबीरकै समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहौं पन रोपि॥

तरैं न—भाव यह कि साधकसे लेकर विज्ञानीतक चौदहोंकी सिद्धि रामभक्तिपर निर्भर है। बिना रामभक्तिके भवसागर नहीं तर सकते, मायाके वशमें आ ही जाते हैं। अतः ईश्वरकृपाके लिये भक्ति परमावश्यक है। वैसे उनके कर्मोंका पुण्यफल तो भगवान् देगा ही, पर उस फलसे भवसन्तरण तो नहीं हो सकता। अतः—

राम नमामि नमामि नमामी—बार-बार प्रणाम करनेका भाव यह कि ईश्वर और गुरुको एक बार प्रणाम नहीं करना होता, इसलिये बारंबार प्रणाम करते हैं, अथवा भुशुण्डिजी कृतज्ञ हैं, परमेश्वरका प्रत्युपकार किया नहीं जा सकता, अतः बार-बार नमस्कार करते हैं। यथा—

मो सन होहि न प्रत्युपकारा। बन्दौं तव पद बारंबारा॥

अथवा मनसा वाचा कर्मणा प्रणामके लिये तीन बार प्रणाम करते हैं।

सरन गयें मोसे अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी॥८०॥

अर्थ—(जिसके) शरण जानेपर मुझ-से पापपुञ्ज (भी) शुद्ध होते हैं, (ऐसे) अविनाशीको नमस्कार है।

सरन गयें–भाव यह कि संसारसे भयभीत होकर, मद-मोह-कपट छोड़कर जो भगवत्-शरण ग्रहण करता है, उसको उनकी कृपासे बहुत शीघ्र पराशान्तिकी प्राप्ति होती है, उसके सब पाप कट जाते हैं, उसके स्वभावमें भी परिवर्तन हो जाता है, उसका स्वभाव साधु-सा हो जाता है।

मोसे अघरासी–भाव यह कि कैसा भी पापी हो। पापी कभी ऐसा न समझे कि मेरा पाप क्षमा नहीं किया जा सकता। पापीका पाप उस करुणाकरकी करुणासे बड़ा नहीं हो सकता। ब्रह्महत्यासे बड़ा पाप नहीं है, प्राणिमात्रके द्रोहसे बढ़कर और बड़ा अघ कौन-सा होगा? ऐसों-का पाप भी शरण जानेसे कट जाता है।

होहिं शुद्ध–भाव यह कि पाप कट जानेसे शुद्ध हो जाता है, यथा—

जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना॥
सनमुख होय जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासौं तबहीं॥
कोटि विप्र बध लागै जाहू। आए सरन तजौं नहि ताहू॥

नमामि अविनासी–भाव यह कि जो स्वयं विनाशी है, वह दूसरेकी क्या रक्षा कर सकता है? उस अविनाशीके प्रणामकी महा महिमा है, अतः उसीको प्रणाम करते हैं, यथा—

राम प्रनाम महा महिमाखनि सकल सुमंगल मनि जनी।
होय भलो ऐसेही अजहूँ गये रामसरन परिहरि भनी॥
भुजा उठाइ साखि संकरकरि कसम खाइ तुलसी भनी।
मंगलमूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगलको खनी॥

(गीतावली)

दो०—जासु नाम भव भेषज, हरन घोर त्रयसूल।
सो कृपाल मोपर सदा रहहु राम अनुकूल॥

अर्थ-जिसका नाम संसार (रोग) के लिये औषध है, वह कृपालु राम मेरे ऊपर सदा अनुकूल रहे।

जासु नाम-भाव यह कि जिसके नामकी अचिन्त्य शक्ति है। जिसके नामसे ही ज्ञान होना वेदप्रतिपादित है, जिसके नामबलसे काशीमें शङ्कर भगवान् मुक्ति वितरण करते हैं, यथा—

नाम प्रताप सही जो कहै कहु सिला सरोरुह जाम्यौ।

भव भेषज-भाव यह कि जबसे जीव हुआ तभीसे संसाररोगसे ग्रस्त है। इस रोगकी दवा जिसका नाम है। पहले कहा था कि उसका यश औषध है, यथा—

भव भेषज रघुनाथ जस सुनहिं जे नर अरु नारि।

इस भाँति नाम और लीला दोनोंको भवभेषज बतलाया। दवासे पीड़ाकी निवृत्ति होती है। अतः कहते हैं—

हरन घोर त्रयसूल-भाव यह कि आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापको ही यहाँ शूल कहा है। तामसिक और राजसिक वृत्तियाँ ही क्रमशः मूढ़ा और घोरा कहलाती हैं। ताप तो तामसिक वृत्तिमें भी होता है, पर शूलका कारण घोरा वृत्ति ही है, इसीलिये 'घोर त्रयसूल' कहा। भवभेषज कहकर मूढ़ा वृत्तिका नाश कहा, और अब घोरा वृत्तिका नाश कहते हैं। भगवन्नाम मूलसहित घोर त्रयतापका नाशक है। तमोगुण, अज्ञान या मोह ही सब व्याधियोंका मूल है।

सो कृपाल राम-भाव यह कि जिसके नामके ऐसे गुण हैं, वह नामी भी बड़ा कृपालु है। उसकी कृपा कृपा करनेसे अघाती ही नहीं, यथा—'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।' नामीको राम कहकर उपर्युक्त गुण भी रामनामका ही होना सूचित किया।

मोपर सदा अनुकूल रहहु-भाव यह कि तुमपर तो अनुकूल हुई हैं, यथा—'कृपापात्र रघुनायक केरे।' तुम्हारे आगमनसे मुझे अभिमान न उत्पन्न हो, इसलिये प्रार्थना करता हूँ कि सदा अनुकूल रहें।

दो०—सुनि भुसुंडिके बचन सुभ, देखि रामपद नेह ।
बोलेउ प्रेमसहित गिरा, गरुड़ बिगत संदेह ॥

अर्थ-भुशुण्डिके शुभ वचन सुनकर और रामपदमें स्नेह देखकर गरुड़जी प्रेमसे सन्देहरहित हो बोले ।

सुनि भुसुंडिके बचन सुभ-भाव यह कि—

अनुभव सुख उतपति करै, भव भ्रम धरै उठाइ ।
ऐसी बानी संतकी, जो हिय बेधै आइ ॥
(वै० सं०)

भुशुण्डिजीके वचनसे भवभ्रम छूट गया, आनन्दका अनुभव हुआ । इससे शुभ वचन कहा ।

देखि रामपद नेह-भाव यह कि स्नेहके चिह्न पुलक, गद्गद देखकर, यथा—'पुनि पुनि हरष भुशुण्डि सुजाना ।' प्रमाणोंमें देखना-सुनना ही बड़ा प्रमाण गिना जाता है । सो दोनोंसे भुशुण्डिजीकी भक्तिका ही पता चला । यहाँसे भुशुण्डिजीका कथन समाप्त हो गया ।

गरुड़ विगत सन्देह-भाव यह कि 'विगत सन्देह' कहकर शिष्यकी कृतकृत्यता दिखलायी । गरुड़ कहकर राजमदशून्यता दिखलायी ।

बोलेउ प्रेमसहित गिरा-भाव यह कि गरुड़जीको गुरुचरणोंमें बड़ा प्रेम हो गया है, सो प्रेमके साथ बोलते हैं, यथा—'पुनि सप्रेम बोलेउ खगराऊ' यहाँ भी 'बोलेउ प्रेमसहित गिरा ।' दूसरी बात यह कि सवादकी समाप्तिपर कृतज्ञता प्रकट करना कर्तव्य है । सो सच्ची कृतज्ञता बिना प्रेमके नहीं होती ।

मैं कृतकृत्य भयेउँ तव बानी ।
सुनि रघुबीर भगति रस सानी ॥

अर्थ-मैं रघुवीरके भक्तिरससे सनी हुई तुम्हारी वाणी (सुनने) से कृतकृत्य हुआ ।

रघुवीर भगति रस सानी तव बानी-भाव यह कि बिना भक्तिरससानी बानीके विश्वास नहीं होता । भगवती जनकनन्दिनीको मुद्रिका पानेपर भी विश्वास नहीं हुआ, पर हनुमान्‌जीकी सप्रेम वाणी सुननेपर विश्वास हुआ, यथा—

कपिके वचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिसवास ।

सुनि मैं कृतकृत्य भयउँ-भाव यह कि संशय निर्मूल होनेपर दृढ़ विश्वास हुआ । वक्ता कहते हैं कि 'आजु धन्य मैं धन्य अति' और श्रोता कहते हैं कि 'मैं कृतकृत्य भयउँ ।' रामकथा ही ऐसी है कि इससे वक्ता धन्य और श्रोता कृतकृत्य होता है । दूसरी बात यह कि नारदकी वाणी सुनी, ब्रह्माकी सुनी, शङ्करकी सुनी, पर मैं कृतकृत्य न हो सका । कृतकृत्य तो तुम्हारी वाणीसे हुआ ।

राम चरन नूतन रति भई ।
मायाजनित बिपति सब गई ॥८१॥

अर्थ-रामचरणोंमें नयी रति हुई, और मायासे पैदा हुई सब विपत्तियाँ जाती रहीं ।

राम चरन नूतन रति भई-भाव यह कि इसके पहले जो भक्ति थी, वह दूसरे प्रकारकी थी; यह नयी भक्ति (जिसे मैं नहीं जानता था) हुई । यह अनुपम सुखमूला भक्ति आपके आशीर्वाद देते ही मेरे हृदयमें प्रकट हुई, यथा—

राम भगति अनुपम सुखमूला । मिलै जो संत होहिं अनुकूला ॥

मायाजनित बिपति सब गई-भाव यह कि अविद्यासे उत्पन्न अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये चारों क्लेश चले गये । भक्ति-

चिन्तामणिकी प्राप्तिके पश्चात् मोह-दरिद्र उसके निकट नहीं आता, लोभकी कला नहीं चलती, कामादि दूर भागते हैं, मानसरोग व्यापते ही नहीं, अतः विपत्ति सब चली गयी।

मोह जलधि बोहित तुम भये।
मो कहँ नाथ बिबिध सुख दये॥

अर्थ—मोहसमुद्रके लिये आप जहाज हो गये और मुझे अनेक प्रकारके सुख दिये।

मोह जलधि बोहित तुम भये—भाव यह कि सद्गुरु कर्णधार-मात्र होता है, जहाज तो अपने शरीरको, मोहसमुद्रको पार करनेके लिये बनाना पड़ता है। सद्गुरुके कथनानुसार पुरुषार्थ करना पड़ता है; यथा—

नर तनु भव बारिधि कहँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भवसागर, नरसमाज अस पाय।
सो कृतनिन्दक मन्दमति, आतमहन गति जाय॥

पर आप तो स्वयं मेरे लिये जहाज हो गये, मुझे कुछ करना ही न पड़ा, आपके उपदेशमात्रसे मोह दूर हो गया।

मो कहँ नाथ बिबिध सुख दये—भाव यह कि ज्ञान, विवेक, विरति, विज्ञान तथा मुनिदुर्लभ गुण ये ही सुख* हैं, वैषयिक क्षुद्र सुखोंकी सुखमें गिनती ही नहीं, वस्तुतः वे दुःखके अन्तर्भूत हैं। सो इन पाँचों सुखोंको भी आपने दिया, यथा—

ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना। सुरदुर्लभ गुन जे जग जाना॥
... ...। प्रभु कह देन सकल सुख सही॥

---

* ज्ञानसे योगानन्द, विवेकसे आत्मानन्द, विरतिसे अद्वैतानन्द, विज्ञानसे विद्यानन्द, मुनिदुर्लभ गुणसे शान्तावृत्तिजन्य सुख अभिहित है।

मोपहि होइ न प्रतिउपकारा ।
बंदौं तव पद बारहिं बारा ॥८२॥

अर्थ–मुझसे प्रत्युपकार नहीं होता, (अतः) तुम्हारे चरण-का वार-वार वन्दन करता हूँ ।

मोपहि होइ न प्रतिउपकारा–भाव यह कि उपकारीका प्रत्युपकार करना सनातन धर्म है । बदलेमें समान मूल्यका द्रव्य देना चाहिये, अल्प मूल्यका द्रव्य देना ठगना है । सो इस भक्ति-चिन्तामणि-जैसी अमूल्य मणिके बदलेमें देनेयोग्य वस्तु नहीं, अतः मैं प्रत्युपकार नहीं कर सकता ।

बंदौं तव पद बारहिं बारा–ऋणीका ऋण चुकाना यदि असाध्य हो, तो उचित है कि धनीसे प्रार्थना करके क्षमा माँगे और स्वयं उसका दास होकर रहे । अतः गरुडजी स्पष्ट कह रहे हैं कि तुम्हारा ऋण मैं नहीं चुका सकता, अतः बार-बार तुम्हारे पैर पड़ता हूँ ।

पूरनकाम राम अनुरागी ।
तुम सम तात न कोउ बड़भागी ॥

अर्थ–तुम पूर्णकाम हो, रामानुरागी हो, तुम्हारे समान कोई भी भाग्यवान् नहीं है ।

पूरनकाम राम अनुरागी–भाव यह कि रामानुरागी पूर्णकाम होते हैं, उन्हें कोई कामना रहती ही नहीं । यदि किसीको विषयकी कामना है, तो वह विषयानुरागी है, रामानुरागी नहीं ।

सुमिरत रामहिं तजहिं जन, तृनसम बिषय बिलास ॥

पहले भक्तिमणिके बदलेमें कुछ न देनेका कारण यह कहा कि

उसके समान मूल्यवान् दूसरा पदार्थ ही नहीं है। अब कहते हैं कि पूर्णकामको यदि कोई देना भी चाहे तो क्या दे ? यथा—

देहु कहा तुम्ह पूरनकामा।

तुम सम तात न कोउ बड़भागी—भाव यह कि जिसका भगवत्-चरणोंसे सम्बन्ध हुआ, वे ही बड़भागी हैं, यथा—

'अतिसय बड़भागी चरनन लागी।'

'बड़भागी बन अवध अभागी॥'

बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥

परन्तु तुम्हारे समान कोई नहीं। क्योंकि—

सुर नर मुनिकर यही रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

सो भगवान्‌में स्वार्थके लिये प्रीति करनेवाले भी बड़भागी हैं। परन्तु तुम तो निःस्वार्थ प्रीति करनेवाले हो, इसलिये सबसे बढ़कर हो।

संत बिटप सरिता गिरि धरनी।
परहित हेतु सबन्हकै करनी॥८३॥

अर्थ—संत, वृक्ष, नदी, पर्वत और पृथ्वी, इन सबकी करणी परायेके हितके लिये है।

संत बिटप सरिता गिरि धरनी—भाव यह कि विटप, सरिता, गिरि, धरणीकी जड़ करणी है, ये सुख-दुःख, भले-बुरेका बिना विचार किये सबके काम आते हैं। यही गति संतोंकी भी है। इनकी भी जड़ करणी है, यथा—

काटै परसु मलय सुनु भाई। निजगुन देइ सुगंध बसाई॥

इस प्रकार दूसरेके हितके लिये दुःख सहनेवाला सिवा संतके कोई चेतन पदार्थ नहीं हो सकता।

परहित हेतु सबन्हके करनी—अपने लिये ये कुछ नहीं करते। इनकी सम्पत्ति ही दूसरोंके लिये है, इनके काम कभी नहीं आती। भाव यह कि आपको प्रत्युपकारकी न इच्छा है, और न कोई आपका प्रत्युपकार कर सकता है। विटप, गिरि, धरनीके सब कोई उपकृत हैं, पर कोई प्रत्युपकार इनका करना चाहे तो सिवा प्रणाम करनेके और क्या कर सकता है ! अब इन पाँचोंमें भी संतके प्रथम उल्लेखका कारण कहते हैं—

संत हृदय नवनीत समाना।
कहा कबिन पर कहै न जाना॥

अर्थ—संतका हृदय कवियोंने मक्खन-सा कहा, पर उनसे कहते न बना।

संत हृदय—भाव यह कि विटप, सरिता, गिरि, धरनी जड होनेसे हृदयहीन हैं, सुख-दुःखका अनुभव भी इन्हें जडताके तारतम्यानुसार न्यून होता है, परन्तु संत जो कुछ करते हैं, सो हृदयकी कोमलताके कारण करते हैं। अतः ये सबसे बड़े हैं।

नवनीत समाना—भाव यह कि इतना कोमल हृदय होता है कि तनिक-से तापसे द्रवीभूत हो उठता है, जिस भाँति मक्खन तनिक-से तापसे पिघल जाता है ।

कहा कबिन पर कहै न जाना—भाव यह कि संतके हृदयकी कोमलताकी उपमा देने चले। उन्होंने यह न जाना कि यह विषय वर्णनातीत है, यथा—'कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पदपंकज गहे।' कहीं वह वस्तु जाती है जिसके समान कोई दूसरी वस्तु भी हो। उपमा-उपमेयमें समान धर्म होना चाहिये, सो यहाँ धर्ममें समानता ही नहीं है।

निज परिताप द्रवै नवनीता।
पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ॥८४॥

अर्थ-अपने परितापसे मक्खन द्रवीभूत होता है, पर पुनीत संत परदुःखसे द्रवीभूत होते हैं।

निज परिताप द्रवै नवनीता-भाव यह कि मक्खनमें कोमलता अपने लिये है। जबतक अपनेको ताप न पहुँचे, तबतक दूसरेके परितापसे मक्खनमें कोई विकार नहीं उत्पन्न होता है। अतः 'स्वदुःखसे द्रवीभूत होना' यह मक्खनका धर्म है। परन्तु संत स्वदुःखसे द्रवीभूत नहीं होते, यथा—'खलके वचन संत सह जैसे।' 'जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा।' 'संत सहहिं दुख परहित लागी।' इत्यादि।

पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता-भाव यह कि पुनीत संत दूसरोंके दुःखसे दुखी होते हैं। अतः पर-दुःखसे दुखी होना संतका धर्म है। सो 'स्व' 'पर' के भेदसे संत (उपमेय) और मक्खन (उपमान) में समान धर्मका ही अभाव है। अतः उपमा देनेवाले कविसे भूल हुई।

जीवन जन्म सफल मम भयऊ।
तव प्रसाद सब संसय गयऊ॥

अर्थ-मेरा तो जीवन और जन्म सफल हो गया (क्योंकि) तुम्हारे प्रसादसे सब संशय चला गया।

जीवन जन्म सफल मम भयऊ-भाव यह कि भक्ति हृदयमें न होनेसे जीना अकारथ है, उसके शरीरका ढाँचा मुर्देकी भाँति बना हुआ है, वह अमङ्गलरूप है, यथा—

जो हरि भगति हृदय नहिं आनी। जीवत सव समान सो प्रानी॥

उसका जन्म भी निष्फल है, तथा—

पुत्रवती जुवती जग सोई । रघुपति भगत जासु सुत होई ॥
नतरु बाँझ भलि वादि वियानी । राम विमुख सुतते हित हानी ॥

तथा—

ते नर नरकरूप जीवत जग भवभंजन पद विमुख अभागी ॥

मुझे आपसे भक्ति मिली; अतः जीवन-जन्म दोनों सफल हुए।

तव प्रसाद सब संसय गयऊ—भाव यह कि रामविषयक संशय मिटानेके लिये तो मैं आया था पर आपने ऐसी कृपा की कि जितने संशय थे वे सब निर्मूल हो गये; अब मैं विगतसन्देह हो गया । आप ही मेरे सद्गुरु हैं; यथा—

सद्गुरु मिले जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाय ।

जानेहु सदा मोहि निज किंकर ।
पुनि पुनि उमा कहइ बिहंगबर ॥८५॥

अर्थ—मुझे सदा अपना आज्ञाकारी समझना, हे उमा ! ऐसा बार-बार गरुड़जीने कहा।

जानेहु सदा मोहि निज किंकर—भाव यह कि ऋण (गुरुदक्षिणा) न चुका सकनेके कारण सदाके लिये दासत्व स्वीकार करते हैं, अथवा—

नाथ मोहिं निज सेवक जानी । सप्त प्रश्न मम कहहु बखानी ॥

—कहकर प्रश्न किया था; अब उत्तर पानेपर सदाके लिये सेवक होनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। पूर्णकामको सेवाकी भी इच्छा नहीं; अतः सेवक जाननेके लिये प्रार्थना करते हैं !

उमा—उमा सम्बोधनसे भाव यह कि भुशुण्डि-गरुड़-संवाद समाप्त हुआ, उत्तरघाट पूरा हो गया, अब कथा महादेवजी कह रहे हैं, अतः उमाको सम्बोधन करके गरुड़जीकी विदाई कहते हुए अपने संवादका भी उपसंहार करेंगे ।

पुनि पुनि कहइ विहंगवर–भाव यह कि वाक्यको यथार्थ रूपमें ग्रहण करनेके लिये बार-बार कहते हैं, जिसमें उनका वाक्य विनयप्रदर्शन-रूपमें गृहीत न हो। इस वाक्यसे गरुड़जीका अभिमानरहित होना सूचित किया, यथा—

होइहिं कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥

दो०—तासु चरन सिर नाइ करि प्रेमसहित मतिधीर।
गरुड़ गयेउ बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर॥

अर्थ–उसके चरणोंमें प्रेमसहित सिर नवाकर मतिधीर गरुड़जी रघुवीरको हृदयमें रखकर वैकुण्ठ गये।

प्रेमसहित तासु चरन सिर नाइ करि–भाव यह कि 'पुनि पुनि उमा कहइ विहंगबर' से वाचा, 'प्रेमसहित' से मनसा और 'चरन सिर नाइ' से कर्मणा प्रणाम कहा। जब गुरुजी आये, तब प्रणाम नहीं लिखा, पक्षिराट्के भावसे आये थे, इसलिये कागजीने पूजा की; यथा—

आवत देखि सकल खग राजा। ....॥
अति आदर खगपति कर कीन्हा...करि पूजा समेत अनुरागा।

अब सत्संगसे राजभाव जाता रहा, अतः सिर नवाते हैं; भुशुण्डिजी भी प्रणाम स्वीकार करते हैं।

हृदय राखि रघुबीर–भाव यह कि कागजीका उपदेश सद्यः फलीभूत हुआ; रघुवीरने कृपा की, गरुड़जीके हृदयमें आ गये। अथवा सत्संगका यह फल है कि हृदयमें प्रचण्ड विषाद लेकर आये थे और अब हृदयमें रघुवीरको रखकर चले। इत्यादि

तब गरुड़ बैकुंठ गयेउ–इस समय अभिमानशून्य हैं, इसलिये खगपति न कहकर गरुड़ कहा। जबसे मोह हुआ था, तबसे उसे दूर

करनेके उपायमें लगे थे, विपादीकी वैकुण्ठमें गति नहीं अतः वैकुण्ठ न जा सके थे, सत्संगकी महिमासे वैकुण्ठ गये।

मतिधीर–भाव यह कि गरुड़जी विगतविपाद हुए, रघुवीरको हृदयमें रखनेमें समर्थ हुए, अतएव मतिधीर विशेषण दिया, अथवा भवसागर पार चले गये इसलिये मतिधीर कहा, यथा—

वारिध पार गयउ मतिधीरा।

दो०—गिरिजा संतसमागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरिकृपा न होइ सो गावहिं वेदपुरान॥

अर्थ–हे गिरिजे! संतसमागमके समान कोई लाभ नहीं है, (पर) बिना हरिकृपाके वह नहीं होता, ऐसा वेद-पुराण कहते हैं।

गिरिजा–भाव यह कि 'गिरिजा' सम्बोधनसे ही इस कथाका उपक्रम किया था, यथा—

गिरिजा कहेउँ सो सब इतिहासा। मैं जेहि समय गयेउँ खग पासा॥
अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू। गयेउ काग पहिं खगकुल केतू॥

अब उसी सम्बोधनके साथ उपसंहार करते हैं।

संतसमागम सम न लाभ कछु आन–भाव यह कि नरशरीर पाकर भगवत्-भजन न करनेके बराबर कोई हानि नहीं है, और न संत-समागमके समान कोई लाभ है, क्योंकि—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जो पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥

बिनु हरिकृपा न होइ सो–भाव यह कि कोई काल या कोई देश ऐसा नहीं है, जहाँ संत दुर्लभ हों, यथा—

सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥

पर उनसे भेंट नहीं होती। निकट रहते हुए भी पता नहीं चलता कि अमुक व्यक्ति संत हैं, मनमें उनके प्रति कुभावना रहती है, इससे संगतिका लाभ नहीं होता; जब भगवान्‌की कृपा होती है, तभी उनसे संग होता है, मनमें पश्चात्ताप होता है, आश्चर्य होता है कि इतने दिनों-तक इन्हें क्यों नहीं जाना। अतः जब सत्संग हो तो हरिकृपा समझनी चाहिये।

गावहिं वेदपुरान–भाव यह कि वेद-पुराण भगवान्‌की महिमा-का गान करनेवाले हैं, कल्याणका मार्ग दिखानेवाले हैं, वे ही क्रमशः स्वतः और परतः प्रमाण हैं, उनका कहना अभ्रान्त सत्य है।

कहेउँ परम पुनीत इतिहासा।
सुनत श्रवन छूटै भवपासा॥

अर्थ–परम पुनीत इतिहास कहा जिसके सुननेसे भवपाश छूटता है।

कहेउँ–भाव यह कि चरित समाप्त हुआ; भुशुण्डिजीने भी चरित समाप्त करके यही कहा, यथा—

कहेउँ तात हरिचरित अनूपा। व्यास समास स्वमति अनुरूपा॥

शिवजी भी चरित समाप्त करके वही बात कह रहे हैं।

परम पुनीत इतिहासा–'इतिहासा' बहुवचनका प्रयोग किया, क्योंकि इसमें भगवत्-भागवत दोनोंका इतिहास है, अथवा और अवतारोंके चरित पुराण हैं, राम और कृष्णके चरित रामायण और महाभारत इतिहास हैं। जिससे पाप कटे सो पुनीत, और जिससे भव-बन्ध कटे सो परम पुनीत है।

सुनत श्रवन छूटै भवपासा–'सुनत श्रवन' से साधन-सौकर्य

कहा। इससे बढ़कर सुभीता और क्या होगा कि केवल कानसे सुना करें और फल इतना बड़ा कि भवपाश छूट जाय। भवपाश अर्थात् जगजाल। जन्मसे लेकर मरणतक जगजाल है, यथा—'जनन मरन जहँ लगि जग-जालू।' भाव यह कि ज्ञान होता है और ज्ञान होनेसे जगजाल छूटता है।

प्रनत कलपतरु करुनापुंजा।
उपजै प्रीति रामपदकंजा ॥८६॥

अर्थ—करुणापुञ्ज राम कल्पतरु हैं; (उनके) चरणकमलोंमें प्रीति होती है।

प्रनत कलपतरु करुनापुंजा—भाव यह कि श्रीरामचन्द्रका स्वभाव कल्पवृक्ष-सा है, न तो वे किसीके सम्मुख हैं न विमुख हैं; परन्तु ऐसे कारुणिक हैं कि जो उनकी उपासना करता है, वही शोकरहित हो जाता है और माँगनेपर वह अभीष्ट प्रदान करते हैं, पात्रापात्रतकका विचार नहीं करते; यथा—

देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख विमुख न काहुहिं काऊ॥
जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समन सब सोच।
माँगे अभिमत देत जग, राउ रंक भल पोच॥

रामपदकंजा प्रीति उपजै—भाव यह कि जिस भक्तिकी इतनी महिमा गायी गयी है, वह भक्ति इस कथाके श्रवणमात्रसे उत्पन्न हो जाती है। सत्संगसे हरिकथा-श्रवण, उससे मोहनाश और मोहनाशसे श्रीचरणोंमें अनुराग, यही क्रम है, यथा—

बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ अनुराग॥

मन क्रम बचन जनित अघ जाई ।
सुनहिं जे कथा श्रवन मनु लाई ॥

अर्थ—भाव यह कि मन-तन-वचनसे किये हुए पाप नष्ट होते हैं, यदि कथा मन लगाकर सुनी जाय ।

मन क्रम वचन जनित अघ जाई—भाव यह कि पाप तीन ही प्रकारसे होते हैं; मनसे, वचनसे या कर्मसे । दोसे या तीनोंसे करनेसे उसका और भी उत्कर्ष बढ़ जाता है । सो वे सब नष्ट हो जाते हैं । भाव यह कि सम्पूर्ण कर्मकाण्डका फल भी इसीसे हो जाता है । कर्मकाण्ड पापापनोदनके लिये किया जाता है, सो कथाश्रवणमात्रसे निवृत्त होता है ।

सुनहिं जे कथा श्रवन मनु लाई—भाव यह कि सुननेमें इतना ही करना है कि मन लगा दे । इन तीन अर्धालियोंमें क्रमशः तीनों काण्डका फल कहा । 'सुनत श्रवन छूटै भवपासा' से ज्ञानकाण्डका फल कहा, 'उपजै प्रीति रामपदकंजा' से उपासनाकाण्डका फल कहा, और अब 'मन क्रम वचन जनित अघ जाई' से कर्मकाण्डका फल कह रहे हैं ।

तीर्थाटन साधन समुदाई ।
जोग बिराग ज्ञान निपुनाई ॥८७॥
नाना कर्म धर्म व्रत दाना ।
संजम दम जप तप मख नाना ॥
भूतदया द्विज गुरु सेवकाई ।
बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई ॥८८॥

जहँ लगि साधन बेद बखानी ।
सबकर फल हरि भगति भवानी ॥

अर्थ–हे भवानी ! तीर्थयात्रा और उसके सब साधन, योग-विराग-ज्ञानकी निपुणता, संयम, दम, जप, तप और नाना प्रकारके यज्ञ, भूतदया और गुरु-ब्राह्मणकी सेवा, विद्या, विनय और विवेककी बड़ाई (संक्षेपतः) जितने साधनोंका वेदने बखान किया है, उन सबोंका फल हरिभक्ति है ।

तीर्थाटन साधन समुदाई—जीवको तारता है, इसीलिये तीर्थ कहलाता है । सब लोग तीर्थयात्रा संसार-सागरसे तरनेके लिये करते हैं; परन्तु तीर्थका फल सबको नहीं होता, जो तीर्थोचित साधनके साथ यात्रा करता है उसीको तीर्थफल मिलता है । संक्षेपमें उन साधनोंका वर्णन राम-वनयात्रा-प्रकरणमें भरतजीद्वारा दिखलाया है, यथा–

सहित समाज साज सब सादे । चले राम-बन-अटन पयादे ॥
कोमल चरन चलत बिनु पनहीं । .... ॥
एहि बिधि भरत फिरत बनमाहीं । नेमु प्रेमु लखि मुनि सकुचाहीं॥
चारु बिचित्र पबित्र बिसेखी । बूझत भरतु दिब्य सब देखी ॥
सुनि मन मुदित कहत रिषिराऊ । हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ ॥
कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा । कतहुँ बिलोकत मन अभिरामा ॥
कतहुँ बैठि मुनि आयसु पाई । सुमिरत सीयसहित दोउ भाई ॥
.... ।
फिरहिं गये दिन पहर अढ़ाई । प्रभु पदकमल बिलोकहिं जाई ॥
कहत सुनत हरिहर सुजस, गयेउ दिवस भइ साँझ ।

इस भाँति तीर्थाटनका फल होता है, नहीं तो नहीं होता ।

जोग बिराग ज्ञान निपुनाई—किसी विषयमें निपुणाई तभी

होती है, जब उसके विरोधी विषय अच्छे न लगें;—'अति नय निपुन न भाव अनीती।' अतः ज्ञान-विराग-योगमें वही निपुण है जिसे राग, वैषम्य और बहिर्मुखता अप्रिय हो।

नाना कर्म धर्म व्रत दाना—नित्य-नैमित्तिक और काम्यके भेदसे कर्म तीन प्रकारके होते हैं फिर इनमेंसे एक-एकके अनेक भेद हैं। धर्मके भी वर्ण और आश्रमानुसार बहुत भेद हैं। व्रतके भी चान्द्रायणादि अनेक भेद हैं। दाता-प्रतिग्रहीता और देयके भेदसे दानके अनेक भेद हैं।

संजम दम जप तप मख नाना—मनको वशमें करना संयम और इन्द्रियोंका दमन करना दम है, उपवासादि व्रत हैं, अश्वमेध, राजसूयादि यज्ञ हैं।

भूतदया द्विज गुरु सेवकाई—भूतदया अर्थात् प्राणिमात्रपर दया करना परम धर्म है और द्विज-गुरुकी सेवा करना परम कल्याणका मार्ग है, आपत्तियोंसे त्राण पानेका यही उपाय है; यथा—

दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउर जग जाना॥

विद्या बिनय बिबेक बड़ाई—विद्यासे ही विनय होता है, विनयसे पात्रता होती है, पात्रतासे धन होता है, धनसे धर्म और धर्मसे सुख होता है, विद्यासे ही विवेक होता है। यथा—

विद्या बिनु बिबेक उपजाये। श्रम फल पढ़े किये अरु पाये॥

जहँ लगि साधन बेद बखानी—भाव यह कि इतने साधन तो गिनाये गये; इनके अतिरिक्त और भी जिन साधनोंका बखान वेदमें मिले अर्थात् अखिल वेदोक्त साधन।

सबकर फल हरिभगति भवानी—भाव यह कि साधन तो इतने हैं और सिद्धि एक है और वह सिद्धि फलरूपा हरिभक्ति है। यदि हरिभक्ति हुई तो साधनको सफल समझिये और यदि नहीं हुई तो

श्रममात्र हाथ लगा, फल-सिद्धि नहीं हुई। कथाश्रवणसे तीनों काण्डकी फल-सिद्धि कह आये, अब भक्तिमें सबका पर्यवसान करते हैं।

सो रघुनाथभगति श्रुति गाई।
रामकृपा काहू एक पाई॥ ८६॥

अर्थ—उस रघुनाथ-भक्तिका गान वेदने किया है, रामकी कृपासे किसी एकको मिलती है।

सो रघुनाथभगति—भाव यह कि वह फलरूपा भक्ति, जिसके लोभमें पड़े हुए भक्तजन मुक्तिका भी निरादर करते हैं। 'रघुनाथभक्ति' से सगुण ब्रह्मकी भक्ति अभिप्रेत है।

श्रुति गाई—भाव यह कि वेदान्तशास्त्र, उपनिषद् आदि उपासनाओं-से ही भरे पड़े हैं, और वे उपासनाएँ मुख्यतः सगुण ब्रह्मकी ही हैं, मन्त्रभागमें भी उपासना-ही-उपासना है।

रामकृपा काहू एक पाई—भाव यह कि—

धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्म पर प्रानी॥
सबते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगति रत गत मद माया॥

रामभक्ति अति दुर्लभ है, किसीको जल्दी नहीं मिलती। रामकी कृपासे किसी भाग्यवान्‌को कभी मिल जाती है, साक्षात् दर्शन होनेपर भी भगवान्‌से भक्ति ही महात्माओंने माँगी है।

दो०—मुनिदुर्लभ हरिभगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहिँ मानि बिस्वास॥

अर्थ—मुनिदुर्लभ हरि-भक्तिको वे मनुष्य बिना प्रयास पा जाते हैं जो इस कथाको विश्वास मानकर निरन्तर सुनते हैं।

मुनिदुर्लभ हरिभगति—भाव यह कि मुनियोंके लिये कुछ भी

दुर्लभ नहीं, इन्द्रपदको तो वे सूखे हाड़की भाँति नीरस तथा अपवित्र मानते हैं, स्वयं ज्ञानके निधान हैं, पर भगवद्भक्ति उनके लिये भी दुर्लभ है। उन्होंने भगवान्से जब माँगी तो भक्ति ही माँगी; यथा–

सनकादि–

'देहु भगति रघुपति अति पावनि।' 'देहि भगति संसृति सरि तरनी॥'

वशिष्ठजी—

जन्म जन्म प्रभु पद कमल, कबहुँ घटै जनि नेहु।

नारदजी—

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन सरिस, बसौं भक्त-उर-व्योम॥

अत्रिजी—

चरन सरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजै मति मोर।

शरभंगजी–

जोग जज्ञ जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥

सुतीक्ष्णजी—

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा यह काम॥

अगस्त्यजी—

यह बर माँगौं कृपानिकेता। बसहु हृदय श्रीअनुज समेता॥
अबिरल भगति बिरति सतसंगा।

नर पावहिं बिनहिं प्रयास–भाव यह कि इन उपर्युक्त महात्माओंने अनेक साधन किये थे, वे ज्ञानादिसे सम्पन्न थे, उन्हें स्वयं भगवान्के दर्शनतकका सौभाग्य प्राप्त हुआ, फिर भी उन्हें भक्तिके लिये वरदान माँगना पड़ा, वह भक्ति मनुष्य विना प्रयास पा जाता है।

जे यह कथा निरंतर सुनहिं—भाव यह कि जो मनुष्य इस रामचरितमानसकी कथा बराबर सुनता रहता है। बात इतनी ही है कि कथा सुननेमें भंग न होने पावे, कथाकी प्यास बनी रहे। जिसे कथाकी प्यास नहीं होती, उसे रस नहीं मिला, यथा–

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

मानि बिस्वास–भाव यह कि बिना विश्वासके कोई सिद्धि नहीं होती। मनमें यह दृढ़ धारणा रहनी चाहिये कि निश्चय इसके श्रवणसे रामभक्ति होगी। कथाभागमें संशय न करे, विश्वास करके कथा सुने–

करिय न संसय अस जिय जानी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता।
सोइ महि मंडित पंडित दाता॥

अर्थ–वही सर्वज्ञ है, वही गुणी है, वही ज्ञाता है, वही पृथ्वीमें सुन्दर पण्डित है, वही दाता है।

सोइ सर्बग्य–जो पृथक्-पृथक् सब बातोंको जाने, भूत-भविष्य-वर्तमानका जिसे ज्ञान हो, उसे सर्वज्ञ कहते हैं, यथा—

'सब जानेउ सर्बग्य' 'सोउ सर्बग्य यथा त्रिपुरारी'

गुनी–जो दैव या मानुष शिल्पका जानकार हो, उसे गुणी कहते हैं, यथा—

जोरिय कोउ बड़ गुनी बुलाई।

पठए बोलि गुनी तिन नाना। जे बितान बिधि कुसल सुजाना॥

पूछा गुनिन रेख तिन खाँची। भरत भुआल होब यह साँची॥

ग्याता–जिसे परमार्थका ज्ञान हो उसे ज्ञाता कहते हैं, यथा—'तुम पंडित परमारथ ग्याता।' अथवा ज्ञेय चार हैं—नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ। इनका जिसे ज्ञान हो वह ज्ञाता है; यथा—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ । कोउ न राम सम जान जथारथ ॥

सोइ महिमंडित पंडित–भाव यह कि सार्वभौम शास्त्रज्ञ, यथा–'महाराज तुम पंडित ज्ञानी ।' यहाँपर ज्ञानीसे ब्रह्मनिष्ठ और पण्डितसे श्रोत्रिय अभिप्रेत है । 'सोइ महिमंडित पंडित' का अर्थ हुआ कि पृथ्वीभरमें शोभित पण्डित । विद्याकी शोभा विवेकसे होती है; यथा—'विद्या विनु विवेक उपजाए ।'

दाता–'महिमंडित' पदका यहाँ भी अनुवर्तन होगा, अर्थात् सर्वोपकारी दानवीर । वीर तीन प्रकारके होते हैं—युद्धवीर, दयावीर और दानवीर । उसमें भी उसीकी कीर्तिकी शोभा है, जिससे गङ्गाकी भाँति सबका हित हो, यथा—

कीरति भनित भूति भलि सोई । सुरसरि सम सबकर हित होई ॥

धर्मपरायन सोइ कुलत्राता ।
रामचरन जाकर मन राता ॥९०॥

अर्थ–वही धर्मपरायण है, वही कुलका रक्षक है, जिसका मन रामके चरणोंमें लग गया है ।

धर्मपरायन सोइ–भाव यह कि धर्माचरणका फल तो यही है कि भगवान्‌में प्रीति हो; यदि भगवच्चरणोंमें अनुराग नहीं हुआ, तो वह धर्माचरण व्यर्थ है, और यदि अनुराग हुआ तो वह पापी होनेपर भी सद्यः धर्मानुरागी हो जायगा; यथा—'करौं सद्य तेहि साधु समाना ॥'

सोइ कुलत्राता–भाव यह कि पुत्र होनेसे सन्ततिसूत्रका विच्छेद नहीं होता, पुं नाम नरकसे रक्षा होती है, इसीसे पुत्र होनेसे कुलकी रक्षा कही गयी है । यदि पृथ्वीका भारभूत पुत्र उत्पन्न हुआ, तो उसकी उत्पत्ति और उसका जीवन सब व्यर्थ है वरं उससे तो सबकी हानि है । यथा—

नतरु बाँझ भलि वादि बिआनी । रामबिमुख सुतत्तें बडि हानी ॥

रामचरन जाकर मन राता—भाव यह कि जिसका मन रामरंगमें रँग गया वही सर्वज्ञ, गुणी, ज्ञाता, पण्डित, धर्मात्मा और कुलरक्षक है। जिस बातकी उसमें कमी भी है, वह सब पूरी हो जायगी और यदि वह रामरंगमें नहीं रँगा है, तो उसके सब गुण व्यर्थ हैं, एक भी गुण नहीं रह सकेगा, यथा—

राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्याग मद मोहा॥
बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी॥
राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥
सो सब करम धरम जरि जाऊ। जेहि न रामपदपंकज भाऊ॥

रामभक्त कुलत्राता कैसे होता है? इसके लिये एक विशेष कारण यह है कि नौ धन्योंमें उस कुलकी भी गिनती है, जिसमें भक्त जन्म ग्रहण करता है।

नीतिनिपुन सोइ परम सयाना।
श्रुति सिद्धांत नीक तेहि जाना॥

अर्थ—वही नीतनिपुण है, वही परम सयाना है, उसीने श्रुतिसिद्धान्तको भलीभाँति जान पाया है।

नीतिनिपुन—धर्मका किसी प्रकार उल्लंघन न हो, धर्मविरोधी अर्थ और धर्मार्थाविरोधी कामका सेवन करते चलना, संक्षेपमें यही नीति है; पर ऐसी नीतिका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही है। अतः जिस मार्गसे भगवत्प्राप्ति हो, उसीका अवलम्बन करना नीतिकी निपुणता है; यथा—

उपरोहिती कर्म अति मंदा। बेद पुरान सम्रृति कर निंदा॥
जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही। कहा लाभ आगे सुत तोही॥
परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा॥
तब मैं हृदय बिचारा जोग जग्य ब्रत दान।
जा कहँ करिअ सो पैहौं धर्म न एहि सम आन॥

सोइ परम सयाना—भाव यह कि जो अपने हितको समझ सकें और उसके लिये उद्योग करें, वे ही सयाने हैं। परन्तु परम सयाने वे हैं, जो अपने परम हितको पहिचानकर उसके लिये प्रयत्न करें; यथा—

सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न माँगेसि अस बरदाना॥
सब सुखखानि भगति तैं माँगी। नहिं जग तोहि समान बड़भागी॥

श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना—भाव यह कि श्रुतिमें सहस्रों साधनका उपदेश है, पर सबका मन्थन करनेसे यही सिद्धान्त निकलता है कि सब सुखोंको छोड़कर रामको भजो; यथा—

श्रुति सिद्धांत इहै उरगारी। भजिअ राम सब काम बिसारी॥

सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाँडि भजै रघुबीरा॥९१॥

अर्थ—वही कवि है, वही विवेकी है, वही योद्धा है, जो छल छोड़कर रामको भजता है।

सोइ कबि कोबिद—भाव यह कि कवि-कोविद ही हरियशके गान करनेवाले ठहरे। अतः कवि-कोविद जाने या बिना जाने वर्णनके समय वाणीका स्मरण करते हैं। वाणीकी चार अवस्थाएँ हैं—परा*, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। पराकी शरणमें गये बिना वर्णन करना नितान्त असम्भव है। इस भाँति स्मरण करनेपर परा वाणी पश्यन्ती, मध्यमामें अवतरित होती हुई तुरन्त वैखरीरूपमें प्रकट होती है। उस वाणीको हरि-यशगानमें ही विश्राम मिलता है, पापमें डूबे हुए जीवोंके चरितका

---

*१—परा, यथा—भगत हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥
२—पश्यन्ती, यथा—चितै पितहि दीन्हेउ दृढ ज्ञाना॥
३—मध्यमा, यथा—मानसते मुख पंकज आई॥
४—वैखरी, यथा—भा जनु गूँगहि गिरा प्रसादू॥

वर्णन उससे करवाना सरस्वतीको रुलानेके समान है । अतः वाणीको दुःख देनेवाला कवि कोविदपदके योग्य नहीं है; यथा—

भगत हेतु बिधि भवन बिहाई । सुमिरत सारद आवत धाई ॥
रामचरितसर बिनु अन्हवाए । सो श्रम जाइ न कोटि उपाए ॥
कबि कोबिद अस हृदय बिचारी । गावहिं हरिजस कलिमलहारी ॥
कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना । सिर धुनि गिरा लगति पछिताना ॥

सोइ रनधीरा—भाव यह कि जगद्विजयी रावणादि वीर भी काम-क्रोधादि शत्रुओंके वशमें ही रहे । विभीषणजीको सभामें पूछने-पर विनयपूर्वक उचित मन्त्र कहनेके कारण रावणने लात मारी, और उसी बातको मन्दोदरीने अति कठोर शब्दोंमें चार-चार बार कहा और रावण ऐंठकर रह गया, उससे कुछ करते न बना, यथा—

नारि बचन सुनि बिसिख समाना । सभा गयउ उठि होत बिहाना ॥

सो इन शत्रुओंको जो जीत ले वही रणधीर है ।

जो छल छाँडि भजै रघुबीरा—भाव यह कि स्वार्थ (भजनमें) छल है । भजन निष्काम होना चाहिये । जो निष्कामभावसे भगवान्‌का भजन करता है, वही नीतिनिपुण है, वही परम सयाना है, उसीने श्रुतिसिद्धान्त जान पाया है, वही कवि-कोविद है, वही काम-क्रोधादि शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ होगा ।

धन्य देस सो जहँ सुरसरी । धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी ॥
धन्य सो भूप नीति जो करई । धन्य सो द्विज निज धरम न टरई ॥९२॥

सो धन धन्य प्रथम गति जाकी ।
धन्य पुन्यरत मति सोइ पाकी ॥
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा ।
धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा ॥९३॥

अर्थ–वह देश धन्य है जहाँ गङ्गा हैं, वह स्त्री धन्य है जिसने पातिव्रतका अनुसरण किया, वह राजा धन्य है जिसने नीतिका पालन किया, वह द्विज धन्य है जो अपने धर्मसे न हटा, वह धन धन्य है जिसकी पहिली गति हुई, वह पक्की मति धन्य है जो पुण्यमें लगी हुई है, वह घड़ी धन्य है जो सत्संगमें बीते, वह जन्म धन्य है जिसमें ब्राह्मणमें अचल भक्ति हो ।

धन्य सो देस जहँ सुरसरी–भाव यह कि गङ्गाजी पाप तथा त्रिविध तापको हरनेवाली हैं, पृथ्वीमें मानो कल्पवेलि हैं । अतः जिन देशोंमेंसे होकर बहती हैं, वे देश धन्य हैं । गङ्गाका सम्पर्क देशके धन्य होनेका कारण है । उन देशोंके निवासियोंको विधिवश गङ्गा सुलभ हैं, अतः पापभार नहीं होने पाता ।

धन्य नारि पतिव्रत अनुसरी–भाव यह कि केवल पातिव्रतसे स्त्री धन्य है, स्वाभाविक ममतासे ही तरण-तारण हो जाती है, यथा—

सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहहिं ।
जसु गावहिं श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहिं प्रिय ॥

पतिव्रता स्त्रियाँ भगवान्‌को प्रिय हैं, अतः धन्य हैं । यहाँ स्त्री-धर्म कहा ।

धन्य सो भूप नीति जो करई–राजा अन्य किसी साधनसे

धन्य नहीं होता, वह केवल नीतिपूर्वक आचरण करनेसे धन्य होता है, अशोच्य हो जाता है, यथा—

सोचिय नृपति जो नीति न जाना । जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥

तथा—'नीति बिरोध सोहाइ न मोही' । क्षत्रियधर्म कहा ।

धन्य सो द्विज निज धरम न टरई–ब्राह्मणमें तप और श्रुत दोनों होने चाहिये, बिना इन दोनों गुणोंके उसका ब्राह्मणत्व ही पूरा नहीं होता । अतः श्रोत्रिय तथा तपस्वी ब्राह्मण धन्य है, अशोच्य है, यथा—

सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना । तजि निज धर्म बिषय लवलीना ॥

ब्राह्मणधर्म कहा ।

सो धन धन्य प्रथम गति जाकी–धनकी तीन गति होती है—दान, भोग और नाश । चौथी कोई गति नहीं है, जिस धनका दान या भोग नहीं होता है, वह नष्ट हो जाता है, उनमें भी प्रथम गति अर्थात् दान किया हुआ ही धन धन्य है, यथा—'जेन केन बिधि दीन्हेउ दान करै कल्यान' । इससे वैश्यधर्म कहा ।

धन्य पुन्यरत मति सोइ पाकी–पक्की पुण्यरत मतिसे भाव यह कि जिसमें फलाभिकांक्षाकी कचाई न हो । जिसे फलकी इच्छा है, उसकी मति कच्ची है, यथा—

जो कछु करै कर्म मन बानी । बासुदेव अरपित नृप ज्ञानी ॥

इससे कर्मयोग कहा ।

धन्य घरी सोइ जब सतसंगा–भाव यह कि सत्संगमें जो समय बीता वही धन्य है, क्योंकि सत्संग ही सब पुरुषार्थोंका समान-रूपसे साधन है, यथा—

सतसंगति दुर्लभ संसारा । निमिष दंडभरि एकौ बारा ॥

इससे काल कहा, देश पहिले कह आये हैं ।

धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा–भाव यह कि ब्राह्मणोंमें

अटल भक्ति होनेसे ही जन्म धन्य होता है, क्योंकि ब्राह्मणभक्तिमूलक ही कर्म, उपासना तथा ज्ञानकाण्ड हैं, यथा—

प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति रीती॥
सापत ताडत परुष कहंता। विप्र पूज्य अस गावहिं संता॥

इस भाँति अन्य वर्णोंके ब्राह्मण पूज्य हैं। यद्यपि प्रधानतः द्विज शब्दसे ब्राह्मणका ग्रहण होता है, परन्तु क्षत्रिय और वैश्य भी द्विज हैं, और शूद्रके लिये विधान है कि ब्राह्मणकी शिव-बुद्धिसे, क्षत्रियकी विष्णु-बुद्धिसे और वैश्यकी ब्रह्मा-बुद्धिसे सेवा करें। अतः यहाँ शूद्रधर्म भी कहा।

दो०—सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

अर्थ–जिस कुलमें श्रीरघुवीरपरायण विनीत पुरुष पैदा होता है, हे उमा! सुनो वही कुल धन्य है, जगत्पूज्य है और सुपुनीत है।

सो कुल धन्य उमा सुनु–कुल ऊँचा होनेसे पवित्र नहीं होता, यथा—

अति ऊँचे भूधरन पै भुजगनके अस्थान।
तुलसी नीचे होत हैं, ऊख अन्न अरु पान॥
तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैन दिन राम।
ऊँचो कुल केहि कामको जहाँ न हरिको नाम॥

जगत पूज्य सुपुनीत–इस भाँति ऊँचा कुल न तो जगत्पूज्य है, न पुनीत (पवित्र) है, जगत्पूज्यता और पवित्रता कुलपर निर्भर नहीं करती, अच्छे और बुरेकी उत्पत्तिसे कुल पवित्र और अपवित्र हुआ करता है; यथा—

उपजे जदपि पुलस्त्य कुल पावन अमल अनूप।
तदपि महीसुर साप बस भये सकल अघ रूप॥

श्रीरघुवीर परायन–भाव यह कि रामभक्त ही धर्मपरायण और कुलत्राता है; उसीसे कुलकी रक्षा होती है; यथा—

पितर पार कर प्रभुहिं पुनि मुदित गयउ लै पार॥

धन्य धन्य तैं धन्य विभीषन। भयउ तात निसिचरकुलभूषन॥

एक रामभक्तके उत्पन्न होनेसे कुल धन्य हो जाता है।

जेहि नर उपज विनीत–भाव यह कि जो विनीत नहीं है, वह श्रीरघुवीरपरायण भी नहीं है। रामपरायणताका प्रधान लक्षण विनय है, यथा—

अहंकारकी अगिनिमें दहत सकल संसार।
तुलसी बाँचे संतजन केवल सांति अधार॥

जहाँ सांति सतगुरुकी दई। तहाँ क्रोधकी जरि जरि गई॥

जिस भाँति गङ्गाजीके होनेसे देश धन्य होता है; पातिव्रतसे स्त्री धन्य होती है, इसी भाँति श्रीरघुवीरपरायण विनीत पुरुषके उत्पन्न होनेसे कुल धन्य होता है। जिस भाँति अपने धर्मपर अटल रहनेवाला ब्राह्मण जगत्-पूज्य होता है, उसी भाँति वह कुल भी जगत्-पूज्य हो जाता है। जिस भाँति दानसे धन, कर्मयोगसे बुद्धि, सत्सङ्गसे घड़ी और द्विज-भक्तिसे शूद्र पुनीत हो जाता है, उसी भाँति भक्तसे वह कुल पुनीत हो जाता है। शङ्करभगवान्‌ने धन्य-धन्य कहकर कथा प्रारम्भ किया था, यथा—

धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। तुम समान नहिं कोउ उपकारी॥

अब भी धन्य-धन्य कहकर कथा समाप्त करते हैं। प्रारम्भमें भी गङ्गाका उल्लेख था, यथा—

पूछेउ रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जगपावनि गंगा॥

अब समाप्ति भी गङ्गाका उल्लेख करते हुए ही हो रही है; यथा— 'धन्य देस सो जहँ सुरसरी'।

मति अनुरूप कथा मैं भाखी।
जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी॥

अर्थ-(अपनी) बुद्धिके अनुसार मैंने कथा कही, गोकि पहिले मैंने गुप्त करके रक्खी थी।

मति अनुरूप कथा मैं भाखी—भाव यह कि कथाकी इयत्ता न होनेके कारण मति-अनुरूप कही। सब वक्ता ऐसा ही कहते हैं। भुशुण्डिजीने कहा—

कहीं तात हरि चरित अनूपा। व्यास समास स्वमति अनुरूपा॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—

रघुपति कृपा जथामति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा॥

गोस्वामीजी कहते हैं—

मति अनुरूप अनूप सोहाई॥

इतिहासांशकी समाप्ति पहिले कह आये हैं, यथा—'कहेउँ परम पुनीत इतिहासा', अब फलश्रुति कहकर कथाकी समाप्ति कहते हैं।

जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी—भाव यह कि इस कथाकी रचना किये हुए बहुत दिन हुए, परन्तु इसे तुमसे कहा नहीं; यथा—

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवासन भाखा॥

रामभक्तिके भण्डारी शङ्करभगवान् हैं, इनकी कृपाके बिना न तो भक्ति ही मिलती है, न भगवच्चरण मिलते हैं, और न भगवत्-कथाकी प्राप्ति होती है—भक्ति, यथा—

औरो एक गुप्त मत सबहिं कहा कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि॥

भगवच्चरण, यथा—

जे हर हृदय कमल महँ गोए ॥

पुनि रघुपति पदपंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद ।

भगवत्-कथा, यथा—

'सो सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा ।' 'तेहि सन जागबलिक पुनि पावा ।'

राम चरित सर गुप्त सुहावा । संभु प्रसाद तात मैं पावा ॥

तव मन प्रीति देखि अधिकाई ।

तौ मैं रघुपति कथा सुनाई ॥६४॥

अर्थ–तुम्हारे मनमें अधिक प्रीति देखकर, तभी मैंने रघुपति-की कथा सुनायी ।

तव मन प्रीति देखि अधिकाई–भाव यह कि प्रीति तो बराबर देखता था, परन्तु सुनाया नहीं । जिस समय वह प्रीति बढ़ी, उस समय मैंने सुनाया । अतः उत्कट जिज्ञासा होनेपर ही यह कथा सुनानी चाहिये । इसीलिये गोसाईंजी इसे भाषामें छन्दोबद्ध करते समय भी सज्जनको ही सम्बोधन करते हैं; यथा—

सुनहु सकल सज्जन रति मानी ॥

तौ मैं रघुपति कथा सुनाई–भाव यह कि प्रिया होनेपर भी यदि अधिक प्रीति न देखता तो न सुनाता । अधिक प्रीति न होनेसे श्रोताद्वारा कथाका अनादर होता है इससे उसके अकल्याणकी सम्भावना है और वक्ताका भी मनोभंग होता है, लाभ किसीको नहीं होता ।

यह न कहिअ सठही हठसीलहिं ।

जो मन लाइ न सुन हरिलीलहिं॥

अर्थ-इसे कभी कपटी दुराग्रहीसे न कहना, जो कि मन लगाकर हरिकी लीलाको न सुने।

यह न कहिअ सठही हठसीलहिं-उपर्युक्त चौपाईतक विषय-निरूपण हुआ, अब अधिकारिनिरूपणमें पहिले अनधिकारीके विषयमें कहते हैं, कि शठ और हठी अनधिकारी हैं! अतः उपदेशानन्तर भगवतीसे निषेध करते हैं कि यह कथा अनधिकारीसे नहीं कहनी चाहिये। 'मीठी बातें सठ करै करिके महा बिगार।' जो हानि पहुँचावे और मीठी बातें करके अपनी करनी छिपाना चाहे, ऐसे कपटीको शठ कहते हैं। जो अपनी बातका बड़ा पक्ष लेता है, ऐसे दुराग्रहीको हठ-शील कहते हैं।

जो न लाइ मन सुन हरिलीलहिं-शठ और हठीसे न कहने-का कारण यह है कि वह मन लगाकर हरिकी कथा नहीं सुनेगा, वह कथा सुननेके समय अपने मनमें अनेक युक्तियाँ कुतर्कके लिये ठीक करता रहेगा; यथा—

एहि विधि अमित जुगुति मन गुनेउँ। मुनि उपदेस न सादर सुनेउँ॥

ऐसे लोगोंको सुनानेसे दुःख ही उपजता है, श्रोता-वक्ता किसीका कल्याण नहीं होता।

कहिअ न लोभिहिं क्रोधिहिं कामिहिं।
जो न भजै सचराचर स्वामिहिं॥९५॥

अर्थ-(इसे) लोभी, क्रोधी और कामीसे नहीं कहना चाहिये, जो चराचरके स्वामीको नहीं भजता।

कहिअ न लोभिहिं क्रोधिहिं कामिहिं-लोभी, क्रोधी और कामी, परधन, परद्रोह और परदाराका भजन करते हैं, नरकपन्थके पथिक हैं; यथा—'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरकके पंथ।' ये

दूसरे समाजके लोग हैं, इनके इष्टदेव मोह हैं, ये भी हरिकथा मनसे नहीं सुनेंगे, और उपद्रव उठावेंगे; यथा—

तेहि बहु बिधि त्रासहिं देस निकासहिं जो कह बेद पुराना ।

जो न भजै सचराचर स्वामिहिं—यहाँपर नाम नहीं दिया । भाव यह कि नामपर आग्रह नहीं है, चराचरके स्वामीके भजनपर आग्रह है; हम सचराचर स्वामीको राम, रघुपति, हरि इत्यादि कहते हैं, दूसरे उनको यदि वासुदेव, महालक्ष्मी, सदाशिव कहते हों और भजन करते हों तो वे भी अधिकारी हैं । जो जीवका भजन करते हैं, वे अधिकारी नहीं हैं ।

द्विजद्रोहिहिं न सुनाइय कबहूँ ।
सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ ॥

अर्थ—ब्राह्मणद्रोहीको तो कभी न सुनाना, चाहे वह इन्द्रके समान राजा (क्यों न) हो ।

द्विजद्रोहिहिं न सुनाइय कबहूँ—भाव यह कि द्विजद्रोही भागवतधर्मके प्रतिकूल चलनेवाला है । वह प्रभुको पसंद नहीं है; अतः उसे सुनानेके लिये अतिनिषेध है; यथा—

सुनु गंधर्ब कहौं मैं तोही । मोहि न सोहाय ब्रह्मकुलद्रोही ॥

मन क्रम बचन कपट तजि, जो कर भूसुर सेव ।
मोहि समेत बिरंचि सिव, बस ताके सब देव ॥

सापत ताडत परुष कहंता । बिप्र पूज्य अस गावहिं संता
पूजिय बिप्र सील गुन हीना । सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना ॥
कहि निज धर्म ताहि समुझावा ।

सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ—भाव यह कि उसके अधिकार-

का भय अथवा कृपाका लोभ न करे। इन्द्रने सौ यज्ञ किये। सो उसके याज्ञिक होनेका भी कोई विचार न करे।

रामकथाके तेइ अधिकारी।
जिन्हके सतसंगति अति प्यारी ॥६६॥

अर्थ—रामकथाके वे ही अधिकारी हैं, जिन्हें सत्संगति अत्यन्त प्यारी हो।

राम कथाके तेइ अधिकारी—भाव यह कि तीन प्रकारके अनधिकारी कहकर, अब तीन ही प्रकारके अधिकारी कहेंगे। अधिकारीके लिये ही विषयनिरूपण होता है, परन्तु ग्रन्थका निर्माण होनेपर तो वह अधिकारी-अनधिकारी सबके हाथ पड़ता है। तथापि लाभ उससे अधिकारी ही उठा सकते हैं, अनधिकारी उससे लाभ उठानेमें सर्वथा असमर्थ रहते हैं; यथा—

प्रभुपद प्रीति न सामुझि नीकी। तिनहिं कथा सुनि लागिहि फीकी ॥
कवितरसिक न रामपद नेहू। तिनकहँ सुखद हासरस एहू ॥

जिन्हके सतसंगति अति प्यारी—जिसे सत्संगति अति प्यारी है, वह तो स्वाभाविक ही रामकथाका प्रेमी होगा; यथा—

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग ॥

जिसे सत्संगति अति प्यारी है वह यदि अनधिकारी भी हो तो अधिकारी हो जायगा, यथा—

सठ सुधरहिं सतसंगति पाये। पारस परस कुधातु सोहाये ॥

गुरुपद प्रीति नीतिरत जेई।
द्विजसेवक अधिकारी तेई ॥

अर्थ–जिन्हें गुरुचरणोंमें प्रीति है, जो नीतिरत हैं, द्विज-सेवक हैं, वे ही अधिकारी हैं।

गुरुपद प्रीति नीतिरत जेई—भाव यह कि गुरुचरणका प्रेमी परमार्थपथका पथिक है। बिना गुरुके संसारसागरको पार नहीं किया जा सकता। ब्रह्माके कोपसे भी गुरु रक्षा कर सकता है। गुरुके कोपसे कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। गुरुमें जिसे ईश्वर-बुद्धि है, वह प्रभुका प्यारा है; यथा—

हमते अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकल भाँति सेवै सनमानी॥

जो नीतिरत है वह भी प्रभुका प्यारा है, यथा—'नीतिबिरोध सोहाय न मोही॥' जो नीतिरत होगा वह गुरुभक्त भी होगा, फिर भी दोनोंको पृथक्-पृथक् गिननेका कारण गुणविशेषका प्राधान्य है, एकमें गुरुभक्तिकी प्रधानता है, दूसरेमें नीतिनिपुणताकी प्रधानता है।

द्विजसेवक अधिकारी तेई–भाव यह कि ब्राह्मणका द्रोही अनधिकारी, और सेवक अधिकारी है। परमार्थ पथके पथिकको छोड़कर दूसरा द्विजसेवक नहीं हो सकता। अभिमानी कभी दरिद्र दीन ब्राह्मणको बड़ा नहीं मान सकता, ऐसा करनेपर उसे ईश्वरके न्याय तथा समदर्शिता-में दोष दिखायी पड़ने लगेगा। जो अभिमानरहित नहीं है, वह शापत, ताड़त, परुषवक्ता ब्राह्मणको पूज्य कैसे मानेगा? जो ईश्वरको कर्मफलका दाता नहीं मानता, वह शीलगुणहीन ब्राह्मणपर पूज्यदृष्टि कैसे रख सकेगा? अतः द्विजसेयक ही इस कथाका अधिकारी है। द्विजसेवक रामभक्त होगा और ब्राह्मणद्रोहीके घर रावणकी डायरी निकलेगी। वह रावणके गुणोंपर मुग्ध होगा, रावणके गुण प्रसिद्ध करनेमें कोई बात उठा नहीं रक्खेगा।

ताकहँ यह बिसेषि सुखदाई।
जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई॥९७॥

अर्थ-जिसे श्रीरघुराई प्राणप्रिय हैं, उसे यह विशेष सुखदायी है।

ताकहँ यह बिसेषि सुखदाई-भाव यह कि हरिकथा हास्यरूपसे तो खलको भी सुख देनेवाली है, पर यथार्थरूपसे सज्जनोंको ही सुख देती है, यथा—

हरि हर पद रति मति न कुतरकी। तिन कहँ मधुर कथा रघुबरकी॥

और जिसे राम प्राणप्रिय हैं, उसे उनकी लीला भी विशेष सुख देती है, यथा—

श्रवनामृत जेहि कथा सोहाई। कही सो प्रगट होत किन भाई॥

जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई-जिसे प्रभुके स्वरूपका ज्ञान है, उसीको वे प्राणप्रिय हैं। राम सबके आत्मा हैं, अतः सबको प्रिय हैं, अपनी आत्मा किसीको अप्रिय नहीं होती। जो रामको अपनी आत्मा नहीं जानता, उसीको वे अप्रिय मालूम हो सकते हैं, यथा—

जीव जंतु अस को जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं॥
भे अति अहित राम सोउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोही॥

अतः रामको प्राणप्रिय जाननेवाले आत्मज्ञ इसके परम अधिकारी हैं।

दो०—रामचरनरति जो चह, अथवा पद निर्बान।
भावसहित सो यह कथा, करौ श्रवनपुट पान॥

अर्थ-जो रामचरणमें रति चाहता हो या निर्वाणपदको चाहता हो वह मन लगाकर इस कथाको कानके प्यालेसे पीवे।

रामचरनरति जो चह-भाव यह कि परम पुरुषार्थ दो हैं, एक पराभक्ति और दूसरी कैवल्य मुक्ति (निर्वाणपद)। पराभक्तिमें मुक्तिसुख बराबर रहता है, पर भक्त मुक्त नहीं होता, उसे भजन ही

पसंद है, मुक्ति नहीं, और कैवल्य मुक्तिमें साधक 'ब्रह्म' ही हो जाता है, विन्दु सिन्धु हो जाता है। इनमेंसे जो 'पराभक्ति' चाहता है, वही इस पदसे अभिप्रेत है।

अथवा पद निर्वान–भाव यह कि जो वही हो जाना चाहता है। यहाँपर गोसाईंजीने प्रयोजन और सम्बन्ध कहा। रामकथाके ये ही दो प्रयोजन हैं, या तो पराभक्ति या कैवल्य मुक्ति। विषय और प्रयोजनसे साधकसाध्यभाव सम्बन्ध है। साध्य है भक्ति और मुक्ति तथा इन दोनोंका साधक रामकथा है।

भावसहित सो यह कथा–अर्थात् मन लगाकर इस कथाको सुने, जिसमें इस कथाकी छाप मनपर पड़े। छाप पड़नेसे ही प्रयोजनकी सिद्धि होगी, नहीं तो कथाश्रवणजन्य पुण्यमात्र होगा। दोनों प्रयोजनों-मेंसे किसीकी सिद्धि नहीं होगी।

करै श्रवनपुट पान–भाव यह कि कथा बड़ी है, एक घूँटमें नहीं पी जा सकेगी, इसलिये कानके दोने (प्याले) बनाकर स्वाद ले-लेकर कथामृतका पान करो। पान करनेसे भगवच्चरणोंमें भक्ति (साधन) होगी, और भक्तिसे मुक्ति भी हो सकती है और पराभक्ति भी मिल सकती है।

रामकथा गिरिजा मैं बरनी।
कलिमलसमनि मनोमलहरनी॥

अर्थ–हे गिरिजे! मैंने कलिमलकी नाश करनेवाली, मनो-मलको दूर करनेवाली रामकथाका वर्णन किया।

रामकथा गिरिजा मैं बरनी–भाव यह कि जबतक विषयका निरूपण भर करना था तबतक तो इतिहास था, यथा—

यह इतिहास पुनीत अति उमहिं कह्यौ वृषकेतु।

यह इतिहास सकल जग जाना ।

उमा कह्यौ सो सब इतिहासा । मैं जेहि भाँति गयउँ खग पासा ॥

इत्यादि । वही इतिहास जब फलश्रुति, प्रयोजन, अधिकारी तथा सम्बन्धवर्णनसे संयुक्त हुआ तब उसकी संज्ञा 'कथा' हो गई, यथा—'राम कथा गिरिजा मैं बरनी' । प्रश्न हुआ था—'बरनहु रघुबर बिसद जस श्रुतिसिद्धांत निचोरि;' उत्तर हो रहा है कि 'राम कथा गिरिजा मैं बरनी ।'

कलिमलसमनि मनोमलहरनी—समयकृत दोष, जिसका प्रभाव सबपर पड़ता है, उसे कलिमल शब्दसे उपलक्षित किया, और व्यक्तिगत अन्तःकरणके मलको मनोमल कहा । इस रामचरितमानस नामी भक्तिशास्त्रका हृदय अयोध्याकाण्ड अर्थात् द्वितीय प्रबन्ध है । इसीमें भक्तोंके चौदह लक्षण वाल्मीकिजीने कहे हैं, जिनमें सम्पूर्ण रामायण अनुस्यूत है । अतः सम्पूर्ण रामचरितकी फलश्रुति शिवजी अयोध्याकाण्डकी फलश्रुतिके अनुकूल ही कह रहे हैं, यथा—

कलिमलसमन दमन मन रामसुजस सुखमूल ।
सादर सुनहिं जे तिनपर राम रहहिं अनुकूल ॥

संसृत रोग सजीवन मूरी ।
रामकथा गावहिं श्रुति सूरी ॥९८॥

अर्थ—संसार-रोगके लिये संजीवनी बूटी रामकथा है, (इसे) वेद और पण्डित गाते हैं ।

संसृत रोग सजीवन मूरी—भाव यह कि संसाररूपी रोगके लिये तीन प्रकारकी दवाएँ श्रीरामचरितमानसमें लिखी हैं—(१) चूर्ण, (२) गोली * और (३) अर्क। चूर्ण, यथा—

---

* अनुपानकी आवश्यकता है, इसलिये गोली माना, चूर्ण और अर्कमें अनुपान नहीं होता ।

अमिअ मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज-परिवारू॥

गोली, यथा—

रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा अति रूरी॥

अर्क, यथा—

संसृत रोग सजीवन मूरी।

भावसहित जो यह कथा करै श्रवनपुट पान॥

कथामृतपानसे संसार-रोग जाता है, अतः सुखमूल है।

रामकथा गावहिं श्रुति सूरी-भाव यह कि वेदमें जो कुछ कहा गया है, उसका साक्षात् या परम्परागत रामसे सम्बन्ध है। अतः वेदमें रामकथा ही है; यथा—

जिनहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुबर बिसद जस॥

—और परमार्थज्ञाता पण्डित लोग भी रामकथा ही कहा करते हैं, यथा—

कवि कोबिद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमलहारी॥

एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना॥

अर्थ-इसमें सुन्दर सात सोपान हैं, (ये सब) रामभक्तिके रास्ते हैं।

एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना-भाव यह कि सातों प्रबन्ध ही सात सीढ़ियाँ हैं, यथा—'सत प्रबंध सुभग सोपाना'। गोस्वामीजीने रामचरितमानसको वाल्मीकीय रामायणकी भाँति काण्डोंमें विभक्त न करके सोपानोंमें विभक्त किया। बाल, अयोध्यादि नाम, मालूम होता है, लोगोंने पीछेसे रख लिया। संख्यामें सात होनेसे 'सोपाना' 'पंथाना' बहुवचनका प्रयोग किया।

रघुपति भगति केर पंथाना—भाव यह कि सब सोपान, पृथक्-पृथक् भक्तिमार्ग हैं। यह अद्भुत सरोवर है, जिसमें प्रत्येक सोपानसे जलकी प्राप्ति होती है, और प्रत्येक सोपानके जलके पृथक्-पृथक् गुण हैं, उसीको फलश्रुति कहते हैं, यथा—

प्रथम सोपानके जलके गुण—

सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिनकहुँ सदा उछाहु मंगलायतन रामजस॥

द्वितीय सोपान—

कलिमलसमन दमन मन रामसुजस सुखमूल।
सादर सुनहिं जे तिनपर राम रहहिं अनुकूल॥

तृतीय सोपान—

रावनारि-जस पावन गावहिं सुनहिं जे लोग।
राम भगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग॥

चतुर्थ सोपान—

भवभेषज रघुनाथजस सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिनके सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

पञ्चम सोपान—

सकल सुमंगल दायक रघुनायक गुनग्राम।
सादर सुनहिं ते तरहिं भवसिंधु बिना जलजान॥

षष्ठ सोपान—

समर बिजय रघुबीरके चरित जे सुनहिं सुजान।
बिजय बिबेक बिभूति नित तिनहिं देहिं भगवान॥

सप्तम सोपान—

बिमल कथा हरिपद दायिनी। भगति होइ सुनि अनपायनी॥

अति हरिकृपा जाहि पर होई।
पाँव देइ एहि मारग सोई ॥९९॥

अर्थ-अत्यन्त हरिकृपा जिसपर होती है, वह इस रास्तेमें पैर देता है।

अति हरिकृपा जाहि पर होई-भाव यह कि भक्तिशास्त्रमें सब कुछ हरिकृपापर ही अवलम्बित है, हरिकरुणासे नरशरीर मिलता है, नरशरीरसे भजन होता है, भजनसे हरिकृपा होती है, उससे सत्संग मिलता है, सत्संगसे हरिकथा मिलती है, उससे मोह भागता है, तब रामचरणमें अनुराग होता है, अनुरागसे रघुपतिकी प्राप्ति होती है। हरिकी कृपासे नरशरीर मिला, विशेष कृपासे सत्संग मिला, राम-कथा सुनी, पर उस कथामें जो सात रास्ते हैं, उन रास्तोंमें पाँव रखना हरिकी अति कृपासे ही सम्भव है।

पाँव देइ एहि मारग सोई-भाव यह कि कथा सुन लेना दूसरी बात है, परन्तु तदनुसार वर्तना महा दुष्कर है। वर्तनेकी ओर प्रवृत्ति ही किसीकी नहीं होती, जिसपर भगवान्‌की अति कृपा होती है वही इस ओर पैर उठाता है; यथा—

जौं एहि पंथ चलै मन लाई। तौ हरि काहे न होहिं सहाई॥
जो मारग श्रुति साधु बतावै। तेहि पथ चलत सबै सुख पावै॥

मनकामना सिद्ध नर पावा।
जो यह कथा कपट तजि गावा॥

अर्थ-जिसने इस कथाको कपट छोड़कर गाया, (उसकी) मनोकामना सिद्ध हो गयी।

मनकामना सिद्ध नर पावा-भाव यह कि मनोकामनाकी

सिद्धिके लिये लोग अनुष्ठान करते हैं, अनुष्ठान प्रारम्भ करनेके पहिले ही सङ्कल्प करते हैं कि अमुक कामनाकी सिद्धिके लिये मैं यह अनुष्ठान करूँगा। सङ्कल्प नहीं करनेसे अनुष्ठानका यथावत् फल नहीं होता। यहाँ दूसरी बात है। किसी फलकी आकांक्षा न रखकर इस कथाका गान करे, तो मनोकामना आप-से-आप सिद्ध हो जाती है; यथा—

तिनके सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

जो यह कथा कपट तजि गावा–भाव यह कि अनुष्ठानके लिये अधिकारी चाहिये, स्वयं अधिकारी न होनेपर दूसरे अधिकारीसे करवाया जाता है, अनुष्ठानके असंख्य कठिन नियम हैं। यहाँ कोई नियम नहीं। कामना तथा फलाभिसन्धिका त्याग करके आनन्दमें विभोर होकर गान करना, बस यही एक गुण अपेक्षित है।

कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं।
ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥१००॥

अर्थ–जो कहते, सुनते या अनुमोदन करते हैं, वे भवसागरको गोपदकी भाँति तर जाते हैं।

कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं–रामायणप्रतिपादित रामको ब्रह्म जानकर उनकी कथा कहना, सुनना या कहने-सुननेमें सहायता करनेका यह फल है कि अनायास लोग भवसागर पार कर जाते हैं, और जो ब्रह्मसे भिन्न मानकर कहते-सुनते हैं, वे अधम* हैं, यथा—

कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जो मोहपिसाच।
पाषंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साँच॥

ते गोपद इव भवनिधि तरहीं–भाव यह कि सत्ययुगमें ध्यान

---

* छोटेकी स्तुति बढ़ाकर की जा सकती है, पर बड़ेकी स्तुति घटाकर नहीं की जा सकती।

करके, त्रेतामें यज्ञ करके और द्वापरमें पूजा करके लोग संसारसागरसे तरते हैं। इन लोगोंको बड़ा प्रयास करना पड़ता है, इसलिये तरना कहा। परन्तु कलिमें हरिगुण-गानसे संसारका थाह मिल जाता है। यहाँ शङ्का उठती है कि फिर भी सूखे समुद्रको पार करना भी कुछ साधारण व्यापार नहीं है, इसीलिये कहते हैं कि गोपदकी भाँति तर जाता है, अर्थात् अनायास पार होता है, यथा—

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं सब प्रानी॥
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥
कलिजुग केवल हरिगुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।

सुनि सब कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोली गिरा सोहाई॥

अर्थ—यह कथा सुननेपर हृदयमें बहुत अच्छी लगी, तब गिरिजाजी सुन्दर वाणी बोलीं।

सुनि सब कथा हृदय अति भाई—भाव यह कि 'गोपद इव तरहीं' कहकर शङ्करभगवान् मौन हो गये, कथा समाप्त हुई। अब श्रोताकी ओरसे कृतज्ञता प्रकट करना शेष रहा। गिरिजाके प्रश्न शङ्करको अच्छे लगे—

प्रश्न उमाके सहज सुहाए। छलबिहीन सुनि सिव मन भाए॥

इसी भाँति शङ्करके उत्तर गिरिजाको पसंद आये, यथा—'सुनि सब कथा हृदय अति भाई।' पहिले नहीं अच्छे लगे थे, सुना ही नहीं, केवल शिवजी सुनते रहे, यथा—

रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी॥

गिरिजा बोली गिरा सोहाई—'सोहाई गिरा' वही कहलाती है, जो श्रोताको अच्छी लगे, अतः 'सोहाई' और 'भाई' का साथ रहता है, यथा—

जामवंतके बचन सोहाए। सुनि हनुमान हृदय अति भाए॥
आश्रम एक पुनीत सोहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥
तासु कनकमय सिखर सोहाए। चारि चारु मेरे मन भाए॥

इत्यादि।

नाथकृपा गत मम संदेहा।
रामचरन उपजेउ नव नेहा॥१०१॥

अर्थ-नाथकी कृपासे मेरा सन्देह दूर हो गया, और रामचरणमें अपूर्व प्रेम उत्पन्न हुआ।

नाथकृपा गत मम संदेहा—भाव यह कि सन्देह अविद्या है, सन्देहका जाना, अविद्याका दूर होना है। सन्देह यह था कि—

जौं नृपतनय तो ब्रह्म किमि नारिबिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमत बुद्धि अति मोरि॥

वह सन्देह चला गया; यथा—

तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह।
जानेउँ रामप्रताप प्रभु चिदानंदसंदोह॥

रामचरन उपजेउ नव नेहा—भाव यह कि पहिले भी नेह था, यथा—

तव कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथापर रुचि मन माहीं॥

पर अब जो नेह है वह दूसरा है, इसीलिये 'नव' कहा। 'नव' और 'अपूर्व' समानार्थक शब्द हैं, यथा—

ये दारिका परिचारिका करि पालबी करुना नई।
बिगरी सुधारै कृपानिधिकी कृपा नई॥

प्रभुमें नव नेह कहकर असिताका दूर होना कहा।

यथा—

हित हमार सियपति सेवकाई।

दो०-मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।
रामभगति दृढ़ ऊपजी, बीते सकल कलेस॥

अर्थ-हे विश्वेश्वर! मैं अब तुम्हारी कृपासे कृतकृत्य हो गयी, दृढ़ रामभक्ति उपजी और सब क्लेश दूर हो गये।

मैं कृतकृत्य भइउँ—भाव यह कि जबतक कोई कृत्य शेष रहता है, तबतक कोई कृतकृत्य नहीं होता, और जबतक रागद्वेष है, तबतक कृत्य भी निःशेष नहीं होता। अतः जगत्को राममय देखनेसे ही रागद्वेषकी सम्यक् प्रकारसे हानि होती है, यथा—

निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध॥

अतः कृतकृत्य कहकर 'रागद्वेष' की हानि कहा।

तव प्रसाद बिस्वेस—भाव यह कि ईश्वर इच्छामात्रसे जगत्का उद्धार करनेमें समर्थ हैं, उसकी कृपासे ही उद्धार होता है। प्रश्न किया था कि—

जौ मोपर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी॥
तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥

अतः समाधान सुनकर कहती हैं कि—

मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।

रामभगति दृढ़ ऊपजी—भाव यह कि संशयका नाश होनेपर

भक्तिमें दृढ़ता आयी, और उस दृढ़ भक्तिवालेको देहकी ममता नहीं रह जाती; यथा—

तुलसी मंगल मरन तरु रामप्रेम पय सींचु ।

इससे अभिनिवेशका नाश कहा ।

बीते सकल कलेस—भाव यह कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशको क्लेश* कहते हैं, सो पाँचों, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, दूर हो गये ।

यह सुभ संभु उमा संबादा ।
सुख संपादन समन बिषादा ॥

अर्थ—यह शुभ शम्भु-उमा-संवाद, सुखका सम्पादन और विषादोंका शमन करनेवाला है ।

यह सुभ संभु उमा संबादा—भाव यह कि पश्चिमघाट समाप्त हुआ ।

गयउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर ॥

कहकर उत्तरघाट समाप्त किया था, वहाँ गरुड़ दूसरी जगहसे कथा सुनने आये थे, इससे उनका जाना कहा, और यहाँ श्रोता-वक्ताको कहीं आना-जाना नहीं है, इसलिये 'यह सुभ संभु उमा संबादा' कहकर पश्चिमघाट समाप्त कर रहे हैं । भुशुण्डि-गरुड़-संवाद समाप्त होनेपर शङ्करभगवान् कथा कहने लग गये; यथा—

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन ।

और यहाँ शम्भु-उमा-संवाद समाप्त होते ही याज्ञवल्क्य भगवान् बोल उठे, कथा तो सब साथ ही समाप्त हुई, फलस्तुतिमात्र शेष थी, अतः कहते हैं—

---

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः । (यो० सू०)

सुख संपादन समन विषादा-भाव यह कि विषाद-योग होनेपर ही हमारे यहाँ उपदेशकी विधि है। भगवद्गीतामें पहिले ही 'अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः' चलता है। यहाँ पहिले उमाको विषाद हुआ, यथा—

अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥

और संशयमें ही तर्कसे विषाद होता है, यथा—

संसय सर्प ग्रसन उरगादा। समन सुकर्कस तर्क विषादा॥

फिर गरुड़को विषाद हुआ, यथा—

बंधन काटि गयो उरगादा। उपजा हृदय प्रचण्ड विषादा॥

तत्पश्चात् भरद्वाजजीको विषाद हुआ, यथा—

कहउँ सो मति अनुहार अब उमा संभु संबाद।
भयउ समय जेहि हेतु जेहि सुनु मुनि मिटहि बिषाद॥

सो यह श्रीरामचरित तो विषाद मिटानेकी औषधि ही है, अतः कहते हैं कि 'समन बिषादा'। इसमें केवल विषादाभावमात्र (अभावात्मक) सुख ही नहीं है, बल्कि भावात्मक सुख भी है, यथा—

मोह जलधि बोहित तुम भये। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दये॥

संसारवृक्षके दो ही फल हैं—सुख और दुःख, यथा—

फल जुगल विधि कटु मधुर, बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।

और 'दुःखका नाश तथा परमानन्दकी प्राप्ति' इतना ही पुरुषार्थ है, सो उमा-शम्भु-संवादसे दोनों होता है।

भव भंजन गंजन संदेहा।
जन रंजन सज्जन प्रिय एहा॥१०२॥

अर्थ-(यह संवाद) भवका भञ्जन, सन्देहोंका नाश, भक्तोंका रञ्जन करनेवाला और सज्जनोंको प्रिय है।

भव भंजन गंजन संदेहा—भाव यह कि उमा-शम्भु-संवादके सुननेसे संसारका भञ्जन हो जाता है, यह इस संवादकी विशेषता है; भक्ति-लाभ भुशुण्डि-गरुड़-संवादकी विशेषता है, यथा—

मुनिदुर्लभ हरिभगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।

और फल भी वही हुआ, यथा—

रामभगति दृढ़ ऊपजी, बीते सकल कलेस॥

सन्देहोंका नाश होना तो सब संवादोंमें समान है।

जन रंजन सज्जन प्रिय एहा—भाव यह कि भक्तोंके हृदयको रामरंगमें रँग देता है, और सज्जनोंको प्रिय है, यथा—

मुनि गुनगान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥

अतः ये दोनों गुण भी भुशुण्डि-गरुड़ तथा उमा-शम्भु-संवादमें समान हैं।

राम उपासक जे जगमाहीं।
एहि सम प्रिय तिनके कछु नाहीं॥

अर्थ—संसारमें जितने राम-उपासक हैं, उन्हें इसके समान कुछ भी प्रिय नहीं है।

रामउपासक जे जगमाहीं—भाव यह कि सज्जन और भक्तोंके लिये तो कह चुके, अब सम्प्रदायविशेषको लक्ष्य करके कहते हैं, कि संसारमें जितने राम-उपासक हैं। जिनके इष्टदेव श्रीरामचन्द्र हैं, जिन्होंने राममन्त्र ग्रहण किया है, जो सुतीक्ष्णकी भाँति भूपरूपपर आसक्त हैं, चतुर्भुज रूप भी हृदयमें आनेपर जिनका ध्यान भङ्ग होता है, वे रामोपासक हैं।

एहि सम प्रिय तिनके कछु नाहीं—भाव यह कि देह-प्राणसे बढ़कर प्यारा है, क्योंकि—

देह प्रान सम प्रिय कछु नाहीं । सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं ॥

पर रामसे प्यारा कोई नहीं, यथा—'राम देत नहिं बनै गोसाईं ॥' सो यह कथा राम-सी प्यारी है। यह कथा सबको सुखदायी है, पर राम-उपासकोंको विशेष सुख देनेवाली है, यथा—

ताकहँ यह बिसेष सुखदाई । जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई ॥

और जो जितना ही सुखदायी है, वह उतना ही विशेष प्रिय है ।

रघुपति कृपा जथामति गावा । मैं यह पावन चरित सुहावा ॥१०२॥

अर्थ–मैंने इस पवित्र सुन्दर चरितको रघुपतिकी कृपासे यथामति गाया है ।

मैं यह पावन चरित सुहावा–भाव यह कि जिस बातको लेकर उपक्रम किया था, वही कहते हुए उपसंहार करते हैं । उपक्रममें भी रामचरितको पावन और सुहावा कहा था । पावन, यथा—

महामोह महिषेस बिसाला । रामकथा कालिका कराला ॥

सुहावा, यथा—

रामकथा ससि किरिन समाना । संत चकोर करहिं जेहि पाना ॥

अब भी पावन और सुहावा कहकर उपसंहार करते हैं । एक ही कथाके प्रतिसंवादकी फलश्रुतिमें भेद होनेका कारण यह है कि प्रतिसंवाद-में भगवत्-चरित वही होनेपर भी भागवत चरितोंमें न्यूनाधिक्य है । यथा, उमा-शम्भु-संवादमें गरुड़जीकी कथा अधिक है, भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवादमें उमा-शम्भु-चरित अधिक है, तुलसीकृतमें भरद्वाज-कथा अधिक है ।

रघुपति कृपा जथामति गावा–भाव यह कि जैसी बात मनमें रहती है, ठीक वैसी ही कह डालना साधारण बात नहीं है, भगवान्‌की

कृपासे ही यथामति कहना सम्भव है। यहाँ गावा कहकर विस्तारसे कहना कहा, अर्थात् जान-बूझकर कुछ छिपाया नहीं। इस भाँति दक्षिण-घाटकी समाप्ति कही। याज्ञवल्क्यका जाना नहीं कहा; क्योंकि वे वहीं रह गये, यथा—'भरद्वाज राखे पद टेकी'; नहीं जाने दिया। यहाँपर भरद्वाजजीका कृतज्ञता-प्रकाश भी नहीं लिखा, क्योंकि वे ऐसे प्रेममें मग्न हो गये थे कि उनके मुखसे वाणी ही नहीं निकली। शङ्करचरित सुनकर ही उनकी यह अवस्था हुई कि 'प्रेम बिबस मुख आव न बानी।' तबसे फिर बोले ही नहीं, कथा पूरी हो गयी पर बीचमें एक प्रश्न भी नहीं किया। बीच-बीचमें मुनि (याज्ञवल्क्य) जी सावधान बराबर करते रहे, पर वे कथामें ऐसे डूबे कि भगवान् याज्ञवल्क्यने भी 'काल पाय मुनि सुनु सोइ राजा' कहनेके बाद सम्बोधन करना भी बन्द कर दिया। भरद्वाजजीकी समाहित अवस्था बढ़ती ही गयी, अतः कृतज्ञता-प्रकाश न कर सके। दक्षिणघाट समाप्त हुआ। अब केवल गोस्वामीजी बोल रहे हैं।

एहि कलिकाल न साधन दूजा।
जोग जज्ञ जप तप ब्रत पूजा॥

अर्थ-इस कलिकालमें दूसरा साधन, योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत, पूजा कुछ भी नहीं है।

एहि कलिकाल न साधन दूजा—भाव यह कि काल-प्रभाव-को अन्यथा करनेमें कोई समर्थ नहीं है, किसीकी शक्ति नहीं कि ग्रीष्म ऋतुमें गर्मी न पड़ने दे, पर खसकी टट्टी, पंखा आदिसे अपनी रक्षा कर सकता है। सो गोस्वामीजी अपने मनसे कह रहे हैं कि इस समय घोर कलिकाल तप रहा है, यथा—

सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नरनारी॥
....॥

सुनु व्यालादि कराल कलि मल अवगुन आगार।

खलमण्डलीमें धर्म नहीं निबहने पाता, और जहाँ संसार-का-संसार पापी हो गया, वहाँ धर्म कैसे निबहेगा ? यथा—

खलमंडली बसहु दिनराती । सखा धर्म निबहै केहि भाँती ॥

जोग जज्ञ जप तप व्रत पूजा—भाव यह कि योग सत्ययुगका धर्म है । सत्ययुगमें शुद्ध सत्त्वका प्रवाह रहता है, अतः समता, विज्ञान, मनकी प्रसन्नता सभीको होती है, तब ध्यान होता था । त्रेतामें सत्त्वगुण-का प्रभाव अधिक और न्यून रजोगुण रतिकर्ममें रहता था, इससे सस्त्रीक होकर यज्ञ, जप, तप, व्रत करते थे । द्वापरमें रजोगुण बहुत बढ़ जाता है और थोड़ा सत्त्व और तम भी रहता है । उस समय बड़े-बड़े यज्ञ करनेमें लोग असमर्थ हो जाते हैं । अतः उस युगके लिये पूजा धर्म था । कलियुगमें तामस बहुत रजोगुण थोड़ा है, पापपयोनिधिके जीव मीन हो रहे हैं, उनसे पूजाङ्ग, आसनशुद्धि, भूतशुद्धि आदि कहाँसे हो, अतः कलियुगमें पूजा भी नहीं हो सकती ।

रामहिं सुमिरिअ गाइअ रामहिं ।
संतत सुनिअ रामगुनग्रामहिं ॥१०४॥

अर्थ—रामका सुमिरन करना चाहिये, रामको गाना चाहिये, रामके गुणग्रामको सुनना चाहिये ।

रामहिं सुमिरिअ गाइअ रामहिं—भाव यह कि राम-नामका स्मरण करना चाहिये, मुखसे बोलना चाहिये, केवल मानसिक जप इस कालमें पर्याप्त नहीं है, यथा—

रामनाम सिव सुमिरन लागे । जानेउ सती जगतपति जागे ॥

उससे मन थके तो रामगुणगान करना चाहिये, यथा—

राम सुमिरन सब बिधिहीको राजु रे ।
रामको बिसारिबो निषेध सिरताजु रे ॥

यही एकमात्र इस युगके लिये साधन है।

संतत सुनिअ रामगुनग्रामहिं—भाव यह कि जब सुमिरन करते और गाते थक जाय तब गुणग्राम सुने, अथवा सदा गुणग्राम सुना करे, यदि वक्ता न मिलें, श्रोता मिलें तो रामगुणग्रामको उन्हें सुनावे, जब वक्ता-श्रोता कोई न मिले तो बैठकर सुमिरन करे।

जासु पतितपावन बड़ बाना।
गावहिं कबि श्रुति संत पुराना॥

अर्थ—**जिसका बड़ा विरद पतितपावन है, कवि, वेद, संत, पुराण सब यही गाते हैं।**

जासु पतितपावन बड़ बाना—भाव यह कि राजा रामचन्द्रके बहुत-से विरद हैं, यथा—

'विरद गरीबनेवाज रामको।'
'दीनहित (विरद पुराननि गायो)।' 'गई बहोर विरद (सदई है)॥'
'पतितपावन विरद (वेद गायो)।'

इनमेंसे पतितपावन विरद बड़ा है। इस दरबारसे कितने पतित तरे, उनकी गिनती नहीं। यहाँपर रामका सुमिरन करने, गाने और गुण-श्रवणका कारण देते हैं कि इस युगमें पापसमुद्र*की हमलोग मछली हो रहे हैं और उनका पतितपावन बाना है, सो ऐसे ही विरदवालेको भजना चाहिये।

---

* बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ छन एक।
तातें सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक॥
कृपा डोरि बंसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।
एहि बिधि बेधि हरिअ मेरो दुख कौतुक नाथ तुम्हारो॥

(विनय०)

गावहिं कवि श्रुति संत पुराना—यहाँ कवि और संत आप्त हैं और वेद-पुराण आप्तवाक्य हैं। अतः शब्दप्रमाणसे सिद्ध हुआ कि श्रीरामचन्द्रका बड़ा विरद पतितपावन है। वेद-पुराण प्रभुके यशगान करनेवाले वन्दी हैं, अतः उन्होंने विरद कहा है। यहाँ कविके साथ श्रुति और संतके साथ पुराण शब्द रखनेका भाव यह है कि वेदके कहे हुए अर्थका ही पुराण उपबृंहण करते* हैं, और कविकी कविताकी व्याख्या संतलोग किया करते हैं, यथा—

सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही॥

ताहि भजिअ मन तजि कुटिलाई।
राम भजे गति केहि नहिं पाई॥१०५॥

अर्थ—हे मन! उसे तू कुटिलताओंको छोड़कर भज, क्योंकि रामको भजनेसे किसे गति नहीं मिली?

ताहि भजिअ मन तजि कुटिलाई—तीनों घाटोंके वक्ताओंने अपने-अपने श्रोताओंसे कथा कही। गोसाईंजी अपने मनसे कथा कह रहे हैं, वही इनका प्रधान श्रोता है, क्योंकि उसीके सुखके लिये इन्होंने कथा कही, यथा—

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

और वही कृतकृत्य हुआ, यथा—

जाकी कृपा लवलेसते मतिमंद तुलसीदासहू।
पाएउ परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

राम भजे गति केहि नहिं पाई—भाव यह कि दरबारसे कोई निराश न हो, कुटिलाई छोड़कर चला आवे, अर्थात् भजन करे इतना ही उसका काम है, बाकी सब प्रभु स्वयं कर लेते हैं। कैसा भी

* पोषण।

पापी हो, अधम हो, चराचरद्रोही हो, ब्रह्मघाती हो, यहाँ कपट छोड़ देने-पर सबका गुजारा है। एक कपटीके लिये स्थान नहीं है, कपट छोड़कर वह भी चला आवे।

छंद—पाई न केहि गति पतितपावन
राम भजि सुनु सठ मना* ।
गनिका अजामिल व्याध गीध
गजादि खल तारे घना ॥

अर्थ—हे शठ मन ! सुन, पतितपावन रामको भजकर किसने गति नहीं पायी; गणिका, अजामिल, व्याध, गीध, गज आदि बहुतेरे पापी तर गये।

पतितपावन राम भजि—भाव यह कि राम पतितपावन हैं, जैसे ही जीव भजनके लिये उनके सम्मुख होता है, तैसे ही वे उसके करोड़ों जन्मके पापोंका नाश कर देते हैं, और जहाँ मद, मोह, कपट आदि छोड़कर शरणमें आया तहाँ उसे तुरन्त साधुके समान बना लेते हैं, भजन करनेके कारण कृपा बनाये रखते हैं।

सुनु सठ मना पाई न केहि गति—भाव यह कि 'पुरइन सघन चारु चौपाई।'—

छंद सोरठा सुंदर दोहा। सो बहु भाँति कमल कुल सोहा॥

चौपाइयाँ पुरइन हैं। और छंद-सोरठा-दोहा कमल हैं। सो पुरइनमें कली लगती है, पीछेसे वही कली विकसित होकर फूल हो जाती है। यहाँ—

* गोसाईंजीका मुख्य श्रोता तो उनका मन है, उसीको सुखी करनेके लिये कथा सुना रहे हैं, अतः विदाई नहीं कही जा सकती।

ताहि भजिअ मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति के नहिं पाई॥

इस पुरइनमें कली लगी है, इसीका विकसित रूप छन्द है। 'मन ! राम भजे गति के नहिं पाई' यह कलीका रूप है। मनको 'सठ' कहते हैं, क्योंकि यह एक अनुनय-विनय नहीं सुनता। उसीसे पूछते हैं कि तू किसी अधमका नाम बतला, जो भजन करनेपर भी परमपदका भागी न हुआ हो? अर्थात् सभी हुए।

श्रीगोस्वामीजी दीनघाट (पूर्वघाट) के वक्ता हैं, अतः कथामें जहाँ दैन्यका प्राधान्य है, वहाँ ये ही बोलते हैं, यथा—

तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकै सरित सनेहकी।
'तुलसी देखि सुबेष भूलहिं मूढ़'

इत्यादि यहाँ भी दैन्यका प्राधान्य है, अतः अपने श्रोता मनको सम्बोधन करते हैं। इसी भाँति ज्ञानप्रधान अवसरपर ज्ञानघाट (पश्चिम) के वक्ता शङ्करजी बोल उठते हैं, यथा—

उमा कहौं मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥

इत्यादि।

जहाँ भक्तिका प्राधान्य आता है, वहाँ भुशुण्डिजी बोलते हैं, यथा—

मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥

जहाँ कर्मकी प्रधानता रहती है, वहाँ (दक्षिणघाट) कर्मघाटके वक्ता याज्ञवल्क्यजी बोलते हैं, यथा—'भरद्वाज सुनु जाहि जब होत बिधाता बाम।' इत्यादि।

गनिका अजामिल···घना—भाव यह कि पाँच खलोंकी नजीर (उदाहरण) दी जाती है, जो भजन करनेसे तर गये। गणिकाके अज्ञानकी कौन सीमा, जिसने क्षणिक सुखके लिये शतकोटि कल्पके दुःखपर ध्यान नहीं दिया; अजामिलकी असिताका क्या अन्त, जिसने जन्मभर पाप ही कमाया, और घोर सङ्कटके समय भी परमेश्वरको न

पुकारकर अपने लड़केको पुकारा। व्याधके रागका क्या ठिकाना जो कुटुम्बके रागमें पड़ा हुआ हिंसा ही करता रहा, और गीधकी द्वेषयुक्त जीविका ही थी, यथा—'गीध अधम खग आमिष भोगी'। गजने अभिनिवेशके वश होकर ही भगवान्‌को पुकारा, अतः इन पाँचोंमें प्रधानतः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशका आधिक्य था, इसीलिये पाँच उदाहरण दिये गये। भजनसे ये सब तर गये।

आभीर जमन किरात खस
स्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन
होहिं राम नमामि ते* ॥

अर्थ–आभीर, यवन, किरात, खश, चाण्डाल आदि जो पापरूप हैं, वे भी एक बार जिसके नाम लेनेसे पवित्र होते हैं, ऐसे रामको मैं नमस्कार करता हूँ।

आभीर···रूप जे–भाव यह कि ये जातियाँ अघरूप हैं, लोक और वेद सब भाँतिसे नीच हैं, यथा—

लोक वेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥
हम जड जीव जीवगन घाती। कपटी कायर कुमति कुजाती॥
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥

इन योनियोंमें जन्म होना पूर्व पापका परिणाम है। सो इन योनियोंमें भी जन्म लेकर जो एक बार भगवान्‌को भजता है, वह पवित्र हो जाता है।

कहि नाम बारक···नमामि ते–भाव यह कि नाममें ऐसी पापदाहिका शक्ति है कि उनके पापको भी भस्म कर देती है, यथा—

---

* 'कहहुँ कथा हरिपद धरि सीसा' से उपक्रम और 'राम नमामि ते' से उपसंहार हुआ।

विवसहु जासु नाम नर कहहीं । जनम अनेक रचित अघ दहहीं ॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं । भवसागर गोपद इव तरहीं ॥

पतित दो प्रकारके हुए, एक जातिसे पतित और एक कर्मसे पतित। सो दोनों प्रकारके पतितोंका उद्धार भगवत्-भजनसे होता है, यथा—

तुलसी भगत स्वपच भलो भजै रैन दिन राम ।
ऊँचो कुल केहि कामको जहाँ न हरिको नाम ॥
(वै० सं०)

सो ऐसे पतितपावनको गोस्वामीजी मङ्गलार्थ प्रणाम करते हैं ।

रघुबंस भूषन चरित जे नर
नारि सुनहिं जे गावहीं ।
कलि मल मनोमल धोइ बिनु
स्रम राम धाम सिधावहीं ॥

अर्थ—रघुवंशभूषणके* चरित्रको† जो स्त्री-पुरुष गाते-सुनते हैं, वे कलिके मल तथा मनके मलको धोकर अनायास रामधामको जाते हैं ।

रघुवंस भूषण...गावहीं—भाव यह कि रामचरितगानमें अधिकारीका बखेड़ा नहीं है । इस चरितके गान करनेका अधिकार सब जातिके स्त्री-पुरुषको है, और इससे सबको समान फल होता है ।

कलि मल मनोमल...सिधावहीं—भाव यह कि एक तो यह युग मलिन, तिसपर मन मलिन, फिर सुगतिकी कौन-सी आशा है? पर भगवान्‌के चरितगानसे दोनों मल छूट जाते हैं, और जीव रामधामकी

---

* परमातमा ब्रह्म नर रूपा । होइहि रघुकुल भूषन भूपा ॥

† जेहि सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई ।
रघुबीर चरित पुनीत निसिदिन दास तुलसी गावई ॥

प्राप्तिका अधिकारी होता है, जहाँसे पुनरावृत्ति नहीं होती। अन्य साधनोंमें बड़ा आयास है, पर यह साधन ऐसा है कि गाते-बजाते रामधाम चले जाइये।

सतपंच चौपाईं मनोहर
जानि जे नर उर धरैं।
दारुन अबिद्या पंच जनित
बिकार श्रीरघुबर हरैं॥

अर्थ—एक सौ पाँच चौपाइयोंको जो कोई जानकर हृदयमें धारण करता है, उसके दारुण अविद्याओंसे उत्पन्न पाँचों विकारोंका श्रीरामजी हरण करते हैं।

सतपंच···उर धरैं—भाव यह कि अन्तिम एक सौ पाँच चौपाइयोंको धारण करनेकी पृथक् फलश्रुति है। सम्पूर्ण ग्रन्थको धारण करनेमें जो असमर्थ हैं उनके लिये इसका विधान है। चौपाइयाँ भी मनोहर हैं, धारण करनेमें कोई असुविधा भी नहीं है। बात इतनी ही है कि तोतेकी तरह धारण न करे, जानकर (समझकर) धारण करनेसे ही कथित फल होगा।

दारुन अबिद्या···हरैं—भाव यह कि इन १०५ चौपाइयोंको जानकर केवल धारण कर लेना साधकका काम है, उसकी पञ्चपर्वा अविद्याका हरण स्वयं रघुवर करेंगे। पूरे ग्रन्थका गान करनेका फल रामधामप्राप्ति, और शतपञ्च चौपाई ग्रन्थको धारण करनेका फल अविद्याका नाश है, और अविद्यानिशाका नाश तथा रामप्रतापसूर्यका उदय दो वस्तुएँ नहीं हैं। निशा समाप्त ही नहीं होती, जबतक सूर्योदय नहीं होता और जबतक निशा समाप्त न हो तबतक सूर्योदय भी नहीं होता। फलतः शतपञ्च चौपाई ग्रन्थको हृदयमें धारण करनेसे अविद्या-निशा नष्ट होती है, और रामप्रतापरूपी सूर्यका उदय होता है। रामधामकी प्राप्ति तो

मरनेके बाद होगी, और जीते ही रामप्रतापरूपी दिनेशका उदय होनेसे रामराज्यका सुख करतलगत हो जाता है, यथा—

जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहु लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतेन्ह मन सोका॥
जिन्हहि सोक ते कहौं बखानी। प्रथम अविद्या निसा नसानी॥
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने॥
बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ। ए चकोर सुख लहैं न काऊ॥
मत्सर मान मोह मद चोरा। इनकर हुनर न कवनेउ ओरा॥
धरम तडाग ग्यान बिग्याना। ए पंकज बिकसे बिधि नाना॥
सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ए कोक अनेका॥

यह प्रताप रबि जाके उर जब करै प्रकास।
पिछले बाढ़हि प्रथम जे कहे ते पावहिं नास॥

सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथपर कर प्रीति जो।
सो एक राम अकामहित निर्वानप्रद सम आनको॥
जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसी दासहू।
पायो परम बिश्रामु* राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

मो सम दीन न दीन हित तुम समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंस मनि हरहु बिषम भव भीर॥
कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने
शतपञ्चचौपाई समाप्ता।

* पूर्वघाटका श्रोता गोस्वामीजीका मन भी कृतकृत्य हुआ।